श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

# सरल आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवक्ता:—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

सपादक—
पवन कुमार जैन
दुर्गाबाडी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

प्रकाशक:—
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण १०००
सन् १९७८

लागत बिना जिल्द ६)२५ रु०
जिल्दका पृथक् १)५० रु०

## सहजानन्द-साहित्य-उद्घोष

वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, द्रव्यपर्यायात्मक है। अतः स्याद्वाद द्वारा समस्त विवाद विरोध समाप्त कर वस्तुका पूर्ण परिचय कीजिए और आत्मकल्याणके अनुरूप नयोको गौण

# सम्पादकीय

प्रिय अध्यात्मप्रेमी बन्धुवर !

यह जीव अनादिकालसे इस संसारमे परिभ्रमण करता हुआ जन्म और मरणके दुःख उठा रहा है और इस जीवने अनेकों बार मनुष्यभव प्राप्त करके जैनधर्मरूपी अमृतका पान भी किया, परन्तु फिर भी संसारके दुःखोंसे सदाके लिये न छूट सका। इसका क्या कारण है ? विचार करनेपर उत्तर मिलेगा अध्यात्मसे अरुचि। अध्यात्मके प्रति अरुचि होनेसे ही हम आप सबकी यह दशा हुई है। सो अध्यात्मके प्रति रुचि जागृत करनेके लिये परमपूज्य गुरुदेव अध्यात्मयोगी, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ श्री मनोहर जी वर्णी 'श्रीमत्सहजानन्द महाराज' ने हमारे ऊपर महान् कृपा की है जो अत्यन्त सरल, सुबोध एवं सबकी समझमें आने वाली शैलीमें अध्यात्मसम्बधी अनेक विषयोपर प्रवचन किया उन प्रवचनोको संकलित करके ग्रथके रूपमे श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठने प्रकाशित किया है।

इस ग्रथमे जो प्रवचन हैं उनको पढ़कर सहज ही आत्मस्वरूपका अनुभव होने लगता है। प्रवचनोको प्रत्येक पैराग्राफके प्रारम्भमे शीर्षक देनेसे प्रवचनोको और रोचक व सुबोध बना दिया है।

यह ग्रन्थ मुमुक्षु जनोको मोक्षमार्गकी ओर अग्रसर होनेमे ज्ञान दीपका कार्य करेगा ऐसी मुझे आशा है।

—पवन कुमार जैन

❋ मंगल-तन्त्र ❋

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि।

मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूपमे अन्यका प्रवेश नही अतः निर्भार हूं।

मैं ज्ञानघन हू, मेरे स्वरूपमे अपूर्णता नही, अतः कृतार्थ हूं।

मैं सहज आनंदमय हूं, मेरे स्वरूपमे कष्ट नही, अतः स्वयं तृप्त हूं।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि।

# आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

[ धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों मे भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोतावो द्वारा सामूहिक रूपमे
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रो द्वारा
४—सूर्योदयमे एक घंटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा

# सरल आध्यात्मिक प्रवचन

रचयिता— अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ गुरुवर्य्य
पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

(१) दार्शनिकोंको मन्तव्यप्रकाशनमें एक मूल अव्यक्त प्रेरणा—जब यह आत्मा परभावसे हट कर सहजस्वभावमे उपयोग लगाता है तब लोकके जितने उपद्रव हैं, जितने संकट हैं, जितनी मलिनतायें है, वे सब यहांसे हट जाती है। अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करना, यही एक हमारी विभूति है, समृद्धि है। जिसका फल क्या है? सत्य शाश्वत सहज आनन्दकी उपलब्धि। मैं एक ज्ञानमात्र हूं, ऐसा अनुभव करनेके लिए अपने ज्ञानमें केवल एक जाननस्वरूप ही रखा जाय। जैसे हम बाहरी पदार्थोंको देखते है—यह मनुष्य है, यह पशु है, यह चौकी है, यह पुस्तक है, ये जो ज्ञेय हुए, तो क्या यो ज्ञेय ज्ञानस्वरूप नही हो सकता है? अवश्य हो सकता है। बाह्य ज्ञेय कही बना करता, यो तो समझ ही रहे है, तो समझिये—जो बाह्यका ज्ञान कराये वही ज्ञानमात्रका अनुभव करानेमे भी समर्थ है। यद्यपि ज्ञान में ऐसी कला स्वयमेव है कि वह परका भी प्रकाश करे और स्वका भी प्रकाश करे। जैसे दीपकमें एक यह कला है कि वह परको भी प्रकाशित करे और स्वयं भी प्रकाशित होवे, इसी प्रकार ज्ञानमे भी एक यह कला है कि वह परका भी प्रकाश करे और स्वका भी प्रकाश करे। जिसे दार्शनिकोने भो स्वीकार किया है। यह एक न्यायदृष्टिकी बात कही जा रही है। दार्शनिक शास्त्रोमे ज्ञानका लक्षण बताया है—स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं, प्रमाणम्। ज्ञान स्व और अपूर्व अर्थका निश्चायक होता है। वैसे तो भैया! सभी दार्शनिकोने एक इस स्वकी महिमाके लिए, स्वके कल्याणके लिए पौरुष किया है। मूलतः किसी भी दार्शनिकने अभिप्रायतः त्रुटि नही किया है। भले ही उनके शिष्योने आज कुछ और ही रूपक रख दिया हो, लेकिन जो मूल दार्शनिक थे उन्होने अपनी बुद्धिके अनुसार ईमानदारी ही बर्ती। फर्क यह हो गया कि जिस दृष्टिसे वहा उसीका समर्थन रहा और उसे लोग समझ

नही सके।

(२) **दार्शनिकोंके मूलभावका एक घटनामें चित्रण**—जैसे कल्पना करो कि एक जंगलमे बहुतसे साधु बैठे हैं, उनमे एक प्रमुख आचार्य स्याद्वादकी विधिसे उपदेश कर रहे है। तो उपदेशकी विधि यह है कि स्थूलसे उठाकर सूक्ष्ममे ले जाना और सूक्ष्मसे उठा कर स्थूलमे ले जाना। किन्तु सत् प्रयोग प्रारम्भ होता है तो वह स्थूलको लेकर होता है, फिर उसके माध्यमसे सूक्ष्मतत्त्व गिना जाता है। तो स्याद्वादकी विधिसे लोगोंको उपदेश दिया जा रहा था। जीव नित्य है, अनित्य है, एक है, अनेक है। नयदृष्टिसे सब बातें ठीक बैठती हैं। वे साधु और भी वर्णन कर रहे थे—पदार्थ तो नित्यानित्यात्मक है और उसके गुणोका वर्णन किया कि उसमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक अनेक गुण है। फिर गुण मायने क्या? व्यवहार। गुणका अर्थ है? जिसके द्वारा द्रव्यका भेद कर दिया जाय उसे गुण कहते हैं। द्रव्य तो एक अखण्ड है, अरूप है, मगर उसका भेद किया गुणोने। कल्पनाने भेद किया है। लेकिन पर्यायका द्रव्यके साथ सामञ्जस्य यो नही कि द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य है। द्रव्यका गुणोसे सामञ्जस्य है, क्योकि द्रव्य व गुण नित्य हैं और गुणोने किया भेद। तो यह भेद गुणोंके समीपका भेद है। ऐसा एक निश्चय अखण्ड तत्त्वपर विवेचन हो रहा था। मैं ज्ञानस्वरूप हू, जानता हू—स्वको जानता हूं, परको जानता हूं, इसकी अपेक्षा स्वको जानता हू यह है निश्चय और स्वको जानता हू, इसकी अपेक्षा जानता हू, यह है निश्चय। स्वको जानता हू यह व्यवहार। जानता हू क्या? स्वयं परिणाम रहा हू। इसमे जानना क्या? यो आन्तरिक तत्त्वका वर्णन किया जा रहा था। होते होते, सुनते सुनते अनेक संन्यासियोंने यह तत्त्व ग्रहण किया कि ठीक है। शून्य है। ज्ञान है यह एक अलग बात है। सभी बातें एक व्यवहार की हैं। होते-होते एक यह बात नजर आयी, कि शून्य ही तत्त्व है। उन दार्शनिकोने कोई भेद नही रखा, किन्तु उन्होने आग्रह कर दिया कि शून्य है। कुछ सन्यासियोने सोचा कि शून्य है तो वह भी कुछ तत्त्व है, अद्वैत है तो वह सर्वात्मक है चैतन्यात्मक है, आनन्दात्मक है, ज्ञानात्मक है। फिर सोचा कि इसका स्वरूप ही क्या है? अगर एक चैतन्यात्मकके अतिरिक्त कुछ है नही तो चेतनेकी बात कैसे बनेगी? द्वैत पर आये चेतन अचेतन। किसीने कहा कि नित्य है, किसीने कहा कि अनित्य है। किसी ने कहा कि एक है, किसी ने कहा अनेक है। किसी ने कहा परिणामी है, किसी ने कहा अपरिणामी है। परिणामीका एकान्त बना तो ऐसा बना कि वह तो कूटस्थ नित्य है। कूटस्थ नित्यका अर्थ क्या है? जैसे देखा होगा कि किसी लुहारकी दुकानपर एक धौकनी होती है, एक निहाई होती है, चिमटा होता है, हथौडा होता है। तेज गर्म लोहा पीटनेके लिए उस निहाई

पर लोहा रखा जाता है, उसे चीमटेसे पकड़ा जाता है, उसको हथौडेसे पीटा जाता है, ये सब चीजे होते हुए भी, अन्य सब लोहोके चल विचल होनेपर भी निहाई ज्योकी त्यो स्थिर रहती है। तो यही हुआ कूटस्थ। तो कुछ संन्यासियोने देखा कि पदार्थ क्षण-क्षणमें नया नया होता है, एक नही रहता। वैशेषिक कहते है कि पदार्थ ७ है—द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। उनके कथनमे भी जान है। पदार्थ है। सामान्यका स्वरूप न्यारा, विशेषका स्वरूप न्यारा, यह भी पदार्थ है। जैसे एक चित्र वनता है गणेश जीका और उसका वाहन है चूहा। ऊपर सूढ फिट है वह क्या है? वह एक स्याद्वादका चित्र है, भेद और अभेद इन दोका समन्वय है। अभेद हो तो ऐसा हो कि जैसे गणेशके मुखमे हाथीकी सूढ फिट हो गई, एकमेक हो गयी। भेद हो तो ऐसा हो कि जैसे चूहा भेद करता है। अभी कोई चूहा किसी कपडेकी दूकानमे या किसी कागजकी दूकानमें बैठ जाय तो वह किस तरहके छोटे-छोटे टुकड़े कर डालता है? तो यह चित्र भेद और अभेदका सूचक है। यह एक अलंकार है भेद और अभेदका बताने वाला।

(३) **स्याद्वादकी अव्यक्तरूपसे भी संतोषकारिता**—देखो दार्शनिकोको प्रोत्साहन इस तरह भी मिला कि यह स्याद्वादका बहुत कुछ निर्णय बनाकर एक अन्तस्तत्त्व तक ले जाता है। लक्ष्यभूत तत्त्व तो एक सहज ध्रुव ज्ञायक भाव लिया है ना, यही बात सब दार्शनिकोने कही, लेकिन भेदनय अभेदनयकी भूलसे थोडा अन्तर हो गया है। पहिले सबकी एक यही इच्छा हुई थी कि मैं एक अवक्तव्य, अखण्ड, शुद्ध चैतन्य स्वरूपको दृष्टिमे लूं, पर उसे दृष्टिमें न ले सके। यहाँ हम आप भी ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वको दृष्टिमे लेते है, मगर व्यवहार बिना, भेद किए बिना गुणभेद बिना, पर्यायभेद बिना हम उसपर न पहुंच सकेंगे, इसलिए तीर्थ प्रवृत्तिके लिए ये सब उपदेश है। देखो पर्याय बिना गुणकी पहिचान नही हो सकती। कहते है ना, जानना, विश्वास लाना, मग्न होना या पर्यायें देखते है नीली, लाल, सफेद आदि। इस पर्यायमुखेन हम गुणोको समझ जाते है। और गुणमुखेन द्रव्यको समझ जाते हैं, गुणोको समझे बिना द्रव्य नही समझा जा सकता। पर्यायोके आधारभूत जो रूप, रस, गंध, स्पर्शादि शक्तियाँ हैं उनका अभेद पुद्गलद्रव्य है। आखिर अन्तमे पहुंचना कहाँ है? एक अखण्ड ज्ञानमात्र तत्त्व तक। ऐसा ज्ञानमात्र तत्त्व किस तरह इस समय परिणम रहा है? नानारूप परिणम रहा है, लेकिन न्यायकी कसौटीपर कस कर देखिये तो कषायोकी कालिमा यहाँ दृष्टिगोचर होती है। कषायें होती है, पर एक ओर देखते है तो एक चित् चैतन्यभाव प्रकाशमान हो रहा है। देखो दृष्टिमे दोनो तत्त्व आते है, ज्ञानमे दोनो तत्त्व, आते है—अशुद्ध तत्त्व, शुद्ध तत्त्व, मगर एक शुद्ध तत्त्व की अनवच्छिन्न धारासे, निरंतर स्थिरतासे एक शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है और एक

अशुद्ध तत्त्वको दृष्टिमें लिया जानेसे एक अशुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है। देखिये स्वाद किसका आता है ? जो चीज दृष्टिमें होती है बस उसीका स्वाद आता है। जहां पर जो बात है वहा पर उसका स्वाद है। एक बार सभामे अकबर बादशाहने बीरबलको नीचा दिखा के लिए कहा कि बीरबल–आज रातको हमे एक ऐसा स्वप्न आया कि हम तुम दोनो एक साथ जगल घूमने जा रहे थे, एक जगह रास्तेमे दो गड्ढे थे, एकमे शक्कर भरी थी और एकमे गोबर, तो हम तो गिर गए शक्करके गड्ढेमे और तुम गिर गए गोबर विष्टाके गड्ढेमे। तो बीरबल ने कहा—महाराज! हमने भी ऐसा ही स्वप्न देखा, हम गिर गये गोबरके गड्ढामे और आप गिर गये शक्करके गड्ढामे, हमने भी ऐसा ही स्वप्न देखा, मगर उससे आगे थोड़ा और भी देखा कि हम आपको चाट रहे थे और आप हमें चाट रहे थे। देखिये—शक्करके गड्ढेमे गिरकर भी अकबर बादशाहने गोबर विष्टाका स्वाद लिया और बीरबलने गोबर विष्टा के गड्ढेमे गिरकर भी स्वाद लिया शक्करका। तो जो चीज जिस समय जिसकी दृष्टिमे होती है उस समय वह उसका स्वाद लेता है। अभी आप जो गृहस्थीमे पडे हुए है तो गृहस्थीके बीच रहकर भी अगर मदकषाय होकर सबमे समता धारण करके अगर अपने लक्ष्यमे एक निजशुद्ध सहज स्वभावको अपनी दृष्टिमे रखेंगे तो स्वाद आयगा शुद्ध आत्मतत्त्वका, और अगर इन्द्रिय का व्यापार हुआ, बाहरकी अनेक बातोमे उपयोग हुआ, उनमें लगाव हुआ, रागद्वेष उत्पन्न हुआ तो स्वाद आयगा कषायोका, आकुलताओका।

(४) **साम्यका अनुशासन**—भैया! पुन सोचो, क्या कर्तव्य है हम आपको करनेका ? पहिली बात, पहिली साधना तो यह करनी पडेगी कि सब जीवोमे हमारा समताका परिणाम हो। कहनेके लिए तो यह एक छोटोसी बात है—सब जीवोमे समता हो। मगर देखिये तो सही कि अपने आपके भीतर समता आयो कि नही, घरमे समता आयी कि नही। यह चर्चा तो सीखनेके लिए है। हमारा जो व्यवहार प्रसंग है, हम जिनके बीच रहते हैं उसमे समता रहती कि नही। इस समताभावसे फायदा अपने आपको है। अगर सबके प्रति समताका भाव होगा तो हम अपने इस भीतरी कामको कर सकनेमे समर्थ हो जायेंगे, और अगर हम समताका भाव न रख पायेंगे तो फिर अपने आपके इस विशुद्ध लक्ष्यको प्राप्त करनेमे समर्थ न हो पायेगे। क्योकि इस शुद्धतत्त्वकी दृष्टिमे विघ्न डालने वाला है अशुद्ध तत्त्वका दर्शन और विपमता अशुद्ध तत्त्व है। जो होता है सो होने दो। होता स्वय जगत परिणाम हम किसीका क्या कर सकेंगे ? सांसारिक बातें जितनी होती है वे सब स्वयमेव होती हैं। हम किसीका कुछ करनेमे समर्थ नही। बहुत स्पष्ट है कि जो जीव सुख पाता है, दु:ख पाता है वह अपने कर्मोदयसे पाता है। उसको हम कर नही सकते। सब कुछ अपने आप हो रहा है ऐसे हो, मगर ऐसी हठ क्यो ? और अपने लिए हठ क्यो नही कि मेरा जो सत्यस्वरूप है

उसमे ही मेरी दृष्टि रहे, अन्य कुछ चाहिये नही। जैसे जाडे के दिनोमे एक तालाबके किनारे किसी टीलेपर कुछ बालक बैठे हुए है। ठंडकी वजहसे पानीमे कूदनेकी किसी बालकको हिम्मत नही पडती। अगर कोई बालक हिम्मत करके तालाबमे कूद पडे तो बस सारा जाड़ा खत्म। ठीक इसी प्रकार अपने आपके इस सहज ज्ञानस्वरूप जाननमात्र आत्मतत्त्वमें अगर हम समा जायें तो बस सारे संकट समाप्त। संकट ही दूर करना है तो इस विधिसे करें, मात्र बाह्य विधिसे संकट दूर नही होगे। तो इसकी इस धारामे, इस शुद्ध तत्वके जाननेकी धारा हमारे जितनी देर बने उतनी देर कायम रहे। बाह्यमे शत्रुता मित्रताका भाव न रहे। कोई मेरा शत्रु नही, कोई मेरा मित्र नही, कोई सुख दुःख देता नही। यह सब अपने-अपने कर्मोदयसे होता है। उसमे हम कुछ कर नही सकते।

(५) उदाहरणपूर्वक जीवोके अपारतन्त्र्यका समर्थन—एक जोसी था। वह प्रतिदिन इधर उधरसे भीख मांग कर लाता था, उससे अपने बच्चोका पालन पोषण करता था। उसको प्रतिदिन उतनी भीख मिल जाती थी जितना कि दिन भरमे बच्चे लोग खा जाते थे। बचता कुछ नही था। एक दिन भीख मांगते हुएमे उसे एक साधु मिला। साधुने कहा—भाई क्या कर रहे हो? ···· महाराज भीख मांग रहा हूं। ··· क्यो भीख मांगते हो? ··· और क्या करें? अगर भीख नही मांगेगे तो फिर बच्चे लोग कैसे पेट भरेगे? ··· तो क्या इन बच्चोको तुम्ही पालते पोसते हो? ··· हां महाराज! हम नही पालते पोषते तो फिर कौन पालता पोषता है? तुम झूठ कहते हो। चलो हमारे साथ। इन बच्चोको छोड़ दो। फिर देखो वे स्वयमेव पलते पुषते है कि नही। वह था भक्त, सो साधुके साथ चल दिया। करीब १५ दिन तक साधुके साथ रहनेके लिए वायदा कर लिया। इधर जोसीके घरमे क्या हुआ कि जब वह घर न गया तो घरमे सभी बच्चे लोग बहुत दुःखी हुए, उस दिन भूखे ही रह गए। अब किसी मस्खरेने यह भी कह दिया कि उसे तो एक तेंदुआ खा गया। सो घर में रोना पिटना चालू हो गया। पडोसी जुडे। सभी पडोसियोने समझाया कि तुम घबड़ाओ मत, हम लोग तुम्हारी मदद करेंगे। जिसके पास कपडेकी दुकान है वह कपड़े देगा, जिसके पास जिस चीजकी दुकान है वह उस चीजको दे देगा। आखिर हुआ वैसा ही। अब क्या था? वे सभी बच्चे लोग खूब अच्छा खाते पहिनते। नये नये कपड़े पहिनते, रोज पूड़ी कचौड़ी बनाते खाते। अब उधर १५ दिन बाद जोसीने कहा– महाराज अब हमे घर जानेकी आज्ञा दीजिए। जाकर देखें कि कौन मरा, कौन जिया। साधुने कहा—बेटा छुपकर घर जाना। सीधे यो ही घरमे न घुस जाना, छिपकर जाना। आखिर जोसी घरके पीछेकी दीवालसे ऊपर चढ गया और छतसे क्या देखता है कि घरमे तो एक नया परिवर्तन हो गया है।

सभी बच्चे लोग नये-नये कपडे पहिने है, खूब पूडी कचौडी बनाकर खायी जा रही है। सभी बच्चे लोग उतने प्रसन्न दीख रहे थे जैसा कि जीवनमे कभी नही देखा था। यह सब देखकर मारे खुशीके उछलकर आँगनमे कूद गया। बच्चे लोगोने उसे आँगनमे देखकर सोचा कि वह तो मर गया था, यह तो भूत मालूम होता है सो सभी बच्चोने उसे लूगर, ढेला, पत्थर आदि मार मारकर भगा दिया। वह बेचारा जोसी किसी तरह प्राण बचाकर साधुके पास पहुचा। साधुसे सारा हाल कह सुनाया। साधुने कहा देखो—हम कह रहे थे ना कि कोई किसीको नही पालता पोषता। अरे जब वे स्वय मौजमे है तो फिर तुम्हारी क्यों परवाह करें ? तो अपने आपपर कुछ दया करके अपने अन्दरसे यह बात निकाल देनी चाहिए कि मैं किसीका पालन पोषण करता हू। अरे घरमे सभी लोग हैं, वे सब अपने अपने कर्मानुसार अपना काम कर रहे है। जिन बच्चोकी परवाह बाप करता है वे बच्चे उस बापसे अधिक भाग्यशाली है, तभी तो बाप उन बच्चोका नौकर बना फिरता है। लोग व्यर्थ ही दूसरोकी चिन्ता करते है। अपने आपकी कुछ भी फिकर नही करते।

(६) **अपना वास्तविक कर्तव्य**—अब हम आपको क्या करना चाहिए ? अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करना चाहिए। बस इसमे करने योग्य सब कुछ आ गया। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान—भेद विवक्षासे द्रव्य एक है, परिणति एक है। भेदविवक्षामे गुण पर्याय समझा जाता है। यह सब समझाना तथ्यके अनुकूल है, तो ज्ञानमात्र अनुभव करनेमे ये सब चीजें आ जायेगी। ज्ञानमात्र अपनेको अनुभव करो। मैं खण्डेलवाल हू, व्यापारी हू, सर्विस करने वाला हू, दादा हू, बाबा हू आदिक रूप अपनेको अनुभव न करो। जो अपनेको जैसा अनुभव करेगा वह उस ढगका व्यवहार करेगा। अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करो, जिससे इस ही श्रद्धाका उचित व्यवहार हो। तो एक ही काम है आप सबको करनेका। अपने आपको ऐसा अनुभव करें कि मैं सबसे निराला, आकाशकी तरह अमूर्त ज्ञानमात्र हू। हम खुद अपने आप स्वय गडबडी मचाते है। हम करते है बाह्यदृष्टि। उन बाह्य पदार्थोंमे हम करते हैं राग, जिससे हम स्वय लुट जाते है। आपने देखा होगा कि फागुनमे होलीके दिनोमे लोग एक दूसरेपर रग डालते है, तो वे रग क्यो डालते है ? रागी हैं इसलिए डालते है। हम यह सज्जनोंकी नगरीकी बात कह रहे है, अधेर नगरीकी बात नही कह रहे हैं। वहाँ तो अधेर ही है। हम रागी हैं इसलिए सयोग सम्बध ये सब मिले है। हम इस रागके कारण ही वैसा व्यवहार कर रहे हैं और ससारी दु खिया प्राणी बने फिर रहे है।

( ७ ) **शान्तिके अलाभका मूल कारण अज्ञान**—सभी लोगोके सामने यह समस्या है कि शाति कैसे मिले और कष्ट कैसे दूर हो ? लेकिन इस समस्याके सुलझानेके

लिये ज्यों-ज्यो प्रयत्न किये गए त्यों-त्यो समस्या और बढ़ती गई, समस्यायें दुगनी होती गई, पर शान्ति प्राप्त न कर सके। तो शान्ति प्राप्त न होनेका कारण क्या है ? कारण स्पष्ट है कि जो अशान्ति बढानेके कारण हैं उनको ही किया। फिर शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? अशान्तिका कारण है मोह और शान्तिका कारण है ज्ञानरमण। बस उसकी दो बातोको समझ लीजिये। मोहका अर्थ है दो वस्तुओका सम्बंध मानना, ऐसा ज्ञान रहना सो मोह है, जैसे घर मेरा है, परिजन मेरे है, वैभव मेरा है, इज्जत मेरी है, शरीर मेरा—इस प्रकारकी जो श्रद्धा होती है वह मोहभरी श्रद्धा है। कार्यका मोह। कुछ तो ऐसा है कि शरीरके बिना इस वक्त जरा रह न पायेंगे। इसे चाहिये भोजन। थोड़ा इससे राग करना पडता है। ठीक है, राग रहे पर मोह तो न रखो। शरीर मै नही। शरीर निराला है मैं निराला हूं, ज्ञानमात्र हूं। शरीर जड है, उससे नेह न रखें। और बाकी जितने परक्षेत्रमें रहने वाले पदार्थ हैं उनमें मोह राग किया जा रहा है। यह तो निपट अज्ञान है। व्यर्थका मोह है। भला बताओ—घरमे जितने जीव आये है वे क्या पूर्वभवसे साथ आये हैं ? उनके साथ मेरा कुछ सम्बंध है क्या ? मेरी अनुभूति से उनकी अनुभूति बनती है क्या ? कुछ भी तो सम्बंध नही। अरे उनके साथ उनके कर्म लगे है, मेरे साथ मेरे कर्म लगे है। वे अपनी परिणतिसे सुख दुःख पाते हैं, हम अपनी परिणतिसे सुख दुःख पाते है। जरा सम्बंधका कुछ ढंग तो बताओ कि किस तरह आपका सम्बंध है ? कोई अधिकाधिक यह कहेगा कि मैं पिता हूं, वह पुत्र है, मैंने इसे पैदा किया तो भाई गलत है। आपने जीवको पैदा नही किया। जगतमें जितने भी पदार्थ है यह बात अनादिसे हैं, अनन्त काल तक रहेगे। जीव पैदा नही किया जाता। आप यह कहेगे कि चलो जीव तो पैदा नही किया पर शरीर तो पैदा किया। तो शरीरकी बात ऐसी है कि इस जीवने स्वयं वर्गणाये ग्रहण किया। निमित्तनैमित्तिक धारणमें जो व्यवस्था है उसके अनुसार यह बना। इस मे निमित्त माता पिता हुए। जड़ जड़के निमित्त हुए, पर जीवके नही। इस देह जड़से नेह भी कौन करता है ? पुत्र जब मर जाता है तो फिर उसके इस जड़ देहसे कोई नेह नही करता। लोग इसे जला देते है। इस देह जड़के पैदा करनेमें हम निमित्त है। इस जड़ देहसे कान प्रम करता है ? जीवसे किसे प्रेम उत्पन्न होता है ? तो वास्तविक जीवके प्रति कोई प्रेम नही करता। एकमात्र अशुद्धपर्याय इसके प्रति मेरेपनकी दृष्टि लगी है। यह व्यर्थका मोह है। सभी जीव अपने कर्मोसे सुख दुःख पाते हैं। कोई किसीको सुख दुःख देनेमे समर्थ नही। जब प्रत्येक जीवका कर्मोदय अपना-अपना है और उसके उदयमे सुख दुःख पाते है तो यह बात कैसे रही कि मैंने पुत्रको सुखी किया अथवा अमुकको दुःखी किया।

(८) भावकी संभालका संकेत—भैया ! अपने भावको संभालो। कर्तृत्वभावको

हटावो। यह समझो कि किसी परकी परिणतिमे हम निमित्तमात्र है, वे सब अपनी परिणतिसे परिणम रहे हैं। वस्तुकी स्वतन्त्रता निरखो, प्रत्येक वस्तुको निराला देखो। अपने को सबसे निराला दृष्टिमे कीजिए और इस इन्द्रिय व्यापारको बन्द करके अपने आपके ज्ञानप्रकाश का अनुभव कीजिए। यह अनुभूति संक्लेशको मिटाकर शान्ति उत्पन्न करेगी। बात तो इतनी है लेकिन किया जा रहा है मोह। मोहसे ही तो दु:ख उत्पन्न होता और दुःख मेटने के लिए किया जा रहा है मोह। बस जबसे मानव जीवन पाया है तबसे लेकर अब तक यही काम किया। तब ही तो कहते है कि मैंने बहुत-बहुत काम किए। दुकान किया, फर्म खोला, ऐसा मकान बनवाया, इतने लडके पढ़ाया...। भाई तुमने अनेक काम कहाँ किए? कर्ममे कर्तापनका विकल्प किया। एक अज्ञानका काम किया। तो संकटे भी एक अज्ञानभाव से आता है और शान्ति ज्ञानभावसे प्राप्त होती है। तो जब आज तक कोई शान्ति न प्राप्त हो सकी इन उपायोंके करनेसे, तो इतना ठगनेकी बातसे तो मुख मोडो। कोई दूसरा उपाय सोचो जिसमे शान्ति मिल सकती है। कोई समझदार गृहस्थ भी तो ऐसा करते हैं। किसी कामके करनेमे अगर १०-५ साल टोटा ही टोटा बना रहता है, नफाका काम नहीं होता तो वे उस व्यापारको छोड़ देते हैं, कोई दूसरा काम करने लगते हैं। जब अनादि कालसे एक परको निज माननेके व्यवसायमे टोटा ही रहा, अनेक योनियोमे जन्ममरण ही करना पडा तो जरा इस भवमे श्रेष्ठ मनुष्यभव मिला। इसलिए कहा जा रहा है कि अब तो ऐसी अपनी श्रद्धा बना लीजिए कि इस मोहमे शान्ति नही हो सकती। यह सब व्यर्थका मोह है। जैसे सम्बन्धमयी बातमे अडकर रहना—मेरा तो यह ही है, जो है सो मेरा लडका ही है, इतना विकल्प कर रहे कि जो भी परिश्रम करेंगे घन कमायेंगे, जो भी करेंगे वह सब उनके लिए है खुदके लिए भी कुछ करना है इसकी चिता नही। जो भी कमायेंगे सो इन बच्चोके लिए, दूसरोंके लिए। अपने आपपर दया कभी नही किया। भावमय ही तो आत्मा है। भावके सभालनेसे सब सभल जायगा। भाव सभल गया तो सब कुछ संभल गया। भाव नही सभला तो कुछ नही संभला। एकहि साधे सब सधै। अगर एक शुद्ध आत्मा दृष्टिगत हो जाय तो समझो सब कुछ संभल गया। शान्ति ही तो चाहिये। शान्ति इस उपायसे मिलती ही है, मगर सन्देह रखने वालोंके लिए करें क्या? जिससे शान्ति मिलती है उससे मुख क्यों मोडना?

(९) **दुर्लभ मानवजीवनकी उपयोगिता**—यह जीवन बडा दुर्लभ मिला है इसमे अगर हम आत्मसाधनाका काम बना लें तो समझो सर्व सिद्धियाँ पा ली। सकटोसे सदाके लिए आप छूट गए। और एक इस भवको ही खो दिया तो समझ लीजिए कि मैंने इतनी

बरबादीका काम कर लिया कि बहुत काल तक भी सुलझनेका मौका न आयगा । तो अपने आपके ज्ञानके लिए, अपने आपके रमणके लिए जितना हो सके उतना पौरुष कीजिए । वह पौरुष है ज्ञानार्जन । आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप आत्मामें ज्ञानद्वारा ज्ञानरमण करनेका नाम स्वरूपाचरण है । तो ऐसे स्वरूपाचरणमे भी समाधिभाव होता है और ऐसे स्वरूपाचरणमे भी कर्मोंके काटनेकी विधियाँ होती है । तो उस स्वरूपाचरणके पानेका उपाय क्या है ? और उस स्वरूपाचरणमे होता क्या है ? तो पहिले उपायोपर दृष्टि दीजिए । स्वरूपाचरण है एक अपने निज आत्माके अंतरंगका काम, याने ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपका समाते रहना स्वरूपाचरण है । तो इन कामोको करनेमें कोई दूसरी शक्ति समर्थ नही है । किसी परपदार्थका इसमे दखल नही है । यह स्वयं आत्मा ज्ञानद्वारा ही ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें ले, यह काम पड़ा है । तो इसके करनेमे समर्थ ज्ञान ही है, इस ही ज्ञानका नाम प्रज्ञा है । तो जैसे दो चीजें मिली हुई है उनको हटाने के लिए छेनी हथौड़ा आदिककी जरूरत होती है । तो यहा स्वभाव और विभाव दो मिले हुए है, मिले हुए नही है, किन्तु स्वभाव तो अनादि अनन्त है, और उसपर विभावोका आक्रमण होता है, तो ऐसे स्वभाव विभावका भेदन करनेका काम सबसे पहिले होता है तब स्वरूपाचरण हुआ करता है । तो भेदनेके लिए ज्ञानकी ही छेनी है, ज्ञानका ही हथौडा है, ज्ञानकी ही चोट है । ज्ञान द्वारा स्वभाव विभावका भेदन होता है, इसे कहते हैं परम पैनी छेनी । इसे अन्दरमे डाल दिया, इससे भेद कर दिया कि यह स्वभाव है, यह विभाव है । भेद कहाँ करना है ? विभावका स्वलक्षण और स्वभावका स्वलक्षण । इनकी सधि बनी है तब ही संसार चल रहा है याने स्वभाव विभावकी संधि हो गयी, अत्यन्त निकट हो गए, इस सधिके बीचमे प्रज्ञा छेनी पटकना पड़ना है जिससे यह लिया हुआ स्वरूप निराला हो जाय और अपना लिया हुआ स्वभाव निराला हो जाय । यह निराला होगा ज्ञानद्वारा । तो इस तरह वर्णादिक तो बहुत स्थूल भाव हैं, उनसे भी निराला किया और रागादिक भावसे भी निराला किया । उस समय होता क्या है ? जैसे प्रज्ञा-छेनी के द्वारा भेद न किया ऐसे ही प्रज्ञाके द्वारा अपने आपका ग्रहण कर लिया । उस समय ज्ञान द्वारा ज्ञानमे ज्ञानको पा लिया । तो इसे कहते है निजके निजके कारणसे निजके द्वारा निजको ग्रहण कर लिया गया । उस समयकी जो स्थिति होती है वह निर्विकल्प होती है । इतना निर्विकल्प होता है कि वहाँ आत्मतत्त्वके सम्बन्धमे विचार ही नही चलता । पहिले तो यह विचार चलता था कि आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है । इस तरहसे भेद करके विचार चलते-चलते, किन्तु इस विचारका भी अब वहाँ अवकाश नही है । वहाँ तो गुण गुणीमे अन्तर न रहा । ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयमे अन्तर न रहा । इतने बड़े विचारका वहाँ

अवकाश ही नही है। जहाँ स्वरूपाचरणका अनुभवरूप प्रग   हो रहा है वहाँ इतना भी अवकाश नही है कि यह ज्ञाता है यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है। ज्ञानसे जाना गया वह ज्ञेय है, ज्ञानने जाना वही ज्ञेय है। इस तरह ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयका भी भेद नही रहता। इससे भी स्थूल बात थी—ध्यान, ध्याता, ध्येय। यह टिकेगा कहाँ ? जहाँ ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयका विकल्प न रहे। ज्ञान मायने जो ज्ञान किया। ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयका जहाँ भेद न रहा वहाँ ध्यान ध्याता ध्येयका तो भेद ही नही रहता। ध्यान, ध्याता ध्येयका भेद करना तो कुछ और स्थूल भेद है। इसके साथ ही एक सूक्ष्म बात यह देखनी है कि वहाँ कर्ता कर्म क्रियाका भी भेद न रहा। भेददृष्टिसे निरखा जा रहा था कि यह पदार्थ कर्ता है, इसको किया और यह मेरी क्रिया है। ऐसा परद्रव्यका परद्रव्यमे तो बहुत जल्दी लोगोकी समझमे आता है। लेकिन परद्रव्य परका कर्ता होता ही नही है। स्वमे देखना है कर्ता कर्म क्रिया—यह आत्मा कर्ता है और चैतन्यभाव यह किया गया है और चैतन्य परिणतिसे किया गया है, लेकिन जब स्वरूपाचरण आदिककी उत्कृष्टतामे एक अनुभूति दशा जगती है उस समय कर्ता कर्म क्रियाका भेद नही है और परिणाम रहता है। तो वहां चित्भात्र तो कर्म है और दशायें रचा करता है और चेतना क्रिया है, यह भी वहाँ भेद नही रहता। ये ३ बातें अभिन्न हो जाती हैं।

(१०) **स्वरूपाचरणानुभूतिमे साधककी आखिन्नता**—स्वरूपाचरणके समयकी जो दशा है वह खेदरहित होती है। वहा आकुलता नही रहती, इसे कहते हैं—राग त्यागि पहुँचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ? यह दशा हो जाती है। यह अपने धाममे ऐसी बात करता है जहाँ राग सम्बधी कुछ भी विकल्प नही है, जो कि धर्ममार्गमे विचारके माध्यम से भी उठता था। उससे रहित होनेसे अब यहाँ आकुलताका कोई काम नही रह गया है। इस समयकी जो दशा है वह है उपयोगकी निश्चलता। इस ज्ञानने जाना। किसे ? स्थायी भावको। चैतन्यभाव एक स्थायीभाव है। स्थायीभावको स्थायीपरिणतिने जाना तो मगर स्थायीभावको जाननेके कारण स्थायीपनेको प्राप्त हो गया। इस तरह वहाँ निश्चल अवस्था होती है। तो जहाँ भेद न रहा, उपयोगकी निश्चल दशा [illegible]ट हुई है वहाँपर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र—ये तीनो एक रूपसे शोभायमान होते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र—ये भिन्न-भिन्न चीजें नही हैं। जब गुणभेद ही नही है आत्मा में तो उन गुणोके स्वभावपर्यायका भी भेद कैसे होगा ? चीज है एक, और जब शुद्ध होती है तो वह एक परिणमन है। तो जिस परिणतिके द्वारा श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुणका अन्तर कर दिया गया था, तो उस ही भेददृष्टिसे यह समझा जाता है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र, ये तीन स्वभावपर्यायें होती हैं। लेकिन तीन कहा हैं ? वस्तु एक अखण्ड है, तो

परिणमन भी एक अखण्ड है। उस समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनो एक ही प्रकारसे शोभायमान होते है।

( ११ ) **स्वरूपाचरणानुभवमें प्रमाण नय निक्षेपका भी अनुद्योत**—स्वरूपाचरणकी अनुभूतिके समय प्रमाण, नय, निक्षेपका प्रमाण अनुभवमें नही रहता, इस बातको समझनेके लिए एक अध्यात्म पद्धतिपर आयें। आत्मवस्तु एक अवक्तव्य अखण्ड है जिसे ज्ञायकस्वभाव के रूपमे कहा है। अब उस ज्ञायकस्वभाव अतस्तत्त्वके ९ भेद बताये गए है। लोगोको समझने के लिए इस ज्ञानस्वरूपकी परख ये लौकिक जन कैसे करें ? जीव, अजीव, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, ये ९ तत्त्व अभूतार्थ कहे गए हैं, अर्थात् जब हम भूतार्थ पद्धति से इन ९ तत्त्वोको देखने चलते हैं तो यह अभूतार्थ हो जाता है। वहाँ ज्ञायक स्वरूपमात्र ही एक ज्ञानमें रहता है। यह किस तरह ? ये जो ९ भेद हैं यह है ज्ञायकस्वभाव। अंतस्तत्त्व को समझानेके लिए एक पर्यायका वर्णन है, भेदका वर्णन है। तो इस भेदको जब हम भूतार्थ पद्धतिसे देखते है, भूतार्थका अर्थ है—ये ९ पद कहांसे आये ? अपने आप तो कोई पद है नही। इन ९ पदोका कोई स्रोत है, जिसके विवरण करके ९ पद दिखाये गए हैं। इसका स्रोत है एक अतस्तत्त्व। भूतार्थपद्धतिसे जब इन ९ तत्त्वोको परखने चले तो वहाँ ९ तत्व नही रहे, वह है एक ज्ञायकस्वभाव। यह ज्ञायकस्वभाव अभी दृष्टिमे तो है भूतार्थपद्धति मे, मगर दृष्टिमे रहते रहते यह ज्ञायकस्वभाव दृष्टिमे नही रहता है, किन्तु एक ज्ञानस्वभाव हो जाता है। ऐसी स्थितिमे ९ पदार्थोंका भी उपदेश नही रहता। इसी प्रकार देखो कि प्रमाणकी चीज क्या है ? ज्ञानका हो एक पर्याय प्रमाण है, कोई परोक्ष प्रमाण है और कोई प्रत्यक्ष। जब भेददृष्टि करते है तब ही प्रमाणका स्वरूप सामने रहता है, किंतु जब भूतार्थपद्धतिसे देखने चले इस प्रमाणको तो प्रमाणका स्रोत क्या है ? प्रमाण तो परिणति है। प्रमाणका स्रोत है एक ज्ञानस्वभाव। अब ज्ञानस्वभाव स्रोत दृष्टिमे रहा, प्रमाण अभूतार्थ रहा। यह ज्ञानस्वभाव भी दृष्टिमे न रहा, एक परिणमन रहा। इसी प्रकार नय भी एक वस्तु है। ज्ञानका जो परिणमन है, अशरूप जो जानन है उसका नाम नय है, तो नय भी अभूतार्थ है। जब अभूतार्थ पद्धतिसे देखा तो यह नय क्या है ? ज्ञानके अश। लो ज्ञान मुख्य हो गया अश गौण। अभी तो दृष्टिमे रहा तब तक विकल्प है और दृष्टिमे ज्ञान जब रहता है तो उसका प्रभाव ऐसा होता है कि यह ज्ञान है, ज्ञानस्वभाव है, यह विकल्प भी समाप्त हो जाता है। उस समय होता है ज्ञानपरिणमन। उस स्थितिमे नयका भी उद्योत नही रहता। इसी प्रकार नय भी क्या चीज है ? ज्ञानकी ही परिणतिका नाम ध्यान स्थापन करना। भेद पर्यायकी बातको वर्तमानमे कहना—यह सब क्या है ? ज्ञानकी ही तो कला है। इसे जब भूतार्थविधिसे देखते है तो यह

गौण हो जाता है और जब ज्ञानस्वभाव दृष्टिमे आता है तो उसे कहते है ज्ञानपरिणतिकी दशा। उस अनुभूतिमे निक्षेपका भी अंश नही रहता। उस समय आनन्द भोगेगा। आनन्द भोगनेके बाद फिर किसीके दशा आती है चिन्तनकी।

(२) स्वरूपाचरणकी अबाध्यता—यह स्वरूपाचरण छठे ७ वें गुणस्थानोमे चलने वाले मुनियोके कहा जा रहा है। उस अनुभूतिमे था और स्वरूपाचरणमे था तब यह निश्चल था। स्वरूपाचरणसे कुछ थोडा अनुभूतिकी परिणतिसे हटकर कुछ सोचनेमे आये तो वहाँ यह परिणमन चलता है कि यह तो मैं दर्शन ज्ञान आनन्दमय शक्ति हू। मेरेमे अन्य भाव नही है, मैं ही साध्य हू, मैं ही साधक हू। यह साध्यसाधकका विकल्प करता रहता है। जैसे कोई पुरुष मीठी स्वादिष्ट चीज खाते समय गप्पें नही लगाता, एक रस होकर आनन्द लेता है, फिर अपने आपमे वह उसका गुण पाता है। तो वह निरख रहा है कि मैं साध्य हू, साधक हू, अबाधक हू कर्मसे। कर्म मेरेमे कुछ बाधा नही पहुचा सकते। कर्मफल मेरेमे कुछ बाधा नही पहुंचा सकता। क्योकि एक ज्ञानदृष्टि द्वारा ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वको ज्ञानमे लिया है तो वहाँ भीतरका एक शुद्ध जाननस्वभाव चलता रहता है। उसमे किसीका दखल नही। जैसे आकाश मे कोई बाधा डाल सकेगा क्या ? नही डाल सकता। वह तो निर्लेप है, इसी तरह इस आत्म-तत्त्वमे कोई बाधा डाल सकेगा क्या ? बाहरी बाधा कोई नही डाल सकता किन्तु अपने आपमे विकल्प उत्पन्न करके अपना मूर्तरूप बनाकर सविकल्प हो रहा था। जहाँ विकल्प नहीं हो रहा था वहाँ शतप्रतिशत ज्ञानभाव बन रहा है। तो ऐसे उस कर्म और कर्मफलसे भी बाधा रहित हूं। हू—क्या हू ? ज्ञानपुञ्ज। एक गुणका कारण और समस्त कलंकोसे रहित हू। इस प्रकारका चिन्तन होता है और चिन्तन करके जो दशा बनायी थी उसमे फिर आता है। उसमे जो आनन्द प्राप्त होता है वह आनन्द संसारके किसी भी पुण्यवानको नही मिलता और उस आनन्दके प्रतापसे चार घातिया कर्मोका विनाश होता है और अनन्त आनन्दकी दशा प्रकट होती है। इस तरह हम सबका भला करने वाला यह स्वरूपाचरण है, जिसको हम न कर सकें तो ध्यानमे तो रखें, श्रद्धामे तो रखें। मेरे करनेको यही काम है और किसी समय आंशिक यह स्थिति प्राप्त हो जाय और अपने जीवनमे इसकी सुध बनाये रहे तो यह अनुभूति हम आप सबके दु:ख दूर करनेमे समर्थ है।

(१३) स्वभावदृष्टिमे समस्याओंकी समाप्ति—केवल एक ही समस्या है कि संसारमे भटकते भटकते अनन्त काल व्यतीत कर लिया, जन्म मरणके चक्रमे पडकर अपनेको बरबाद कर लिया। अब किस प्रकार हम बरबादीसे बचे और हमें कैसे शान्ति मिले, कैसे हम अपने सत्य आनन्दको प्राप्त करें, इसपर कुछ विचार तो करें। केवल एक यही खास बात सामने

है, बाकी सब बातें जो अन्य मनुष्य सोचते हैं वे कोई खास बातें नही हैं। मान लो आप धनिक बन गए तो उससे आपके आत्माको क्या लाभ मिलेगा ? न तो इस ही भवमें लाभ मिलेगा और न परभवमें भी लाभ मिलेगा। बात ऐसी है कि जगतमे जितने भी पदार्थ है वे सब अपनी-अपनी जुदी-जुदी सत्ता रखते हैं। वे है और परिणमते है। जगतके सभी पदार्थ है और परिणमते है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कुछ नही कर पाता। प्रत्येक द्रव्यका सत्त्व जुदा है, उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी परिणति नही करता। यदि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी परिणति कर सकता होता या कोई द्रव्य किसी द्रव्यका परिणमन होता तो आज जगतमे शून्य होता, कुछ भी न रहता। एकने दूसरेको परिणमाया तो न वह खुद ही रहा और न जिसे परिणमाया वह ही रहा। इस तरह अगर कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कर्ता होता तो जगत शून्य होता। जगत है, सबका सत्त्व दिख रहा है, यही इस बातका प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना सत्त्व रखता है। यह सारी विषम व्यवस्था क्यों चल रही है ? हम अनादिसे अशुद्ध चले आ रहे हैं, इसका कारण क्या है ? हम सुख दुःख क्यो पाया करते हैं। तो इन सब बातोको सोचना पड़ेगा और जो उसका कारण है उससे हमे हटना होगा। प्रथम बात यह है कि पहिले अपने आपका सही स्वरूप जानना होगा। मैं वह हू जो अपनी सत्ताके कारण अपने आपमे निरपेक्ष सहजभाव रख रहा हो। मै वह हू जो ध्रुव है, अनादि अनन्त अहेतुक है। ऐसा मै क्या हूं ? एक चैतन्यस्वभाव, एक ज्ञानस्वभाव। अब इसमे कोई विपरीत बात आ रही हो, जैसे रागद्वेष मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, इच्छा, ईर्ष्या आदिक जो कुछ भी इसमे विभाव आ रहे हो, विकार आ रहे हो उसमे कोई विपरीत वस्तुका सन्निधान है। उस सन्निधानमे ये विभाव बनते है अन्यथा अर्थात् किसी भी विपरीत वस्तुका सन्निधान न हो, उपाधि न हो तो विभाव नही बन सकता। देखिये अपने आपको चाहिये स्वभावदृष्टि या अपने आपको स्वभावदृष्टिमे लें, जिसके आश्रयसे अनन्त आत्मशुद्धि होती है। उस स्वभावका स्वरूप शुद्ध होता है। उस स्वभावका आश्रय करनेके लिए आप दृष्टियोका, सभी नयोका सदुपयोग कीजिये।

**(४) निमित्तनैमित्तिक भाव, परिणतिस्वातंत्र्य व स्वरूपपरिचयसे आत्मानुशासनकी शिक्षा**——निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातंत्र्यसे— ये दो प्रसग है अपने सामने। निमित्त-नैमित्तिकभाव न होता तो विभाव न हो सकते थे। वस्तुस्वातंत्र्य न होता तो पदार्थकी सत्ता नही रह सकती थी। तो हो क्या रहा है ? कर्मोपाधिके सबंधमे यह मै आत्मा अज्ञानसे राग-द्वेषरूप परिणाम कर अपने आपकी परिणतिसे नाना प्रकारका विचित्र बन रहा हूँ। तब हमारा कर्तव्य क्या है ? हम परवस्तुसे किस प्रकार हटा सकेंगे ? परकी सत्ता परमे है, उसपर मेरा क्या अधिकार है ? मेरा अधिकार इसपर है कि मै अपने ज्ञानस्वरूपकी सभाल बनाऊँ।

देखो जब हम अपनी सभाल नही बनाते तब बाहरी उपाधियोका सन्निधान जमता रहता है। हम अपनी सभाल बनायें तो बाहरकी खराबी दूर हो जायगी। हम इन कर्मोंका क्षय कैसे करें ? ये कर्म आँखो दिखते भी नही है। दिख भी जायें तो उनपर मेरा अधिकार क्या है ? क्या मैं उनकी कुछ परिणति बना दूँगा ? नही बना सकता। जिन कमफलोको आस्था हम करते है उनका हम आदर न करें। एक अपने उस ज्ञानस्वरूपका आदर करे तो ये सारी बाहरी उपाधियां दूर हो जायेंगी। हमारा कर्तव्य क्या है कि हम अपने आपके सहज ज्ञान-स्वभावकी प्रतीति बनाये रहे।

(१५) **श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रके समीचीन मोड़के पौरुषकी आवश्यकता**—देखो प्रतीति बिना कोई नही है, सबमे प्रतीति बनी है, मगर किसीमे कुछ प्रतीति बनी है किसीमे-कुछ। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र इन तीन गुणोंके बिना कोई जीव नही है। चाहे कोई जीव एकेन्द्रिय हो चाहे पचेन्द्रिय हो, चाहे ससारी जीव हो, चाहे सिद्ध भगवानका जीव हो, वे सब श्रद्धा ज्ञान और चारित्र गुण वाले हैं और श्रद्धा ज्ञान चारित्रका कोई न कोई परिणमन उनके होता रहता है। तब तो क्या रहा है कि जो अज्ञानी जीव है उनको तो श्रद्धा गुणका परिणमन इस रूपमे हो रहा है कि जो देह पाया उसे मान लेते कि यह जो देह है सो ही मै हू। तो यह तो एक अहकार हुआ। क्योकि जो मैं नही हू उसे माना कि यह मैं हू। इसी अहकारके कारण समस्त अज्ञानी प्राणी बरबाद हो गए। जहाँ इस शरीरको माना कि यह मैं हू तहाँ ही इसके सारे नटखट अटपट चलने लगे। इस शरीरमे पायी जाने वाली इन्द्रियोमे इसको प्रीति जगी। इन बाहरी पचेन्द्रियके विषयोमे रमता है। यही मैं हू—इस प्रकारकी बुद्धि हो जानेसे इसके विषयोमे प्रीति जगती है, रिश्तेदारी शुरू हो जाती है। बाहरी पदार्थोंका समागम शुरू हो जाता है, उनमे इसका लगाव होने लगता है। देखो देखनेमे गल्ती जरा सी की लगती है बल्कि यो लगता है कि मै कोई गल्ती नही कर रहा हू। किसीसे झूठ नही बोल रहा, किसीकी हिंसा नही कर रहा, किसीकी चीज नही चुराता, कोई कुशील वगैरा नही कर रहा, मगर उस जरासी गल्तीका दण्ड क्या मिल रहा कि कीट पतिगा, पशु, पक्षी, पेड पौधे आदिक नाना कुयोनियोमे जन्म मरणके चक्कर लगाना पड रहा है। अपराध नाम है किसका ? राधा जहां अपगत हो गई है उसे कहते हैं अपराध। याने जो पुरुष आत्मस्व-भावसे रहित हो गया है ऐसा पुरुष निरन्तर अपराधी है। मोहसे बढकर और क्या अपराध कहा जाय ? उतना बडा अपराध कोई नही जितना बडा मोह है। तो परपदार्थ जो प्रयोजन मे आ रहे हैं उनके प्रति राग तो होता है, मगर मोहमे तो निरन्तर अज्ञान बसा रहता है। पुत्र है सो मैं हू, अगर यह न रहा तो मेरे प्राण नही टिक सकते। मैं तो बरबाद हो जाऊगा,

यह स्थिति होती है मोहमें। मोह न हो तो भी राग रह सकता है। यहां एक दृष्टान्त ले लो—जैसे कोई सेठ बीमार हो गया तो उसे दवा करानेके लिए अच्छा कमरा चाहिए, अच्छा पलंग चाहिए, डाक्टर चाहिए, दवा चाहिए, सेवा करने वाले नौकर चाहिएँ। यदि इन बातोमे कुछ कमी हुई तो वह सेठ बहुत झुझलाता है, कदाचित् डाक्टरके आनेमे, दवा मिलनेमे कुछ देर हो जाय तो वह बहुत झुझलाता है। कुछ ऐसा लगता है कि उस सेठको डाक्टर, दवा, पलग आदिमे बडा मोह है, पर जरा बतलावो उस सेठको उनसे मोह है क्या? यदि मोह होता तो वह सदा यही श्रद्धा रखता कि ऐसी दवा, ऐसा डाक्टर, ऐसा नौकर, ऐसा पलग, ऐसी सेवा, ऐसी पूछताछ मुझे जिन्दगीभर मिलती रहे। अरे वह उन सबके प्रति बड़ा अनुराग दिखाता है, पर उसकी आन्तरिक भावना यही रहती है कि मै कब ठीक हो जाऊँ, कब इन झंझटोसे छुटकारा पाऊँ और कब मील, दो मील घूम लिया करूँ? तो देखिये उस सेठके मोह तो नही है दवा, डाक्टर आदिसे, पर राग जरूर है। तो राग और मोहमे अन्तर है। घरमे रहकर भी राग तो रहेगा, पर मोहको दूर करके रहा जा सकता है। इस मोहके कारण अपने स्वरूपकी सुध नही होती। मोह कहते है परको अपनानेको। भला बतलाओ इस मोहसे कुछ लाभ भी मिलता है क्या? कदाचित् घर गृहस्थीके बीच रहना पडता है तो रहो, उनमे राग करना पडता है तो करो, मगर मोह न रखो। आप गृहस्थीके बीच रहेंगे तो आपको दूकान भी करनी होगी, सब प्रकारके कामधधे भी करने होगे, सबके साथ अनुराग भी करना होगा, तो ठीक है करें, मगर मोह तो न रखे। तो अपना एक यह सकल्प बनायें कि मुझे मोह नही रखना है, अज्ञान नही रखना है। मुझे तो जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा मानना चाहिए।

**(१६) स्वरूपके दर्शन और आलम्बनके उपायकी सरलता**—देखो सीधी सी बात है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत् है, अपने आपमे उत्पाद व्यय किए चले जा रहे है। भले ही जो विभाव होते है वे निमित्तसन्निधानसे होते हैं। निमित्त बिना विभाव नही होते, फिर भी निमित्त परिणति नही करता। ऐसा ही स्वरूप है, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक भाव है कि योग्य उपादान अपनी परिणतिसे अपने आपमें अपना प्रभाव बनता चला जाता है, ऐसा एक योग है, लेकिन वस्तुस्वातन्त्र्य ऐसा है कि प्रत्येक वस्तु अपने आपमे अपना परिणमन करता है। वस्तुकी स्वतत्रता न हो तो उसका सत्त्व टिक न सकेगा। अपने आपको पहिचानना एक खास जरूरी चीज है। अपना महत्त्व समझना, अपनेमें सार देखना, यह एक बडे ज्ञानकी बात है। देखो लोग बारह भावनायें भाते हैं, अनित्य भावना भाते हैं कि ये सब विनाशीक है, लेकिन सबको विनाशीक विनाशीक देखते रहनेसे क्या पूरा पड़ेगा? घबड़ाहट आ जायगी। अरे विना-

शोककी भावना तो ठीक है लेकिन साथ ही यह भी तो जान लें कि मेरा जो स्वरूप है, वह शाश्वत है, अविनाशी है, नित्य है, वह कभी मिट नही सकता। अपने आपके नित्य स्वरूपकी भी सुध साथ-साथ रहे तो अनित्यभावना कार्यकारी रहेगी, अन्यथा अनित्यकी भावना भाते भाते अपनी कुछ भी सिद्धि न बनेगी। यो ही अशरणभावना भाते है तो कहते है कि ससारमे मेरा कोई सहाय नही, शरण नही। यो भावना भाना तो ठीक है, लेकिन यही भावना भाते रहनेसे तो घबडाहट आ जायगी। यह अशरण भावना भाना तभी सार्थक है जब कि साथ ही साथ अपने आपके सत्य शरणभूत शाश्वत अपने भगवान आत्माकी सुध रहे। इसी प्रकार ससार भावनामे आप यही विचार करते हैं कि इस ससारमे कोई सार नही है, सब बेकार है, लेकिन साथ ही साथ इस बातका भी ध्यान रहे कि मेरा जो सारभूत आत्मतत्त्व है उसकी भी सुध बनी रहे। उसकी बराबर सुध बनी रहे तभी अपना काम बनेगा। तो देखते है कि अपने आपके इस ध्रुव सारभूत स्वत.सिद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वको यही एक काम करनेको पडा है। वहाँ भी करना क्या है? जैसे कोई कारीगर पाषाणकी मूर्ति बनाता है तो वहाँ वह क्या करता है? क्या बाहरसे कुछ चीजें ला लाकर उसमे जोडता है? अरे वह उसमे लगानेका कुछ काम नही करता बल्कि उसमे हटानेका काम करता है। उस मूर्तिका आवरण करने वाले जो पाषाणखण्ड है उनको वह हटानेका काम करता है। उन पाषाण-खण्डोके हटानेका साधन है छेनी हथौडी। तो अपने आपमे देखो—इस परमात्मतत्त्वको प्रकट करनेके लिए करना क्या पड़ेगा? क्या कोई बाहरी चीजें लानी पडेंगी? नही। अरे इस आत्मस्वरूपको ढकने वाले जो विषय कषाय आदिकके आवरण हैं उनको हटानेका काम करना पडेगा। इनको हटानेके लिए साधन क्या चाहिए? साधन चाहिए सत्यज्ञानकी ही छेनी और इस ही विवेक प्रज्ञाकी हथौडी। इस ही ज्ञानकी छेनी और हथौडीके द्वारा ये परमात्मस्वरूपको ढकने वाले विषय कषायादिक आवरण हटा दिये जायेंगे। बस अपना वह परमात्मत्व प्रकट हो जायगा। अपने करनेको एक यही काम पडा है, बाकी सब बेकार काम है। अपने आपका स्वभावदर्शन करें।

**(१७) आत्मस्वभावकी उपलब्धिमे प्रभुभक्तिके विधानका महत्त्व**—इस जगतमे अपने कल्याणके लिए जो अपना आत्मस्वभाव महत्त्व रखता है उसकी सुध करे। अन्य किसी चीजकी इच्छा न करें। स्त्री मुझे सुख दे, भगवान मेरा दुःख मेट दे, यो याचना करनेसे कोई सुख न दे देगा, किन्तु ज्ञानवीर बननेसे परमात्माके स्वरूपका स्मरण करके अपने आपसे ऐसा उत्साह लावें कि जो परमात्माका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है—मैं वह हू जो हैं भगवान, जो मैं हू वह है भगवान। यो भगवानका स्वरूप और मेरा स्वरूप समान है। अन्दर

में तो समान है, लेकिन बाह्यमें विषमता है। अन्तर यही ऊपरी जान। वे विराग यहँ राग वितान ॥ केवल एक बाहरी अन्तर है और कोई अन्तर नहीं। तब ही तो शुद्ध निश्चयनय का बड़ा महत्त्व बताया गया है। उस स्वभावका दर्शन करनेके लिए हम केवलज्ञानमात्र अनन्त आनन्दमय शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप विचारते है जीवस्वभावके अनुरूप ही। उस समय पर्यायपर दृष्टि नही रहती। जब अपना स्वभाव सामने आता है तो वह व्यक्ति तो छूट जाता है और स्वभाव स्वभाव ही दृष्टिमें रहता है। स्वभावदृष्टिमें परव्यक्ति तो हट गया। खुद कैसे हटे, इसलिए खुदपर दृष्टि जाती है। यही एक प्रभुभक्तिका रहस्य है। प्रभुभक्तिका प्रथम चरण क्या है ? शुद्धपर्यायका स्मरण, ज्ञानकी शुद्ध स्थितिका स्मरण और उसका द्वितीय चरण क्या है ? जो शुद्ध स्थिति है, जिस स्थितिके समान होनेमें स्वभावकी वासना बनी और वह परिणति ओझल हो गई। तीसरा चरण क्या है कि जब स्वभावदृष्टिमे रहता है तो वह व्यक्ति छूट जाता है। पर व्यक्ति दृष्टिसे हट जाता है। केवल स्वभाव दृष्टिमे रहता है। तो चौथा चरण क्या बनता है कि जब केवल स्वभावदृष्टिमें रहे और परव्यक्ति छूट गया दृष्टिसे, तो जो स्वभावदर्शन कर रहा है वह व्यक्ति तो नही छूटा, वह तो रहेगा ही। तब ही स्वभाव अपने आपके स्वभावमें रमण कराकर स्वभावस्मरण इसकी पूर्ति कर देता है। भगवद्भक्तिका यह रहस्य है। तो भगवद्भक्ति भी हम आपको प्रयोजक है। साथ ही असहयोग भी प्रयोजक है। जो जो भी हमारे विभावके आश्रयभूत बनते है उनपर असहयोग कीजिए। वास्तविकता यह है कि कोई भी बाह्यपदार्थ मेरेमे रागादिक भाव नही उत्पन्न कराता। हम ही अज्ञानतासे किसी परवस्तुको अपने उपयोगका विषय बनाकर रागद्वेषकी मुद्रा बनाया करते हैं, हम बाह्य वस्तुको मात्र जान लें, कोई भी परवस्तु मेरा विरोधी नही, मुझे क्रोध बनाने वाला नही। बाह्य पदार्थ तो जहाँके तहाँ पड़े हैं। वे तो आश्रयभूत हैं। हम ही उनका आश्रय करके अपनेमे क्षोभ उत्पन्न करते है, अपनेमें विषमतायें उत्पन्न करते हैं, हम उनका आश्रय न ग्रहण करें, ऐसी प्रबल भावना करिये। हम आश्रय करेंगे स्वभावका, जिसका आश्रय करनेसे संसारके सारे संकट दूर होते है। हम तो उसका आश्रय करेंगे। ऐसी एक अपनी भावना बनाइये।

(१८) **तत्त्वदर्शनमें नयोंकी उपयोगिता**—भैया ! वस्तुत्व समझनेके लिए आप दो पद्धतियाँ सामने लीजिए—एक पद्धति है शुद्धनयकी, दूसरी है अशुद्धनयकी। समस्त नयोका परिज्ञान हम आपके लिए लाभदायक है। उसका उपयोग इस ढंगसे करना है जिस ढंगमे हम विभावोसे छुटकारा पाकर स्वभावको दृष्टिमे ले सकें। शुद्धनय कहते है शुद्ध अखड तत्त्व को दृष्टिमे लेनेको। जैसे मुझ आत्मामे एक अखण्ड ज्ञायक भाव वही शुद्ध नयका विषय है।

उसे भूतार्थ कहते हैं, परमार्थ कहते है और भेद जहां किया जाता है, जहाँ ७ तत्त्वोका भी भेद आवे, ६ पदार्थोंका भेद आये, किसी प्रकारका भेद आवे वह सब अशुद्धनय कहलाता है। तो मूल बात यह है कि अशुद्धनयसे छूटकर शुद्धनयका आश्रय लें। जिसे कहते हैं कि जो भूतार्थकी दृष्टि करता है वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टिके तो सभी नय है। व्यवहारनय भी सम्यग्दृष्टिका प्रयोजक है। जैसे व्यवहारनय प्राकपदवीमे प्रयोजक है, इस व्यवहारनयकी कृपासे जब हम एक शुद्धनयके विषयभूत अखड तत्त्वको जाननेकी योग्यता पा लेते हैं उस समय हम शुद्धनयको दृष्टिमे लेकर एक शुद्धको पानेका पौरुष करें। दूसरी पद्धति क्या है निश्चय व्यवहारनयकी ? निश्चयनयका यह भाव है कि उस ही द्रव्यको उस ही द्रव्यकी बातको उस ही मे निरखना, किसी परवस्तुका यहां सम्बन्ध नही होता। यह निश्चयदृष्टिकी आन है। व्यवहारनय किसी परवस्तुका सम्बंध बनाकर बात करेगा। तो निश्चयनयमे तीन प्रकार होते हैं—

सही है, शांत हैं। तथ्यमे हमारा सच्चा कदम हो और जिस क्षण हम स्वभावके ज्ञानको छोड़कर अन्य बाह्य पदार्थोंके ज्ञानके उपयोगमे लगते है उतने क्षण हम लुट जाते हैं।

समाधितन्त्रमे बताया है कि "आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरं, कुर्यादर्थवशात्किञ्चित् वाक्कायाभ्यामतत्पर:।" एक इस आत्मज्ञानको छोड़कर कुछ भी कार्य करने योग्य नही। अगर वे बुद्धिमे आते हों तो चिरकाल तक वह कार्य मत करो। कुछ क्षण तो आये, फिर उससे हटकर एक आत्मज्ञानकी ओर लगें और कुछ कार्य करने भी पड़ें परिस्थितिवश तो वचन और कायसे कर लें, मगर मनसे इनमे तत्पर मत हों। यह कला स्वभावपरिचयमें अपने आप आ जाता है। मुझे क्या करना चाहिए, किससे हटना चाहिए, किस ढंगसे रहना चाहिए, यह सब एक स्वभावपरिचयमे अपने आप आ जाता है। यह भावना हो, यह प्रतीति हो कि मैं तो सबसे निराला एक ज्ञानमात्र हूं। तब सब चरण कला आ जावेगी। जैसे बुन्देलखण्डका एक दृष्टान्त है। वहां पर एक छत्रशाल नामके राजा हो चुके है। बताते हैं कि उन का पिता उनके बचपनमें ही गुजर गया था। तो राजमाताने क्या किया था कि राज्यका कार्यभार गवर्नमेन्टको सौप दिया था। गवर्नमेन्टसे कुछ खर्च मिलता रहा। जब छत्रशाल बड़े हुए तो राजमाताने गवर्नमेन्टको लिखा कि मेरा बेटा अब सयाना हो चुका है, इसलिए मेरा राज्य मेरे बेटेके सुपुर्द कर दिया जाय। गवर्नमेन्टके किसी साहबने राजकुमार छत्रशालको उसकी बुद्धिकी परीक्षाके लिए बुलाया। राजमाताने राजकुमार छत्रशालको बहुत कुछ समझाया। देखो बेटा! साहब यह पूछे तो यह जवाब देना, यह पूछे तो यह जबाब देना। यो दसों बातें समझा दिया। पर राजकुमार बोला—मां यदि इतनी बातोमेसे कोई बात साहब न पूछे, कुछ और ही पूछे तो फिर हम क्या जवाब देंगे? तो राजमाता अपने बेटेकी उस तर्कणा भरी बातको सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और बोली, बेटा अब मैं समझ गई—जब तुम इतना तर्क कर सकते हो तो फिर साहब जो चाहे पूछे, तुम अवश्य ही उत्तर देकर आवोगे। आखिर हुआ भी ऐसा ही। जब राजकुमार साहबके पास पहुंचा तो साहबने पूछा तो कुछ नही, पर दोनों हाथ पकड़ लिया, और कहा—देखिये राजकुमार अब तुम हमारे आधीन हो गए, बताओ तुम क्या कर सकते हो? तो राजकुमारने अपनी तर्कणा बुद्धिसे बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। कहा—महाराज मैं तुम्हारे आधीन नही हूं, तुम हमारे आधीन हो। अब मुझे क्या परवाह? अब तो मैं पूर्ण रक्षित हो गया। यहाँ बन्धनकी क्या बात?....कैसे?....देखिये महाराज—जब किसीकी शादी होती है तो वह भांवर पडते समय उस लड़कीका सिर्फ एक हाथ पकड़ना है। एक हाथ पकड़ लेनेपर उसे उस लड़कीकी जीवनभर सेवा करनी पड़ती है। आपने तो मेरे दोनो ही हाथ पकड़ लिए, फिर मुझे किस बालकी चिन्ता? मैं तो अब पूर्ण रक्षित हो गया। पराधीन तो आप

हो गये। राजकुमारका तर्कणाभरा उत्तर सुनकर साहब बहुत प्रसन्न हुआ और उसे उसका राज्य दे दिया। तो कहनेकी बात यह है कि स्वभावदर्शनकी कला एक ऐसी अनूठी कला है कि जो एक बार भी स्वभावदर्शन करले सब कला आ जाती है, जिसके प्रसादसे भव-भवके सकट दूर हो जाते हैं। स्वभावदर्शनकी कला आ जानेसे अन्य सब कलायें अपने आप आ जायेंगी। स्वभावदर्शनकी कला यही है कि अपना आत्मस्वरूप अपनी दृष्टिमे रहे, वही अपने उपयोगमे रहे, अन्य समस्त परका विकल्प हटे। स्वभावदर्शन पानेके लिये हमको क्या करना चाहिये ? हमारे कर्तव्य ये तीन हैं—प्रभुभक्ति, असहयोग व सत्याग्रह। प्रभुभक्तिमें स्वभावके अनुरूप विकसित शुद्ध पर्यायका दर्शन होता है। उसमे शुद्ध पर्याय गौण होकर स्रोत स्वभाव मुख्य हो जाता है और फिर व्यक्तित्व भी छूटकर मात्र स्वभावदृष्टिमे रहता है।

(१९) **तत्त्वदर्शनके उपायभूत असहयोग व सत्याग्रहकी झांकी**—तत्त्वदर्शनके उपाय मे दूसरी बात है असहयोगकी। एक इस ज्ञानपुञ्ज आत्मस्वरूपके अतिरिक्त समस्त परपदार्थोका असहयोग करें—ये समस्त परपदार्थो, दूर हटो, तुम्हारा यहां काम नही, तुम्हारे प्रति मेरे अन्दर रंच भी विकल्प तक न हो। ये समस्त परपदार्थो हटो, तुम मेरे कुछ नही हो, मेरा तो मात्र ज्ञानज्योतिस्वरूप है, कोई भी परपदार्थ मेरा कुछ नही लगता। यो ज्ञानी पुरुष समस्त परपदार्थोंको अपनेसे भिन्न देखता है। वह जानता है कि संसारके समस्त जीव कीट पतिगा पशु पक्षी आदि जितना मेरेसे भिन्न है उतने ही भिन्न ये मेरे घरके लोग है। एक ज्ञानी गृहस्थ घरमे रहता है, पर उसकी श्रद्धा विपरीत नहीं होती है। उसकी श्रद्धामे यही बात रहती है कि ये परिवारके लोग मेरे कुछ नही है, ये सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं। देखिये— लोग दूसरेकी गल्ती तो बडी जल्दी समझ जाते हैं—देखो यह व्यर्थ ही इनमे मोह कर रहा, व्यर्थ ही इनके पीछे हैरान हो रहा, पर स्वय क्या गल्ती कर रहे है इस ओर कुछ ध्यान ही नही जाता। तो जैसे कोई पुरुष दूसरेकी भूल, दूसरेका अज्ञान, दूसरेके विकारको ठीक समझ सकता है और उससे भिन्न अपनेको समझ सकता है, ऐसे ही अपने आपमे उठने वाले ये क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायो, अज्ञान व विकारोसे भी अपनेको भिन्न समझ सकता है। ये आये हैं, इनरूप मैं नही, मैं तो एक ज्ञानस्वरूप हू। ये बाह्य चीजें मैं नही। यो समस्त परसे भिन्न अपने सत्यस्वरूपको निरख सकें तो यही हमारे कल्याणकी बात है। अपनी ऐसी श्रद्धा बने कि इस जीवनमे ये दुनियाके लोग चाहे मुझे कुछ न समझ सकें, मेरी कुछ भी इज्जत प्रतिष्ठा न कर सकें, पर मैं गुप्त ही गुप्त रहकर अपने आत्मतत्त्वको अपनी दृष्टिमे ले लू। ऐसा ही मेरा जीवन चले, ऐसी ही मेरी आराधना चले, इसही से मेरा कल्याण है। ये बाहरी चीजें जो धन वैभव आदिककी हैं उनके पीछे रंच भी विकल्प न करें। वे

सब परपदार्थ है, वे सब पुण्यकर्मके उदयमें प्राप्त होते हैं और पापकर्मके उदयमे विलीन हो जाते है। उनके होने न होनेकी रंच भी चिन्ता न करें और फिर उस धनको कमाता ही कौन है? लोग कल्पनासे मान बैठते है कि इसे मैंने कमाया और फिर उसके बिघटने पर दुःखी होते हैं। जैसे—५०–६० मनका बोझ लादे हुए कोई बैलगाडी चली जा रही हो तो कुछ बच्चे लोग उसे पीछेसे ढकेलते है। वह गाडी यद्यपि बैल खीचते हैं फिर भी वे बच्चे समझते है कि मेरे ढकेलनेसे यह चलती है। कदाचित् बैल किसी जगह रुक गए तो वे बच्चे गाडीको रंच भी चला नही पाते पर वे व्यर्थ ही दुःखी होने लगते हैं, ठीक ऐसे ही लोग समझ बैठते हैं कि मैं धन कमाता हूं। मैं परिवारको चलाता हूं, चलता हू यद्यपि पुण्योदयवश सबका काम, धन आता है पुण्योदयसे पर यह अज्ञानी प्राणी समझता है कि मैं धन कमाता हूं। मैं परिवारका पालन पोषण करता हूं। आखिर होता क्या है कि जब परिजनों पर कोई आर्थिक संकट आता है तो यह घबडाता है। दुःखी होता है। अरे भाई होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम? किसी भी परपदार्थमे आप कुछ नही कर रहे सबका परिणमन उनकी परिणतिसे स्वयमेव हो रहा है। जिस विभावसे जो होनेको होता है वह हो रहा है। किसी भी बाह्य पदार्थमें कोई परिणति नही बनाता, ऐसा भाव बनायें, जिसका जैसा कर्मविपाक है उसके अनुसार उसे वैसा हो रहा है। सोचना यह है कि ये जितनी भी बाहरी बातें हो रही है, जितने भी विभाव भाव हो रहे हैं वे सब दूर हो जायें, उनसे असहयोग कीजिये। तीसरा कर्तव्य कहा सत्याग्रह। जो अपनेमे सहज सत्य हूं चैतन्यस्वरूप उसका आग्रह करें। मैं चैतनामात्र हूँ, ज्ञानघन हूं मैं तो सहज आनन्दस्वरूप रहूँ। तो भाई एक ही बात है। मैं अपने सहज वास्तविक स्वरूपको अपनी दृष्टिमें लू, उसकी सुध लूं, उसकी ओर उपयोग बनाऊँ। जगतमे अन्य कुछ मेरे करनेको नही पड़ा है। मेरे करनेको एक केवल आत्मस्वरूपकी आराधनाका काम है। इस ही में चरम शक्ति है, इसमें ही सकट दूर होते हैं इसमे ही परमात्मत्वकी स्थिति प्राप्त होती है। इसका उपाय है ज्ञानाभ्यास शास्त्राभ्यास, आत्मस्वरूपकी आराधना।

**(२०) स्वभावदृष्टिके अर्थ ज्ञानवृत्तियोके प्रयोगकी श्रेयोरूपता**—जगतमें हम आपपर जितने भी क्लेश है वे सब भ्रमके आधारपर है। भ्रम होता है चार प्रसंगमे—(१) मैं क्या हूं, (२) मेरा क्या है, (३) मैं क्या करता हूं, (४) मैं क्या भोगता हूं। भ्रममे माना जा रहा है देहको मैं, देहात्मबुद्धि होनेसे देहसाधनोको माना जा रहा है मेरा, इतना बाहर फैल जाने पर माना जा रहा हूँ, मैं इन साधनोको करता हूँ व इनको भोगता हू। वास्तविकता यह है कि हम तो ज्ञानमात्र ही हैं, स्वरूप ही हमारा है और हम ज्ञानकी वृत्ति ही कर पाते

है। प्रत्येक स्थानमे प्रत्येक घटनाओमे हम ज्ञान ही करते है, ज्ञानकी परिणतियोको ही बनाते रहते हैं। चाहे कल्पनायें बनायें, चाहे कल्पनारहित होकर ज्ञानकी वृत्ति बनायें, हम ज्ञानकी ही वृत्ति बना सकते हैं। आनन्द पानेके लिए, शान्ति पानेके लिए हमे चाहिए ज्ञानकी बात। ऐसी परिणति कि जिसमे कल्पनायें न जगें, क्षोभ न हो, अर्थात् हम केवल ज्ञाता दृष्टा रह सकें, ऐसी स्थिति चाहिए। यह स्थिति चाहे जब मिले, लेकिन श्रद्धामे तो यही बात होनी चाहिए। कल्पनायें करनेसे मेरी बरबादी है। मैं इन कल्पनाओसे मुक्त होना चाहता हूं। ये कल्पनायें कुछ ऐसी होती हैं कि इस जीवका संसारचक्र बढानेमे मदद करती हैं। कुछ कल्पनायें ऐसी होती है कि जो हमको तत्त्वके निर्णयमे मदद करती हैं, फिर भी कल्पनायें बनाना मेरे लिए एक शुद्ध वृत्ति वाली स्थिति नही है। श्रद्धामे यह होना चाहिए कि कल्पनारहित मैं अपने आपमे होऊँ। यह स्थिति कैसे प्राप्त हो ? इसका उपाय यह है कि जो निर्विकल्प है, ध्रुव है, अखण्ड है, ऐसे शुद्ध अतस्तत्त्वपर दृष्टि हो, उसका आदर हो। धर्मपालन जितना भी किया जा रहा हो वह सब इस स्थितिमे होता है। हमारा जितना धार्मिक व्यवहार है उस सबका प्रयोजन यही है कि अपना शुद्ध ज्ञानस्वभाव दृष्टिमे रहे। जैसे हम भगवतपूजा करते है तो भगवानका स्वरूप निहारते हैं, वह स्वरूप है स्वभावके अनुरूप, सो वहाँ स्वभावदृष्टिके हम अधिकारी हो जाते हैं। तभी वे सब हमारे धर्मव्यवहार कहलाते है।

**(२१) परमशुद्धनिश्चयनयमे स्वभावदृष्टि लक्ष्यकी सुगम साक्षात् पूरकता**—हम एक यह लक्ष्य बनायें कि एक अपने सहज ज्ञानस्वभावमे गुप्त होना है, इस ही के अनुरूप बनना है। यदि यह हमारा लक्ष्य बने तो सब ही नय इसके पूरक बनेंगे और एक लक्ष्य न बने, तो भले ही धर्मप्रसग हो, उसके अनुसार भले ही हम नाना परिज्ञान बनायेगे, प्रवृत्तियाँ करेंगे, लेकिन वे सब किसी न किसी विवादको लिए होगी। अपना एक शुद्ध लक्ष्य बना लीजिए। मेरी भलाई किसमे है ? इस प्रकारका विचार करने वाला वास्तविक श्रोता बताया गया है। यह एक बहुत बडा गुण है। अपने आपके उद्धारके लिए चित्तमे एक यह बात आये कि कि मेरेको किसी विवादसे मतलब नही। मेरा विचार मेरे हितके लिए हो, कल्याणके लिए हो। मैं सदाके लिए सकटोसे मुक्त हो जाऊँ। बस यही एक लक्ष्य है। यही मात्र चाहिए अन्य कुछ न चाहिए, ऐसा भाव करनेके बाद अब देखिये ज्ञानी की बात। प्रत्येक नयोका ऐसा उपयोग बनाता है कि उसको स्वभावका दर्शन होनेका अवसर आता है। जिस नयको आप ४ प्रकारोमे रख दीजिए—परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय। परमशुद्ध निश्चयनय तो प्रकट साक्षात् स्वभावदृष्टि करने वाला है हो।

परमशुद्ध निश्चयका विषय अखंड शुद्ध तत्त्व। इसकी दृष्टिमें गुण, पर्याय, भेद नही रहते, किन्तु अखण्ड शाश्वत स्वभाव रहता है। इसकी ही तो दृष्टि करना है। परमशुद्ध निश्चयनय, अभेदनय, शुद्धनय ये एकतत्त्ववाचक है। यद्यपि इस नयकी साधनाके इच्छुकोंने सब कुछ व्यवहारनय, अशुद्धनिश्चयनय व शुद्धनिश्चयनयसे सीखा, किन्तु जब परमशुद्ध निश्चयनयका विषय अखण्ड निर्विकल्प अभेद शाश्वत अन्तःप्रकाशमान अन्तस्तत्त्व परिचयमें आया तब इस साधकको यह शुद्धनय ही प्रयोजवान् हो गया। देखो स्वभावदृष्टिकी साधना इस परमशुद्ध-निश्चयनयसे कैसी सुगम और साक्षात् हो गई है।

(२२) **शुद्धनिश्चयनयमें लक्ष्यभूत स्वभावदृष्टिकी पूरकता**—शुद्ध निश्चयनयका अर्थ है अखण्ड शुद्ध सत्य शाश्वत स्वभावका दर्शन कराना, जिससे आत्माके एक सहजस्वभावका परिचय होता है। यह परिचय तो स्वभावदृष्टिका साक्षात् पूरक है। शुद्धनिश्चयमे देखिये—निश्चयनयमे केवल एक ही द्रव्यको देखना चाहिए, उसका सत्त्व निरखना चाहिए। यह एक निश्चयनयका स्वरूप है। तो जब एक द्रव्यको देखते हैं, भले ही शुद्ध पर्यायको देख रहे है, जैसे कि हम केवलज्ञानी अनन्त आनन्दमय वीतराग किसी भी प्रकार एक ही आत्माको देख रहे है और यह देख रहे हैं कि यह केवलज्ञानी अनन्त चतुष्टय सम्पन्न है तो अपनेमें अपनेसे आप हैं। जब ऐसा देखा जा रहा हो तो वह तो निश्चयनयका विषय है। एककी ही चीज देखो। जो शुद्धनिश्चयनय है उसमें शुद्ध पर्यायको देखो। तो शुद्ध पर्यायरूप एक द्रव्यका देखनेका भी सदुपयोग यह हुआ कि हम स्वभावके अनुरूप शुद्ध पर्यायको निरख रहे है, तो शुद्ध पर्यायको देखते हुए हम स्वभावदृष्टिपर पहुंच जाते हैं।

( २३ ) **अशुद्धनिश्चयनयमें लक्ष्यभूत स्वभावदृष्टिकी पूरकता**—एक होता है अशुद्ध निश्चयनय। अशुद्ध निश्चयनयमें यह देखा जा रहा है कि जीव रागी है, द्वेषी है। विवरण करें तो यह कह दीजिए कि यह जीव अपनी परिणतिसे रागी है, अपने लिए रागी है, अपने प्रदेशोमे रागी है। अशुद्ध पर्यायको देखा, किंतु देखा एक द्रव्यको, वह अशुद्ध निश्चयका विषय हो गया। इस प्रकरणमें आप इतना समझ लीजिए कि यद्यपि अशुद्ध पर्यायका आविर्भाव निमित्तका सन्निधान पाकर होता है लेकिन एक स्वकी भी तो दृष्टिका होती है। जैसे कि सामने एक दर्पण हो और मेरी पीठके पीछे चार बच्चे खडे हैं, वे हाथ पैर हिला रहे है, हम सामने के दर्पणको देखकर वह सब छाया निरख रहे है, तो हम उन बच्चोका ख्याल न करें, बच्चों पर दृष्टि न दें, केवल दर्पणपर ही दृष्टि लगायें, तो क्या हम ऐसा कर नही सकते ? बस यही अशुद्ध निश्चयकी बात है। अशुद्ध निश्चयकी दृष्टिमे—यह जीव रागरूप परिणम रहा है। यहां निमित्त उपाधि अथवा आश्रयभूत पदार्थ इसका ख्याल नही किया जा रहा, क्योकि वह एक

निश्चयदृष्टिका प्रसंग है। फिर भी आप देखिये कि अशुद्ध निश्चयदृष्टिका क्या प्रभाव होता है कि निमित्तको या सन्निधानको या आश्रयभूतको न निरखा, एक ही द्रव्यको निरखनेसे यद्यपि शुद्ध निश्चयदृष्टिकी अपेक्षासे अशुद्ध निश्चयदृष्टिका स्वभाव दृष्टिके लिए सुदुपयोग करनेके लिए कुछ कठिनाई है, फिर भी एक द्रव्यको देखनेके कारण वह पर्याय किससे प्रकट हुई है? एक उस आत्मामे हुई है, तो वहां पर भी रागका आधारभूत जो एक आत्मा है उसकी दृष्टि बनी है। बाहरमे निमित्त उपाधि आश्रयकी दृष्टि नही बनती है। एक निश्चयनयका प्रसंग बना रखा है। सो अशुद्ध निश्चयनय दृष्टिका भी सदुपयोग यह है कि हम दृष्टिसे पर्यायके हटानेकी पद्धति से आत्मतत्त्वकी दृष्टि करें। वहां एक मौका मिला है कि हम परनिमित्तादिकपर दृष्टि नही कर रहे है। उसका भी यह ही एक सदुपयोग है। दूसरी बात यह है कि जब हम किसी आश्रय-भूतका उपयोग नही कर रहे है तो निराश्रय रहकर यह राग कब तक बनेगा? वह बन्ध होगा और हम स्वभावदृष्टिके पात्र बन जायेंगे।

(२४) **व्यवहारनयमें लक्ष्यभूत स्वभावदृष्टिकी पूरकता**—अब देखिये व्यवहारनय दृष्टि का उपयोग। व्यवहारनयका अर्थ यह है कि जो विभाव हो रहे हैं उनके विधि विधानका सब निर्णय बनाना। विभाव निमित्तके सन्निधान बिना नही हो सकते। कोई पदार्थ अपनी सत्ता की ओरसे विभाव कर सकता हो ऐसी बात नही है। जैसे कहते है कि जीव परिणामहेदुं कम्मत्त पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमई। णवि कुव्वइ कम्म-गुणे जोवो कम्म तहेव जीवगुणे। अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हपि। अर्थात् जो उपाधि है उस भावका निमित्त पाकर यह जीव रागादिक रूप परिणमता है। बात क्या कही गई? जैसे कि स्फटिक, वह तो स्वयं अपने आपमे निमित्तभूत नही है, हां परिणमन स्वभाव अवश्य है, पर होता क्या है कि जो रागभाव सहित है ऐसे कपडा कागज आदिकका सन्निधान पाकर वह स्फटिक रागरूप परिणम जाता है, इसी प्रकार यह आत्मा स्वयं परिणमने वाला है, परिणमन स्वभाव वाला है। इसपर भी यह स्वयं अपने आपके विभावोंका निमित्तभूत नही है। अगर निमित्तभूत होते तो सदा इसमे विभाव होते रहना चाहिए। पर होता किस तरह से है कि स्वय रागादि भावके प्राप्त जो क्रोध मान, मया, लोभ नामक जो कर्म प्रकृति है उसके सन्निधानमें यह आत्मा स्वय अपने आपके इस विपाककी परिणतिसे यह रागादिक रूप परिणम जाता है। बात वहा क्या जानना है? व्यवहारनय यह बतलाता है कि जो विभाव हैं वे नैमित्तिक है, निमित्तका सन्निधान पाकर हुए है। यद्यपि निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव कुछ भी छूटने नही दिया है, वह निमित्त कुछ नही कर रहा है, लेकिन ऐसा सयोग है कि वह निमित्त अपनेमे ऐसा सन्निधान बनाता है। जैसे हम चोकीपर बैठे है तो चोकीने मेरेमे कुछ नही किया, उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेमे नही गया, किन्तु ऐसा होनेर,

इस चौकीके सन्निधानमे अपने आप प्रक्रियासे अपने आपमे बैठनेका प्रभाव बना लिया है। तो ऐसा योग है। इसीको कहते है निमित्तनैमित्तिक भाव। निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी वस्तुस्वातन्त्र्य बराबर बना हुआ है। निमित्तने कुछ नही किया, निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव कुछ भी उस पदार्थमें नही पहुचा। यह तो वस्तुस्वातंत्र्य है और निमित्तनैमित्तिक भाव यह है कि निमित्त सन्निधानमें यह आत्मा अपने आपमे अपनी परिणतिसे अपने लिए अपने उपादानको अपनेको रागरूप बनाता है। इससे कहा कि रागादिक भाव पौद्गलिक है। यद्यपि ये रागभाव मेरे आत्माके परिणमन चल रहे हैं, किन्तु कैसा निमित्तनैमित्तिक भाव का सदुपयोग बनाया कि यह बताया कि पुद्गल कर्मके निमित्तसे हुए है। अतः ये परभाव हैं निमित्तक है, आत्माके नही। देखो इस व्यवहारनयके सदुपयोगसे हम आत्मस्वभावकी ओर आयें। बात यह है कि हमे एक यह लक्ष्य बना लेना चाहिए कि स्वभावदृष्टि हमारे लिए सहाय है। मैं अपने आपके उस शुद्ध सहज ज्ञानस्वभावकी आराधनामें रहूं, मेरे करनेको यही एक काम है। यदि यह लक्ष्य बने तो ज्ञानी ऐसा खिलाडी हो जायगा कि किसी भी नयका वर्णन हो, सब नयोसे यह अपने स्वभावदृष्टिका सार खीच लेगा। अज्ञानियोको उसके लिए विवेक नही रहता। हम आप सबका एक लक्ष्य बन जाना चाहिए कि मैं अपने ज्ञानस्वभाव को देखूं, उसका आश्रय करूँ और संसारके संकटोसे मुक्त हो जाऊँ। देखो जैसे कहा है कि—

"जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥" अर्थात् जीव पृथक् है, पुद्गल पृथक् है, बस यह ही तत्त्व संग्रह है और फिर जितना भी वर्णन है वह सब उसका विस्तार है। करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग और प्रथमानुयोग—इन चारो अनुयोगोंका सार यही है कि हमें जानकारी हो जाय कि जीव तत्त्व तो यह है बाकी सब अजीव तत्त्व है। आत्मतत्त्व तो यह है, बाकी सब अनात्मतत्त्व है। हित तो इसमे है बाकी सब अहित है। यह बात हम करणानुयोगसे भी प्राप्त कर सकते है और द्रव्यानुयोग, प्रथमानुयोग, चरणानुयोगसे भी। सबमे एक यही सार निकला कि हम अनात्मतत्त्वसे हटकर अपने आत्मतत्त्वमे आयें। जिसका यह लक्ष्य बन जाता है। जिसका यह सकल्प हो जाता है कि मेरा हित किसमे है, उसे फिर विवाद नही होता।

( २५ ) **गुणदृष्टिकी उपयोगिता**—देखिये हम जैसी दृष्टि बनायेंगे वैसी हमारी सृष्टि होगी, तथा गुण और दोष देखना यह भी हमारी दृष्टिके आधारपर है। एक बार बादशाह ने अपने मंत्रीसे पूछा—मत्री जी, यह तो बताओ कि हमारे शहरके कितने लोग गुणग्राही हैं और कितने लोग दोषग्राही है ? तो मत्रीने बताया कि महाराज आपके शहरमे सभी तो दोषग्राही है और सभी गुणग्राही है। तो बादशाहने कहा कि यह कैसे ? जो गुणग्राही होगा

वह दोपग्राही कैसे ? और जो दोषग्राही होगा वह गुणग्राही कैसे ? तो मन्त्रीने क्या किया कि एक ही शक्ल-सूरतकी दो मूर्तियां बनवायी और एक दिन एक मूर्तिको किसी चौराहे पर रख दिया। नीचे लिख दिया कि इस मूर्तिमे जहां जिस अगमे जो दोष जिसे दिखे वह वहां निशान लगा दो। अब जो भी उधरसे निकले, सूचना पढे वही उस मूर्तिमे किसी न किसी जगह निशान लगा दे। किसीको नाक ठीक न दिखी, किसीको कान ठीक न दिखे, किसीको कुछ ठीक न दीखा। अब दूसरे दिन दूसरी मूर्तिको उसी जगह रख दिया और नीचे सूचना लिख दिया कि इस मूर्तिमे जिस व्यक्तिको जो अंग अच्छा दिखे वहां पर निशान लगा दे। लोग उधरसे निकलते जाते, सूचना पढते और नाक, कान, आंख आदि अगोमे निशान लगाते जाते। वे तो जो अग देखते वही सुहावना दिखता था। अब मन्त्रीने बादशाहको वे दोनो मूर्तियां दिखायी तो बादशाह मन्त्रीकी बुद्धिमत्ता पर बडा प्रसन्न हुआ। और समझ लिया कि वास्तवमे जब जिसकी जैसी दृष्टि होती है तब उसे वैसा दिखता है। जब किसीकी गुणमयी दृष्टि होती है तो उसे गुण नजर आते है और जब दोषमयी दृष्टि होती है तो उसे दोष नजर आते हैं। तो भाई अपनी दृष्टि निर्मल बनायें, अपनेमे गुण ग्रहण करनेका सकल्प बनाये आपको सार सबमे मिलेगा। ये सब विभाव हैं, ये नैमित्तिक हैं, मेरी चीज नही है, यह तो मैं ज्ञानस्वभावमात्र हू। एक ज्ञानस्वभावमात्रको निरखनेके लिए ये सब साधन हैं।

( २६ ) **ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके परिचयके अर्थ विभावविधानके एक तथ्यका दिग्दर्शन**—ज्ञानस्वभावमात्रके निरखनेके पात्र होनेके लिए थोडा इस ओरका भी चिन्तन करें। देखिये—जितना जो कुछ भी हमको बन्धन है, कर्मबन्धन है, कर्मका आस्रव होता है वह किस ढगसे होता है, ऐसा जानें। साक्षात् बात तो यह है कि जो नवीन कर्मोंका आस्रव होता है उनके आस्रवका निमित्त कारण है उदयमे आये हुए पुद्गल कर्म, किन्तु उदयमे आये हुए पुद्गल कर्ममे नवीन कमके आस्रव होनेका निमित्तपना आ जाय, इसमे निमित्त होते हैं रागद्वेप मोहभाव। तो बात यह बनी कि नवीन कर्मोंके आस्रवके मूल कारण हैं रागद्वेषभाव। ये कषाय भाव हम आपमे तीन प्रकारके अध्यवसानोमे जगते है। एक तो होता है करनेका अध्यवसान। मै अमुक पदार्थको करता हू, बाह्य पदार्थको करता हू। जिसको यह बोध नही कि मैं तो एक ज्ञप्ति क्रियाको करता हू। भीतरमे एक ज्ञानगुण है, स्वभाव है उस आधारपर मैं ज्ञानवृत्तिको करता हू। मै ज्ञानकी परिणतिको करता हू, बाह्य पदार्थोंको मैं नही कर रहा हू। फिर बाह्य तत्त्व कैसे बनते है ? बाह्य तत्त्व होते है निमित्तनैमित्तिक योग से। निमित्तनैमित्तिक योग कही न मिटेगा। ससारकी व्यवस्था चल रही है, मगर प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी कलासे अपने आप उत्पाद व्यय करता रहता है। किसीके परिणमनको

कोई कर नही सकता। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तु स्वतंत्र है इस प्रकारका ज्ञान करने वाला व्यक्ति अपने स्वभावका आश्रय करनेमे समर्थ हो जाता है। ऐसा लगता है कि मै तो बहुत ठीक चल रहा हूं, लेकिन किसी भी विषयका कोई अज्ञान हो अथवा कोई जानकारी नही मिल रही है, तो बात क्या होती है कि जो रागद्वेषादिक भाव है, जो हमारे तीन प्रकारके अध्यवसान आते है, उनकी क्रियाका स्वामित्व अपनेमें लाद लेता है कि मैं कर्मको करता हूं, मै अमुकको करता हूं। वहां यह न निरखना चाहिए। वहां यह सोचना चाहिए कि मै अपने ज्ञानके परिणमनको करता हूँ। दूसरा अध्यवसाय होता है मैं नारकी हूं, तिर्यंच हूँ, पशु, पक्षी हूं, फलानेका पुत्र हूँ, किसी भी प्रकारका जो एक अनात्मतत्त्वका ख्याल किया है वह कहलाया विपाक। इस विपाकमे स्वका अध्यवसाय कर लेता है। मैं मनुष्य हूं, अमुकका पिता हूं, बाबा हूं आदिक। देखो जो बातें चल रही है, चलें जब तक चलना हो, मगर भीतरमे श्रद्धा ऐसी हो कि भीतरमे जो एक ध्रुव है उसको लक्ष्यमे लेकर देखिये कि मैं क्या हूं ? मैं हूं एक ज्ञायकस्वभाव, ऐसा अपना विश्वास बनायें। रह रहे है, प्रवृत्तियां चल रही हैं, मगर दृष्टि ऐसी रहे कि मैं एक अहेतुक ज्ञायकस्वरूप हूँ। तीसरे प्रकार का अध्यवसाय होता है एक ज्ञानसम्बधित अध्यवसाय। जैसे इस पदार्थको हम जान रहे हैं तो जाननेके साथ यह अनुभव कर लिया कि जिसको जाना उसका अनुभव मात्र हूं मैं। इस अध्यवसायमें यह नही मान पाता कि मैं उपयोगमात्र हूं। मैं उपयोग मात्र हूं---ऐसा बताया गया है जहां वहां यह शंका की गई कि कुछ पुरुष ऐसा सोचते है कि मैं कालद्रव्य हूँ, अधर्म-द्रव्य हूँ, पुद्गलद्रव्य हूँ, आकाशद्रव्य हूँ, धर्मद्रव्य हूं। कभी-कभी परिजनको भी सोचने लगते है कि ये मैं हूं, तो पुद्गलमे तो मोही सोच ले, मगर धर्म, अधर्म, आकाश जैसे द्रव्यको तो नही सोचते। समाधान---भाई धर्म, अधर्म, आकाश, कालके विषयमे जो विकल्प किया जा रहा है उस विकल्पको आपा माननेसे वहां भी अध्यवसाय बन जाता है। सो देखिये जब कभी चर्चाके प्रसंगमें विवाद होता है, कभी कभी भीतरमें क्रोध जगता है, वह क्यो जगता है ? वह विकल्प परिग्रह बनाने से जगता है। जो मेरा विकल्प है बस यह ही मै हूँ, ऐसा सोचा तब कोई विकल्पके विरुद्ध चले तो लगता है कि यह मेरेको मार रहा है। सो भैया ! ज्ञेयाध्यवसाय भी आस्रवहेतु है। मैं तो एक ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानाकार हूँ, मै ज्ञेयाकाररूप नही, मै तो एक शाश्वत ज्ञानमात्र हूँ। इस बोधके द्वारा हम अध्यवसानोका परित्याग करें। जब ये अध्यवसान छूटते हैं तब समझ लीजिए कि हम कल्याणके पात्र है।

(२७) **अखण्ड भूतार्थकी दृष्टिमें द्रष्टाकी कल्याणपात्रता**---देखो जो एक अखण्ड ज्ञायक स्वरूप है जिसे शुद्धनयका विषय कहते हैं, वह है भूतार्थ, स्वार्थ और नैमित्तिकभाव, भेदभाव

ये सब है अभूतार्थ । जो निरपेक्षतया अपने तत्त्वके कारण मैं हूं उसे जानना कहते है भूतार्थ । जो स्वयं अपने आपके सत्मे निरपेक्षतया न हो उसे कहते है अभूतार्थ । जितने भी विभाव आदिक उत्पन्न होते हैं वे सब हैं अभूतार्थ । अगर एक पदार्थको दूसरा पदार्थ कुछ कर दे तो बतावो वह स्वयं क्या रहा, और वह दूसरा पदार्थ भी क्या रहा ? इस तरहसे तो सारा जगत शून्य हो जायगा । आज भी जगत बना है वह इस बातको सिद्ध करता है कि कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कुछ नहीं कर सकता । निमित्तनैमित्तिक सम्बंध इस तरह चल रहा है । देखिये हम आप इस मनुष्य पर्यायमे आज आये हैं । ऐसा श्रेष्ठ मनुष्यभव मिला है कि यदि चाहे तो सदाके लिए जन्म मरणके सकटोंसे छुटकारा प्राप्त कर लें । यहां हम आपको वही करना चाहिए जिससे अपना कल्याण हो । इसके लिए थोड़ा कर्तव्य यही है कि अपने आत्मतत्त्वका सही-सही निर्णय करके एक अपने सहज ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करें । अगर ऐसा कर सके तो समझो अपना कल्याण है ।

( २८ ) शान्तिका उपाय धर्मधारण—शान्तिका कारण क्या है, इस सम्बंधमे अनेक वितर्क विचार अनुभवके बाद यह निर्णय पायेंगे कि शान्तिका कारण है धर्मधारण । धर्मधारण क्या वस्तु कहलाती है ? इस सम्बंधमे शब्दकी ओरसे ही जानकारी बनायें । धर्मधारण, धर्म का धारण । धर्म क्या चीज है ? आत्माका धर्म । आत्माका जो स्वभाव है सो धर्म है । वस्तु का जो स्वभाव है वह आत्माका धर्म है । लोकमें भी लोग कहते हैं कि इसने अपने स्वभावको छोड़ दिया । और, उसकी निन्दा बनाते हैं । इस चीजने, इस पदार्थने अपने स्वभावको छोड़ दिया, इसलिए तकलीफ हुई, ऐसा लोग बोला करते हैं । आत्माने अपने स्वभावको छोड़ दिया इसलिए दुःखी है । अब देखो स्वभाव कभी छूटता नही है । स्वभाव तो स्वरूप है, छोड़ेगा कैसे यह आत्मा उसे ? अगर आत्मा अपने ज्ञानस्वभावके विपरीत कार्य करने लगे तो इसीके मायने हैं कि आत्माने अपने स्वभावको छोड दिया । तो स्वभाव क्या ? स्वभाव कहते किसे हैं ? वस्तुका जो सहज भाव है अर्थात् जबसे वस्तु है तबसे ही जो भाव है, जब तक वस्तु रहेगी तब तक जो भाव रहेगा उसे कहते हैं स्वभाव । सहजका अर्थ क्या है ? सह जायते इति सहज, जो साथ साथ हो उसे सहज कहते हैं । तो क्या यह उत्पन्न हुआ ? नही । वस्तु क्या उत्पन्न हुई ? नही । जबसे वस्तु है तबसे ही वह भाव है । इसलिए वह सहजभाव कहलाता है । तो मैं आत्मा क्या किसीके द्वारा पैदा किया गया था ? देखो जो लोग कर्तृत्वकी बात कहते हैं कि ईश्वर करता है या और कोई करता है, और लोग ऐसा भी कहते है कि जो असत् है उसका कभी सद्भाव नही होता जो सत् है उसका कभी विनाश न होगा । अब आप सोचिये कि यह परस्पर विरुद्धसी बात हो गई ना ? एक ओर तो कहते हैं कि जो

है उसका कभी अभाव नही होता, जो नही है उसका कभी सद्भाव नही होता, फिर बनानेकी बात कहांसे आये ? तो अपना एक यह निर्णय करें कि मै आत्मा हूँ तो सदा से हूं, सदा तक रहूंगा, क्योंकि सत्ताका अभाव नही होता। तो वह मैं आत्मा किस रूप हूँ जो सदासे है और सदा तक रहेगा ? चेतनारूप प्रतिभासरूप जानना देखना समझना, यह बात जिसमे हुआ करती है उसीको तो आत्मा कहते है और उस बातको प्रायः सब लोग जानते हैं। कोई पुरुष अगर भीतको लाठी मार रहा हो तो उस मारने वाले को कोई नही छेड़ता और अगर किसी कुत्तेको कोई मार रहा हो तो लोग कह बैठते हैं कि भाई क्यो इस कुत्तेको मारते हो ? मतलब यह है कि प्रायः सभीको यह मालूम है, कि इस कुत्तेमे जान है, समझ है, ज्ञान है। जिसमे ज्ञान है वही तो आत्मा है। तो मेरेमें ज्ञानस्वभाव, जाननेका स्वभाव, प्रतिभास स्वभाव अनादिसे है, अनन्तकाल तक है, वही मेरा धर्म है। मेरा चेतन, मेरा ज्ञानस्वभाव मेरा धर्म है। अब इस धर्ममे हम रहते नही, विषय कषाय इच्छा आदि बाहरी बातोमें अपना लगाव रखते है, इसीके मायने हैं कि मैने अपना धर्म छोड़ दिया। धर्म छोड़ दिया तो हम दुःखी होंगे और धर्मको ग्रहण कर लिया तो हम शान्त हो जायेंगे।

(२६) **धर्मधारणके प्रारम्भिक विधानके करनेकी प्रस्तावना**—धर्मको किसके द्वारा हम ग्रहण करेंगे ? आत्माके हाथ पैर है नही। ग्रहण करता नही, तो किसके द्वारा ग्रहण करेगा ? ज्ञानमें स्वभावकी बात आ जाय, ज्ञानमें यह ज्ञानस्वभाव समा जाय याने यह ज्ञान सुधारस पीता है तो वह स्वधर्मका ग्रहण करता है। इस धर्मधारणके फलमें इसको कभी अशान्ति नही मिल सकती। तो उस धर्मधारणकी क्या रीति है ? इस सम्बन्धमे भी सुनो। किसको सुनाना है ? धर्मधारण किसको करानेकी बात कही जा रही है ? इस भूले भटके संसारी दुःखी प्राणीको। तो जो भूले भटके प्राणी हैं इनकी पहिले श्रद्धा तो निरखो कि क्या है ? तब यह रास्ता मिलेगा कि धर्मधारण किस तरह कर सकेंगे ? यह भूला भटका संसारी प्राणी क्या कर रहा है ? यह देहमें आत्मबुद्धि कर रहा है। इस शरीरको ही मानता है कि यह मै हूँ। इसही मान्यताके कारण यह नाना शरीरोमे बंधता फिर रहा है। यह आत्मा अपनी भूलके कारण आजकल इस शरीरके बंधनमे फंसा है। यह असली काम कहाँ कर रहा है ? इस शरीरके फँसावमे ही राजी है यह तो इसी लिए इसको ये शरीर मिलते जा रहे हैं। आखिर हम आप भगवान स्वरूप ही तो हैं, जिस बातकी हमे श्रद्धा होगी क्या उसे हम पा न सकेंगे ? अरे हम आपमें तो इतनी बडी शक्ति है कि जिसमें राजी हो उसे पाते रहें। जो शरीरके बन्धनमे राजी है इसलिए उन्हें शरीर मिलते जा रहे है। यही हमारे दुःखका कारण बन रहा है। भले ही दुःखके कारण हों, मगर जब यह प्रभु दुःखके कारणमे राजी हो गया

तो चलो दु खके कारण मिलते ही रहेगे ।

हम आपकी दशा इस समय बडी दयनीय है । परवस्तुको अपनी मानते है, परवस्तु तो पर ही है वे हमारे आधीन नही है । वे हमारी इच्छासे अनुकूल परिणमते नही हैं । हम दु.खी होते हैं । जैसे बच्चे लोग व्यर्थकी बातोमे दुःखी होते हैं । कोई एक बालक था । उसके सामनेसे एक हाथी निकला तो उसने अपने पितासे कहा—पिता जी मुझे हाथी ला दो । (अब हाथी तो हजारो लाखो रुपयोमे मिलता है, कैसे ला दें ? तो पिताने महावतको दो चार रुपये देकर अपनी दुकानके सामने हाथी खडा करवा दिया और कहा–लो बेटा हाथी आ गया । बालक बोला—पिता जी इसे तो खरीद दो और अपने बाड़ेमे खड़ा करा दो । पिताने महावत को फिर दो चार रुपये दिये, हाथीको बाडेमे खड़ा करवा दिया और कहा—लो बेटे हाथी खरीद दिया । बालक फिर बोला—पिता जी अब इस हाथीको मेरी जेबमे भर दो । (भला बतलाओ हाथीको जेबमे कौन भर सकेगा ? ) आखिर जब पिता उस हाथीको जेबमे न भर सका तो बालक रोता है, दुःखी होता है । भला बतलाओ बालककी उस हठको कौन पूरा कर सके ? उस हठके ही कारण वह बालक दुःखी होता है । ठीक ऐसे ही इन संसारी अज्ञानी प्राणियोने परवस्तुओके पीछे बडा तेज हठ कर लिया है । आखिर परवस्तुका परिणमन उन के अनुकूल होता नही है। परिणमन उनके मनके अनुकूल हो भी कैसे ? परपदार्थ तो आखिर पर ही हैं । आखिर ये संसारी प्राणी उन परवस्तुओके पीछे हठ करके दु खी होते हैं । भला बतलाओ उनका यह दु ख कैसे मिटे ? वह दुःख मिटेगा धर्मधारण करने से ।

(३०) **धर्मधारणका प्रारम्भिक विधान**—धर्मधारणका अर्थ क्या है ? अपने आप का जो एक चैतन्यस्वभाव है, प्रतिभासस्वरूप है, ज्ञानमात्र है, विज्ञान प्रकाश है उसे अपनायें, उसमे ही तृप्त हो, उसमे ही रमे तो हम धर्मधारण कर सकेंगे । यह काम किस तरहसे कर सकेंगे, उसकी रीति यहाँ बतला रहे है । देखो जो व्यक्ति रास्ता भूल गया हो उसे उस सही रास्तेमे आनेके लिए पहिले क्या करना होगा कि जितना वह रास्ता भूल गया है उतना लौट कर वापिस आये । तो इसी प्रकारसे ये संसारी प्राणी अपना सही मार्ग भूल चुके हैं, जिससे वे ससारमे दुःखी होते फिर रहे है । इस दुःखको मिटानेके लिए उन्हे सही रास्तेपर आना होगा । सही रास्तेपर आनेके लिए सबसे पहिले उन्हे क्या करना होगा कि जितना भूल गए हैं उतना वापिस लौट आयें, अर्थात् परपदार्थोंमे जो 'यह मै हूँ' यह भ्रम कर रहे है तो पहिले अपनी इस श्रद्धाको छोडें । तब ही धर्मधारणका सही रास्ता मिल सकेगा । देखो जितना हम भूल चुके हैं उतना लौटकर आना हमारा सबसे पहिला काम है । लौटकर आना, किसके द्वारा आना ? ज्ञान द्वारा । ज्ञानकी गलीसे हम भटक गए थे, ज्ञानका सही रास्ता मिल जाय तो

हमारी संसारकी भटकन समाप्त हो जाय। हम अपना ज्ञान सही बनाकर सही रास्तेमे आयें तो हम शान्तिके पथपर आ सकते है। यह बात किसको कही जा रही? इस भूले भटके संसारी प्राणीको। यह भूला भटका ससारी प्राणी पहिले तो यह ही विश्वास रख रहा है कि मुझे घरसे सुख होता, धनसे सुख होता। इसीलिए तो वे घर बनाना चाहते, धन जोडना चाहते। इन परपदार्थोके प्रति संसारी प्राणियोको ममता हो गई है। अरे भाई अपने अन्दर तो यह श्रद्धा लानी होगी कि यह घर तो जेल है, कटघरा है। ये धन वैभव आदि बेडी है। ये सब तो दु खके ही हेतुभूत है। यहाँ मुझे कुछ न चाहिए, ये तो जेलखाना है। मेरेको तो केवल ज्ञानस्वरूपप्रकाश चाहिए, ऐसी मानसिक तैयारी धर्मधारणका प्रारभिक विधान है।

(३१) **ज्ञानप्रकाशका प्रत्येक परिस्थितिमें प्रसाद**—अब रही एक समस्याकी बात यह कि आज कदाचित् स्थिति ऐसी है कि घरमे रहना पड रहा है, कमाई करना पड़ रहा है, लोगोंसे प्रेम व्यवहार रखना पड़ रहा है, तो ठीक है, ऐसा करें, पर श्रद्धामे ऐसा लायें कि ऐसी ही चक्की हम आपकी अनादि कालसे चल रही है। जैसे घूमते हुए चाकसे डंडा हटा लिया जाय फिर भी चाक कुछ समय तक यो ही घूमता रहता है ऐसे ही श्रद्धा सही बन जाने के बाद भी कुछ समय तक यह संसारचक्र चलता रहेगा। दूसरी बात यह है कि जिसकी श्रद्धा है, भीतरमे धारणा है वह इस गृहस्थीके कामोको करता हुआ भी अंतरंगमे प्रसन्न है। आप मनमे यह शंका न रखें कि गृहस्थीमें रहकर यह धर्म धारणकी बात, ज्ञानको रखनेकी बात कैसे बन सकती है? यह तो आंखो देखी बात है कि कर कुछ रहे हैं, भाव कुछ रहता है। जैसे मुनीमका दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। मुनीम किसी फर्ममें काम करता है हजारो लाखों रूपयोका लेन देन करता है। वह यह भी कहता है कि हमारा तुमपर इतना है, तुम्हारा हम पर इतना, हमारे पास इस समय इतना माल है, हमे इतना लाभ हुआ...., पर उसकी श्रद्धामे यह बात बसी हुई है कि हमारा यह कुछ नही है, यह तो सब सेठका है। हमे तो जो १००-१५०) माहवार मिल जाते है, बस वही मेरे है। अथवा दूसरा दृष्टांत देखिये—कोई ससुराल जाने वाली लड़की २०-२५ बार मानो मायकेसे ससुराल और ससुरालसे मायके हो आयी है, पर जब अगली बार ससुराल जाती है तो यद्यपि पहिलेसे ही ससुराल चिट्ठी भेज देती है कि अब घरमे काम काफी होगा, मुझे लिवा ले जावो, पर ससुराल जाते समय वह पहिलेकी ही भांति रोती है। बताओ उसे वास्तवमें ससुराल जानेमे दुःख होता है क्या? अरे वह तो खुशी-खुशीसे जाती है, पर बाहरी दिखावेमे वह रोती रहती है। भला बतलाओ वह अन्दरसे तो प्रसन्न है और बाहरसे रोती है तो क्या उसका रोना कहा जायगा? रोना न कहा जायगा। ठीक इसी प्रकार कोई ज्ञानी गृहस्थ जो कि घरमे रह रहा है तो यद्यपि गृहस्थीके सारे कार्य

वह करता है, पर क्या करता हुआ भी नही कर रहा है, क्योकि उसके चित्तमे यह बात बराबर बसी रहती है कि मेरे करने लायक ये काम वास्तवमे है नही। परिस्थितिवश मुझे करना पडा रहा है। एक दृष्टान्त यहाँ और लीजिए—विवाह शादियोके प्रसंगमे जब घुडचडी होती है, दूल्हा अपने गाँवमे बडे जुलूसके साथ घोडेपर बैठकर जाता है, वहाँ गाँवकी सारी स्त्रियोका बुलावा होता है। वे स्त्रिया खूब उछल उछलकर गाने गाती है—मेरा दूल्हा मेरा बना, राम लखन सी जोडी आदि…। बहुत बहुत गीत गाती है और खुश होती है और उधर दूल्हेकी मांको तो एक मिनटकी भी फुरसत नही है। किसीको कुछ देना, किसीको बुलाना, किसीको खिलाना आदि अनेक काम मांको रहते है। उसे गाने बजाने, खुश होनेका मौका ही नही मिलता, पर बताओ कदाचित् वह दूल्हा घोडेसे गिर जाय, उसकी टाग टूट जाय तो दुखी कौन होगा? वे गाँवकी स्त्रियाँ दुखी होगी या उस दूल्हेकी माता? अरे माता ही दुःखी होगी। वे गाँवकी स्त्रियाँ तो सिर्फ छटाक आधी छटाक बताशोके लिए इतना खुशीके गीत गा रही है। तो भाई ऐसे ही समझिये कि हम आपको उन गाँवकी स्त्रियोकी भाँति इस गृहस्थोके बीच काम करना पड रहा है पर इन नटखटोमे पडनेका मेरा कर्तव्य न था। श्रद्धामे यह बात बनी रहे तो समझो कि सब कुछ करते हुए भी आप कुछ नही कर रहे हैं। और, घर गृहस्थीके बीच रहकर भूख प्यास भी लगती है, सारे काम भी करने पडते हैं, सब कुछ करते हुए भी चित्तमे अपना वह ज्ञातस्वभाव समाया हुआ हो तो समझिये कि आप कृतकृत्य है। यदि ज्ञानस्वभाव चित्तमे समाया है तो समझिये कि मुझे किसी बातकी तकलीफ ही नही है। मुझे बाहरमे करनेको कुछ पडा ही नही है। मैं जो कुछ कर रहा हू वह अपने आपमे कर रहा हू। ज्ञानको करता हू, ज्ञानको भोगता हू, ऐसी उस ज्ञानी पुरुषकी दृष्टि लगी हुई है जिसके बलपर वह अन्त प्रसन्न रहा करता है।

(३२) **धर्मधारणके विधानमे विवेकका सहयोग**—भाई यहा धर्मधारणकी बात कही जा रही है कि धर्म एक ऐसी चीज है कि यदि धर्म धारण कर लिया जाय तो आपका जीवन सफल हो गया यह समझिये। जिसकी जैसी दृष्टि है उसपर वैसी बीतती है। यदि दृष्टि अपवित्र रहे तो यहाँ अपवित्रता रहती है और यदि दृष्टि पवित्र रहे तो यहा पवित्रता रहती है। अगर दृष्टि ज्ञानस्वभावकी ओर लगी है तो वहाँ पवित्रता बर्तती है। उसके अनुसार इसे आनन्द मिलता है। कितना आनन्द मिलता है? क्या लाख करोड रुपयोसे मिलने वाले आनन्दके बराबर? क्या यहाँकी इज्जत प्रतिष्ठाके बराबर? अरे ये तो दु.खके ही कारण है। इनमे आनन्दका नाम नही। तो क्या पुत्रके सपूत होने बराबर आनन्द मिलता है? पुत्रके सपूत होनेमे भी क्या आनन्द? जो दुख कुपूत होनेमे है वही दु.ख सपूत होनेमे है। बल्कि

कुपूत हुआ तो उसे छोड़ दिया, सबको सूचित कर दिया कि अब यह कुछ भी करे, यह मेरा पुत्र नही, लो उससे फुरसत मिल गई, पर सपूत हुआ तो जिन्दगीभर उसके पीछे हैरान होते रहते है। लोग सोचते है कि मैं ऐसा मकान खड़ा कर दू, ऐसा धन जोड़ दू, ऐसे आरामके साधन बना दूं कि मेरे पुत्रको कभी तकलीफ न हो। यो सपूतके पीछे जिन्दगीभर दुःखी होना पड़ता है। इज्जत प्रतिष्ठाकी बात ऐसी है कि इज्जत बढ़ जानेपर फिर उसकी सम्हालके लिए रात-दिन चिन्तित रहना पडता है। कदाचित् इज्जतमे कमी हुई तो वहां आत्महत्या तक करनी पड़ती है। तो इज्जत मिलनेमें भी सुख नही। और जिसे इज्जत नही मिलती वह दूसरोंकी इज्जत देखकर मन ही मन कुढ कुढ़कर दुःखी होता रहता है। तो संसारकी कोई ऐसी स्थिति नही जिसमे दुःख न हो। आनन्द तो केवल धर्मधारणमें है, केवल एक स्वभाव-दर्शनमें आनन्द है। अन्य बाहरी बातोको छोडकर अन्तःज्ञानप्रकाशका अनुभव करनेमे आनन्द है। हम भगवानकी पूजा क्यों करते है? इसलिए कि जिस आनन्दको उन्होने जिस विधिसे प्राप्त किया वही आनंद उस विधिसे हमें भी प्राप्त होगा। जैसी उनकी स्थिति है, जैसा उनका पवित्र आनन्द है वैसा ही मुझे प्राप्त हो, इस स्वार्थसे हम प्रभुकी पूजा करते है। कही इसलिए नही पूजते कि ये पूज्य है और हम इनके भक्त है। जिसका ऐसा ध्यान बनेगा वह अपनी उस प्रभुताको पा लेगा। तो हमको शान्ति मिल सकती है एक धर्मधारणसे। देखो ज्ञानी होनेका बड़ा महत्त्व है। ज्ञानी गृहस्थ घरके बीच रह रहा है, बच्चोका पालन पोषण भी कर रहा है, सारे काम कर रहा है फिर भी वह अन्तःप्रसन्न रहता है।

(३३) **धर्मधारणमें चहुँमुखी लाभ**—और भी सुनो—मरणके बाद जब तक ज्ञानी पुरुषको संसारमे रहना पड़ेगा तब तक उसे पुण्यके कारण वैभव भी मिलेगा, इज्जत भी होगी, बड़ी बडी बातें भी होगी। तो बतलाओ ज्ञानी होनेमे सांसारिक चीजोमे कोई टोटा है क्या? बल्कि फायदा यह है कि उसकी समाधि बनेगी, अनाकुलता प्राप्त होगी। जैसे किसान लोग भुस पैदा करनेके उद्देश्यसे खेती नही करते। उनका उद्देश्य होता है अनाज पैदा करनेका। भुस तो उन्हे स्वयमेव प्राप्त होता है। यदि कोई किसान भुस पैदा करनेके उद्देश्यसे खेती करे तो उसे मूर्ख कहा गया है। ठीक ऐसे ही ज्ञानी पुरुष धर्म करता है संसारके संकटोसे छुटकारा प्राप्त करनेके उद्देश्यसे, न कि सांसारिक वैभव प्राप्त करनेके उद्देश्यसे, पर उसे ये चीजें स्वयमेव ही प्राप्त होती है। चक्रवर्ती इन्द्रादिकके पद उसे स्वयमेव भुसकी तरहसे प्राप्त होते है। तो भाई धर्मधारणका अपना हिसाब बनाओ और अपने चित्तको ऐसा बनाओ कि मेरेको राग, द्वेष, क्रोध, मान आदिक विकार करने लायक यहाँ कोई काम नही है। मैं तो अपने ज्ञानस्वरूपको समझ लू और उसही को दृष्टिमें लिए रहूं, बस यह ज्ञान-

स्वरूप, यह सहजज्ञानभाव, यह अन्तःदृष्टि, यही मेरे लिए सब कुछ है और इसका ही शरण गहना वास्तविक है। देखिये णमोकारमंत्र और चत्तारिदण्डकको पढ़िये—वहाँ किसको नमस्कार किया गया है ? किसे मंगल, किसे लोकोत्तम और किसे शरणभूत बताया गया है ? देखिये णमोकार-मन्त्रमे कोई पक्षपातकी बात ही नही है। वहाँ तो आत्माके गुणोको नमस्कार किया गया है, किसी व्यक्तिको उसमें नमस्कार नही किया गया। जिन साधुवोंने ज्ञानका मार्ग पाया उन साधुवोको नमस्कार किया गया है। उन साधुवोमे जो पढ़ाने वाले साधु हैं उन्हे उपाध्याय कहा गया है। ऐसे उपाध्यायोको नमस्कार किया गया है। जो उन साधुवोको शिक्षा दीक्षा देने वाले है ऐसे आचार्योंको नमस्कार किया गया है। जो साधु अपनी समाधिमे उत्कृष्टता पाते है, जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द और अनन्त शक्ति प्रकट होती है, जो अभी तक शरीर सहित होते है, ऐसे अरहंतदेवको नमस्कार किया है और जब शरीर भी छूट गया, केवल आत्मा ही ज्ञानमात्र रह गया उसीके मायने सिद्ध हैं तो उस सिद्धको नमस्कार किया है। इसी प्रकार चत्तारिदण्डकमे अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्रणीत धर्मको मंगल कहा है, उन्हीको लोकोत्तम कहा है और उन्हींको शरणभूत कहा है। बतलावो णमोकार मंत्र और चत्तारिदण्डकमे कहाँ कोई पक्षपात है ? देखो इस णमोकार-मन्त्र और चत्तारिदण्डकको पढ़ें, उसीका चिन्तन करें और अपने अन्तःविराजमान आत्मदेवमे उन ही गुणोका समावेश करें। यही हम-आपके लिए सारभूत बात है।

(३४) **हितार्थ अत्यावश्यक दो निर्णय**—मैं कौन हू और क्या करता रहता हूँ ? इन दो बातोका निर्णय शान्तिके लिए बहुत साधक है। मै कौन हूँ—यह बात समझनेके लिए इन्द्रियका व्यापार बन्द करके अपने आपके अंतः अभिमुख उपयोग बनाकर निरखने पर यह विदित होगा कि मै ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानघन हू। ज्ञान ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। ज्ञानमय ही आत्मा है, ऐसा यह मै ज्ञानस्वरूप मै आतमा क्या किया करता रहता हूँ ? तो सीधा उत्तर यह है कि मै जानता रहता हूँ। अब यह जानना अभी विकल्पात्मक होनेसे कुछ कल्पनास्वरूप हो गया है, पर कल्पना होनेपर भी आखिर यह ज्ञानकी ही तो कोई बात है। तो मै जानता रहता हू। जाननेमे भी क्या किया करता हू ? बस कल्पना यें ही करता चला आ रहा हू। यही स्थिति आज तक रही। जिन जीवोके मन नही है या जब मेरी ऐसी स्थिति थी कि मै एकेन्द्रिय था तब भी मै मनकृत कल्पनायें तो नही बना सका, किन्तु आहार, भय, मैथुन, परिग्रह—इन चार संज्ञाओके कारण इस ज्ञानका कुछ ऐसा ही परिणमन चल रहा था। तो यहाँ भी ज्ञानसिवाय और क्या करनेमें समर्थ है ? अद्वैतवादमे बताया गया है कि यह चेतन तो क्रोधादिक नही करता है किन्तु क्रोधादिक तो प्रकृतिके विकार है और यह बुद्धि

से अध्यवसित अर्थको चेतता रहता है। भले ही एकान्तवाद होनेसे वह अग्राह्य हो गया, लेकिन फिर भी जिस दृष्टिसे कहा गया है उस दृष्टिसे सुनकर हमें यह शिक्षा मिल सकती है कि विकार मेरे स्वरूप नही हैं। अब देखिये—सर्व दृष्टियोंसे सुनना, सबकी सुनना, तत्त्व विषयक बात सुननेमें अक्षमता न मानना और यह निर्णय बनाना कि मेरा तो स्वभाव दृष्टि ही एक कर्तव्य है। समयसारमे बताया गया है कि "उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं। ण तु मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को।" इसीसे सम्बंधित जब ज्ञानीका स्वरूप बताया है तो उसकी टीकामें स्पष्ट किया है कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकार आत्माके स्वभाव नही है, ये कर्मकृत है। तो देखो जो अद्वैतवादियोने बात कही तो कुछ दिमागमें आया कि नही। समयसारमे जो परभाव बतानेके प्रसंग है वहाँ सर्व जगह यही बात विदित होगी, यह है कर्मका परिणाम और जब यह जीव उपयुक्त होता है तब यह क्रोधी कहलाना है। जैसे बाह्य पदार्थके ज्ञानमे क्या होता है ? एक झलक लिया। यहाँ कर्मविपाकसे आच्छन्न होनेमे कुछ और प्रकारकी झलक मिलती है। जीवके इन परिणामों को कर्म नही करते हैं। कर्म तो अपने आपमें करता है, किन्तु कर्मविपाकके सन्निधान बिना ये जीवविकार हो नहीं सकते। सुननेमें लगता होगा तो परस्पर विरुद्ध बातें है। लेकिन जब जिस दृष्टिसे निरखते हैं तब उस दृष्टिसे उसका रहस्य विदित होता है। खैर कुछ भी नही, यह निश्चित है कि क्रोधादिक रागादिक विकार इनका सम्बंध पुद्गलसे है, तो ये पुद्गलमे ही जाओ। मैं तो आत्मा शुद्धस्वरूप रहूगा। तब ही तो कहते है कि शुद्ध नयसे च्युत न होना चाहिए। 'इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि। नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि॥' स्वभावको शुद्ध निरखनेका प्रयास बनाओ। मेरे लिए शरण एक यह ही भाव है, अन्य स्थिति, अन्य उपयोग ये मेरे लिए शरण नही हो सकते। मैं क्या करता रहता हूं—इस विषयपर बात चल रही है। मैं अपना उपयोग करता रहता हूं। बस उपयोग किया करता हूं। अनादिसे यही करता आया हूं और यही करता जाऊँगा। बस उपयोगमे यही बात रहे। उसमें कमजोरी नही हो। कमजोरी तो मैं जान-जानकर किया करता हूं, कल्पनायें करता चलता हूं। सो भी इसके अतिरिक्त मैं और कुछ करनेमे समर्थ नही हू।

(३५) शब्द और देहव्यापारके उदाहरणसे निमित्तनैमित्तिक भावका विश्लेषण—देखिये—देखनेमे तो ऐसा लगता होगा कि हम बोलते तो हैं। याने यह ज्ञानस्वरूप आत्मा बोलता तो है। पर ऐसी बात नही है। आत्मा बोलता नही है। देखिये निमित्तनैमित्तिक भावसे यह सब बात चल रही है। निमित्तनैमित्तिक भावका दमन करनेकी आवश्यकता नही है, क्योंकि निमित्तसे भी निराला और नैमित्तिकसे भी निराला इस तरहका परिचय किया ज।

सकता है। ये जो शब्द निकलते हैं ये क्या है ? ये भाषावर्गणाके परिणमन है। ये भाषावर्गणा के परिणमन कैसे निकल आये ? इनका निमित्त क्या है ? वह दाँत, कठ, ओठ, जिह्वा आदिक का सम्बध, इनका स्पर्श, इनका संयोग यह है भाषावर्गणाका परिणमन, शब्दरूप उस परिणमनका निमित्त। है यह सब मुखके उपाङ्ग। तब ही तो देखो कैसी ठीक व्यवस्था बनी है कि ओठमे ओठ मिलाया तो प फ ब भ म आदि शब्द निकलने लगते हैं। जिह्वाको दांतोमे लगाया तो त थ द ध आदि शब्द निकलने लगते है। जिह्वाको अगर ऊपर मसूढोमे लगा दिया तो ट ठ ड ढ आदि शब्द निकलने लगते है। इन शब्दोके निकलनेके ऐसे ही स्थान है। यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि अच्छा यदि मैं शब्द नही बोलता हू तो ओठोको तो चलाता हू। पर भाई ओठ भी तुम नही चलाते, शरीरमे इस प्रकारकी वायु चली, उस ढंगसे ये ओठ जिह्वा आदिक चले। तो जिह्वा आदिकके इस प्रकारके हलनका निमित्त है शरीरकी वायुकी धडकन। अच्छा तो सही। शरीरकी वायुकी धडकन तो मैं करने वाला हू ? नही भाई, नही। शरीर की वायुकी जो धडकन हुई है वह भी आत्माके प्रदेशोका जो परिस्पंद हुआ यह परिस्पद इस वायुके ससरणका निमित्त हुआ है। अच्छा यह ही सही। अब यह बतलाओ कि आत्माके प्रदेशो का इस तरहसे परिस्पद कैसे हो गया है ? तो सुनों—आत्मामे इच्छा हुई, जिस ढंगकी इच्छा हुई, जिस ढगका कम्पन हुआ, उसी अनुकूलताको लिए हुए निमित्तनैमित्तिक बात हो होकर यह शब्द वर्गणाओकी निष्पत्ति हुई। अच्छा, तो मैं इच्छा करने वाला रहा। और इच्छाके साथ लगा है ज्ञान। तो ज्ञान और इच्छा यहाँ तक तो मेरी करतूत हुई, इसके आगे मेरी करतूत नही है। और, तो सब निमित्तनैमित्तिक भावमे जैसा जो कुछ विधान है वह होता जा रहा है।

(३६) **पारस्परिकतामें भी वस्तुस्वातन्त्र्यका दिग्दर्शन**—मैं तो एक जाननेका काम करने वाला हू। कर्मविपाक निमित्त बना तो इच्छायें कर रहा हू। इष्ट अनिष्ट कल्पनायें जगी, हमने अपराध किया। इतना अपराध होनेपर भी मै परवस्तुका कर्ता नही हू। किन्तु अपने आपके प्रदेशमे अपने-अपने आपका ही सब कुछ कर रहा हू। तो जब हम जगतके किसी बाह्य पदार्थका कुछ कर नही सकते तब इतने विकल्प क्यो किए जा रहे है ? यह सब क्या है ? अज्ञान है। समयसारमे बताया है कि "णिदिय सथु इवयणाणि पुग्गला बहुविहा परिणमति। ताणि सुणिऊग रूसदि तूसदि अहं पुणो भणिदो।" ये निदा और स्तुतिके वचन ये पुद्गलके नाना परिणमन हैं, इनको सुनकर यह मोही यों समझकर कि यह मुझको कहा है तो रुष्ट होता है, तुष्ट होता है, इनके सम्पर्कमे जीव विलष्ट होता है, यह कल्पनायें करता है, इन शब्दोके द्वारा कहा गया है याने इसने मुझे कुछ कहा है ऐसा सोचकर यह रुष्ट तुष्ट होता है, क्लिष्ट होता है, पर बात क्या है कि वचन वचन है, जीव जीव है। क्या सम्बन्ध

है ? अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ है । इसी सम्बन्धमें अमृतचन्द्र जी सूरि कहते है— यथेह वहिरर्थो घटपटादिः देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मां प्रकाशय इति स्वप्रकाशने न प्रदीप प्रयोजकति, न च प्रदीपोपि अयस्कान्तोपकृष्टाय सूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् प्रकाशयितुमायाति, किन्तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात्परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा तत्सन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते । स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुवैचित्र्यवशेन नाना परिणतिमासादयन्तः कमनीयाः अकमनीया वा घटपटादयो न मनागपि विक्रियायै कल्प्येत । ये बाह्य पदार्थ घट पट आदिक जो प्रकाशित हुए है, ये दीपकको कोई जोर नही दे रहे है कि हे दीपक ! तुम मुझे प्रकाशित करो । और दीपक भी जब जलता है तो ये पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं, सो वहाँ दीपक अपने स्थानसे जा जाकर किसी पदार्थ को प्रकाशित करता हो ऐसी बात नही है । सामने ये घट पट आदिक पदार्थ हो तो, न हों तो, दीपक तो स्वयं प्रकाशमान हो रहा है । अब यहाँ निमित्तनैमित्तिक भावकी बात है यह कि अब इस तरह जब दीपक प्रकाशमान हो रहा है तो जो घट पट आदिक प्रकाशित होते है । वे प्रकाशित होनेपर भी कही यह नही है कि घटको प्रकाशित किया तो दीपकको गौल बनना पडा हो और कोयलेको प्रकाशित किया तो उसे काला बनना पडा हो । यह प्रकाशित पदार्थ दीपकके विकारके लिए नही बनता । इसी तरह जरा अपने अतः देखो । यही बात रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिककी है । ये आत्मासे कहीं यह नहीं कहते कि मुझे छुवो, चखो, सूँघो आदि और यह आत्मा भी अपने प्रदेशोसे हटकर बाह्यपदार्थोंको प्रकाशित करने नही जाता है । यह बात यद्यपि निश्चित है कि ऐसी यह बात हो रही है कि चाहे बाह्य पदार्थ हो तो, न हों तो यह ज्ञान अपने आप जान रहा है । अब जान तो लिया, ये बाह्यपदार्थ विषयभूत तो हुए, लेकिन ये कभी आत्माका बिगाड करनेके लिए तैयार नही होते है । वस्तुको वस्तुमे वस्तुका सर्वस्व निहारो । निमित्तनैमित्तिक भाव है, होने दो, मेटा नही जा सकता है । होता आया है होता रहेगा, पर अपने आपकी भी तो सभाल करो । मैं सबसे निराला केवल अपने आपमें अपनी कल्पनायें करता हुआ नाना यात्रायें करता चला जा रहा हू । ऐसा यत्न करें । अरे निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातन्त्र्य—ये दोनो एक साथ चलते जा रहे है । निमित्तनैमित्तिक भावने वस्तुस्वातन्त्र्यका घात नही किया । वस्तुस्वातन्त्र्यने निमित्तनैमित्तिकका घात नही किया । यो अनेक बातें सोचते जावो ।

(३७) **एक अन्य उदाहरण द्वारा ज्ञानवृत्तिके स्वातन्त्र्यका दिग्दर्शन**—यहाँ फर्समे जो प्रकाश आ रहा है जरा बतलाओ तो सही कि यह किसका प्रकाश है ? सारी दुनिया यही कहेगी कि यह प्रकाश तो सूर्यका है । बतलाओ सूर्य कितना बडा है ? सूर्यका क्षेत्र

करीब पौने दो हजार कोशका है । तो क्या सूर्यकी चीज सूर्यमे से निकल कर इतनी दूर आयगी ? जिसने वस्तुका स्वरूप परखा होगा उसका तो यही उत्तर आयगा कि सूर्यकी चीज सूर्यमे ही रहेगी । उसके बाहर उसकी चीज कैसे पहुचेगी ? तो यह प्रकाश इतनी दूर पडा है, जो सूर्य लाखो योजन दूर है क्या उसका प्रकाश यहाँ आ जायगा ? न आना चाहिये । तो फिर यह प्रकाश यहाँ हो कैसे गया ? हो ऐसे गया कि सूर्य तो है स्वयं प्रकाशमान और यह जो फर्श है, प्रकाशित है, वह स्वय प्रकाशमान तो नही, किंतु प्रकाशित पदार्थका निमित्त सन्निधान पाकर प्रकाश अवस्थाको प्राप्त हो ऐसा वाला है । यहाँ फर्शपर सूर्यका सन्निधान हुआ । अपने आपकी परिणतिसे इस निमित्तनैमित्तिक भावमे हुआ क्या, कि सूर्यका सन्निधान पाकर फर्श अधकारकी अवस्थाको छोडकर प्रकाश अवस्थारूप हो गया । तो देखो निमित्तनैमित्तिक भावका इतना प्रबल उदाहरण होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्यका भी कैसा अनोखा उदाहरण है, इसी तरह बाह्य पदार्थ हमारे ज्ञान द्वारा ज्ञात होते है फिर बाह्यमे हमारा कोई करतब नही, हम अपने आपमे ही ज्ञानकी वृत्ति करते रहते ही हैं ।

(३८) **सुख दु:ख आदिका आधार समझ**—जगतमे जितने सुख दु ख आदि है वे सब अपनी समझके प्रकार हैं। कोई समझता है इस देहको निरखकर कि यह मैं हू, कोई समझता अपने भीतरके कलुषित उपयोगको यह मैं हूं । कोई बाह्य क्षेत्रमे रहने वाले पदार्थोंको निरखकर सोच लेता है कि यह मैं हूं, लेकिन इस देहमे परपदार्थमे, परभावमे अह रूपसे श्रद्धा करने वाले पुरुष क्लेश पाते है । और अपने आपके सहजस्वरूपमे अहंकी श्रद्धा करने वाले जीव सिद्धि प्राप्त करते है । सब कुछ विवेकसे निरखनेके बाद यह निर्णय होता है कि मैं तो एक ज्ञानमात्र पदार्थ हूं । देह मैं नही हू, विकार मैं नही हूं । विचार तरंग आदिक जो होते है वे भी मैं नही हू और समझमे तो आता है कि इसमे ज्ञान है, श्रद्धा है, चारित्र है, अन्य-अन्य अनेक गुण है, अनेक शक्तियां हैं, पर और अंतः प्रवेश करके अभेद हुआ करते है। जब श्रद्धा मे आता है कि मैं ज्ञानमात्र हू और अपने आपको जब केवलज्ञान ज्ञानप्रकाशमात्र इस तरह से निरखा जाय तो उसे अनुभवका मार्ग मिलता है ।

(३९) **अनुभवका मूल अभेदभावदृष्टि**—यद्यपि इस आत्माकी समझ द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव चार पद्धतियोसे होती है और परिचय भी होता है द्रव्यसे—यह अनेक गुण पर्यायोका पिण्ड है । क्षेत्रसे यह असख्यातप्रदेशी, अभिन्नप्रदेशी कालसे यह अपने आपकी प्रति समयकी परिणतिको करता रहता है और भावसे इसमे अनेक गुण हैं, लेकिन द्रव्यसे परिचय तो हुआ, पर द्रव्यदृष्टिको याने यहाँ द्रव्यके मायने है भिन्न दृष्टि । भिन्न दृष्टिको, गुण पर्यायोके समूहको जब ज्ञानमें रखते हैं तो चर्चा तो मिलती है पर एक अनुभूतिका प्रथम समय नही है वह, याने

उससे पूर्व ऐसा तर्क-वितर्क करने वालेको अनुभूति नही हो पाती। अनुभूतिकी प्राक् क्षणोमें क्या स्थिति होती है, उसे लक्ष्यमें लेकर कहा जा रहा है। आत्माका परिचय तो मिलता है क्षेत्रदृष्टिसे। यह बहुत लम्बा चौडा असंख्यातप्रदेशी है। देहके नखसे लेकर मस्तिष्ककी शिखा तक यह जीव है, ऐसा परिचय तो मिल गया, लेकिन इस परिचयके बाद हम अनुभूतिमे नही पहुच पाते है, इसी तरहसे कालदृष्टिसे परिणमनको जब हम निरखते है, परिचय तो मिलता है इस जीवका कि इसमें रागद्वेषादिक अनेक परिणमन होते है। वह परिणमन भी क्या है? चिदाभास। जब कर्म उदयमे होता है तो कर्म भी उसी प्रकारकी अवस्थाको लिए हुए होता है, लेकिन वह अचेतन है इसलिए उसमें अनुभूति नही और वह पदार्थ है इसलिए यह आत्मा भी उनकी अनुभूति नही करता, पर उस निमित्त सन्निधानमे यह उपयोग क्रोधन आदिक अवस्थाको धारण करता है, वह क्या है? चिदाभास। जैसे स्फटिक मणिमे कोई उपाधि लगा दी गई तो उसमे लाल पीला आदिक अनेक रंग आ जाया करते है, वे परभाव कहे जाते हैं, क्योकि वह स्फटिक स्वयं उस रूप नही परिणमा। वहाँ उनको भी निरखा जाय तो इतनेसे भी अनुभूतिका तुरन्त अवकाश नही मिलता। जब भावदृष्टिसे देखते है तो भावदृष्टिमे दो पद्धतियाँ होती है—एक पद्धतिमें तो श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदिका अनेक शक्तियोका परिचय होता है। सो यहाँ भी नाना विध शक्तियोके परिचयके या चितनके तुरंत बाद अनुभूतिका अवकाश नही हो पाता है, किन्तु यह भावदृष्टि जब अभेदरूप होती है और केवल ज्ञानमात्र, चैतन्यमात्र प्रकाशमात्र दृष्टि होती है और उसके बाद यह संकल्प छूटता है, ऐसी स्थिति पूर्व क्षणमे होती है जहाँ कि अनुभूति हुआ करती है। तो अपने आपको अनुभवनेमे उसने क्या अनुभवा? एक ज्ञानप्रकाश। तो यह एक श्रद्धा बनाले, निर्णय बनाले बडी दृढताके साथ कि मैं तो ज्ञानमात्र हू, अन्य कुछ हू ही नही। कभी भी किसी भी प्रसंगमे इस श्रद्धाको, इस धारणाको न छोडें 'मैं ज्ञानमात्र हू" तो समझ लीजिए कि जीवनमे शान्ति होगी, सो तो है ही, मगर उद्धार हो जायगा। बहुत निकट कालमे हम केवल ज्ञानमात्र व्यक्त हो जायेगे। तो अपने आपको अपनेपर ही दया करके ऐसा कुछ निरखते रहना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हू। देह भी मैं नही।

(४०) **बाह्य पदार्थके व्यामोहका दुष्परिणाम**—भैया! विवेक करके देखो—बाह्यपदार्थोंसे सम्बन्ध ही क्या है? उनके सम्बन्धमे ममता जगती हो, तृष्णा जगती हो, लगाव होता हो तो उसका खेद मानें। यहाँ मौज मानने लायक कोई चीज नही है। धन वैभव सम्पदा पायी, परिवार पाया, इष्ट समागम पाया, ये कोई मौज मानने लायक चीजें नही है। इनमे कोई मौज मानेगा तो वह बडा धक्का खायगा। एक तो धक्का यह है कि जिन

जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग नियमसे होता है। चाहे हम खुद पहिले मरें या हमारे सामने ही कोई इष्ट व्यक्ति मरे, पर मरण अवश्य होगा, वियोग अवश्य होगा। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग है। जितना समागमोको पाकर बीसो वर्ष तक मौज माना उससे भी अधिक कष्ट तुरत वियोगसे प्राप्त होगा। कभी-कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि इतना अधिक वियोग हो जाता है कि किन्ही-किन्हीका तो हार्ट फेल हो जाता हैं। तो यहाँका कोई भी समागम मौज मानने लायक नही। यहाँके समागमोमे यदि ममता होती है तो उसमे तो खेद होना चाहिए कि क्यो ममता होती है ? अरे मैं तो ज्ञानघन हू, ज्ञानप्रकाशमात्र हू, जिस मे अन्य किसीका भी प्रवेश नही होता है, क्यो होता है इन बाह्य समागमोंसे मेरा लगाव, क्यो होना है ऐसा मोह ? यो उससे खेद मानें। अरे ये समागम लगावके लिए नही है, यह मानवजीवन मौज माननेके लिए नही है, किन्तु आत्मोद्धारका मार्ग पा लेनेके लिए है। चाहे ये मेरे सकल समागम छूट जावें—जैसे कि पूजनमे भी कहते हैं ना कि—अस्मिन्ज्वल-द्विमलकेवलबोधवन्हौ पुण्य समग्रमहमेकमनाजुहोमि अर्थात् मैं अपने सारे पुण्यको स्वाहा करता हू। पुण्योदयसे जो सम्पदा मिली उसे भी पुण्य कहा, जो पुण्यकर्मका कारणभूत है उसे भी पुण्य कहा, और जो भी पवित्र विचार तर्क आदि उत्पन्न होते हैं उन्हे भी पुण्य कहते हैं, तो मैं समस्त प्रकारके पुण्योको स्वाहा करता हूं। अरे भाई पुण्यको स्वाहा करके कहाँ रहोगे ? क्या पापमे रहोगे ? नही भाई! इन पुण्य पाप दोनोको स्वाहा करके मैं तो अपने आपके ज्ञानप्रकाशमे रहूगा। पुण्य पाप–इन दोनोंसे निवृत्त होकर केवल एक ज्ञानप्रकाश मे अपने ज्ञानको अवस्थित करना है वह है स्वका प्रकाश।

अपने आपका यह निर्णय रखें कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, अन्य कुछ नही हूं। और और भी लगाव रहते हैं—मैं अमुकका पिता हू, पुत्र हू आदि। कुछ और और भी बातें चित्तमे आती हैं उन सबको निकाल दीजिए। समयपर व्यवहारमें बोलना पड़ता है तो बोल लो, लेकिन श्रद्धामे यह बात बैठी होनी चाहिए कि मुझे तो यो बोलना पड रहा है। जैसे कर्म का एक मुनीम ले लो —वह ग्राहकोंसे इसी तरह तो बोलता है कि हमारा तुमपर इतना चढा, तुम्हारा हमपर इतना आया। अमुकसे हमे इतना लेना है, इतना देना है, मुझे इतना लाभ हुआ, इतनी हानि हुई आदि यह सब वह बोलता तो है, मगर इसकी श्रद्धामे यह बात बसी हुई है कि यह मेरा कुछ नही है। मुझे तो इस तरहका वचनव्यवहार करना पड रहा है। यह तो मेरी ड्यूटी है। तो ऐसे ही इतनी बात हम आपकी श्रद्धामे रहनी चाहिए कि मैं तो ज्ञानमूर्ति हूं। मेरा तो मैं हू। मेरा तो मैं ही सब कुछ हूं। मेरा मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नही है। ऐसे इस ज्ञानमात्र अनादि अनन्त सत्य सनातन निज अतस्तत्त्वकी दृष्टि हो

तो यह मनुष्यजीवन सफल है। देखिये जितने भी धर्मके कार्य है हमारे व्यवहारमें वे सब बाह्य साधन है। हम उन बाह्य साधनोंका सही उपयोग करें तो उनसे हम लाभ भी लूट सकते है और बाह्य साधनोंका सही उपयोग न करें तो करतें रहे श्रम, हम उससे अपने धर्मका लाभ न उठा पायेगे।

(४१) **अनुलोम प्रतिलोम चिन्तनासे तत्त्वकी स्पष्टता**—अब एक अन्त: चिन्तनकी बात देखो—जैसे भावनाये होती है, अनित्यभावनामे कहते हैं कि यह भी मिटेगा, यह भी मिटेगा। अरे मिटना मिटना ही भावनामे रखा तो उससे आप घबडाहट ही पायेंगे। अरे इस मरनेकी, विनाशीकताको बातके साथ-साथ यह भी तो देखो कि मेरे अन्त: प्रकाशमान जो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है वह तो न मरेगा। अगर इस नित्यपनेकी बात भी साथ ही साथ चित्तमें हो तो फिर वह अनित्यभावना लाभदायक होगी। नही तो वह अनित्य भावना तो एक घबडाहट ही पैदा करेगी। यदि इस डोरको छोडकर पतग यहाँ वहाँ जाती है तो वह निराश्रय होकर कही न कही गिरेगी। अशरण भावनामे बोलते है कि "दल बल देवी देवता माता पिता परिवार। मरती बिरिया जीवको कोई न राखनहार ॥" तो ठीक है यह बात, लेकिन कोई इतना तक ही जानता हो कि हाँ ये कोई शरण नही हैं, सब स्वार्थके साथी है और जब बड़े झंझट हो जाते हैं, आपसमे झगडे हो जाते है तो क्रोधी पुरुष भी यही बोलते है कि कोई किसीका रक्षक नही, सब स्वार्थके साथी हैं। तो क्या वे सब अशरण भावना भाने वाले हो गए ? अरे यह तो एक मोटी बात है, यह तो गुस्सेमे आकर भी कह दिया जा सकता है, लेकिन धर्मबुद्धिसे तो वह ही कह सकेगा जिसको यह पता हो कि मेरे अन्त:प्रकाशमान जो ज्ञानस्वरूप है वह निश्चयत: मेरा शरण है। उसकी यह बात भी सही है "दल बल देवी देवता मातु पिता परिवार। मरती बिरिया जीवको कोई न राखनहार।" सो यह बात तो ठीक है, लेकिन उसके साथ यह जुडा है कि मेरा मै राखनहार हूँ, कोई दूसरा राखनहार नही। संसारभावनामें भी सोचते है कि सब कुछ असार है। सब बेकार है—"दाम बिना निर्धन दु:खी, तृष्णावश धनवान। कहु न सुख संसारमे सब जग देखहु छान ॥" बात ठीक है, लेकिन कोई इतना तक ही समझ रहा है, बाहर बाहरमे तो ऐसा कहने वाले अनेक लोग मिलेंगे। यहाँ कौन सुखी है ? सब दु:खी है, ऐसा कहने वाले तो प्राय: सभी मिलेंगे, एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक देख लो—प्राय: सभी लोग ऐसा ही बोलते है। कुछ थोडा जब विवेक करते है तो प्राय: सभी लोग यही कह बैठते है कि वास्तव मे सारा संसार दु:खी है, सब असार है, लेकिन ऐसा कहना उसका सफल है जिसे यह विदित हो गया कि मेरे ज्ञानमे मेरा ज्ञानस्वरूप भगवान अंतस्तत्त्व रहे, ऐसी स्थिति रहे,

यही सारभूत है। ऐसा जिसका परिचय है उनकी इस बातमे दम है कि सब असार है। नही तो झुँझलाने वाले लोग भी ऐसा ही बोला करते है और घर छोडकर भी भाग जाते हैं। तो घर छोडकर भगनेपर क्या वे शान्त हो गए? उन्हे सब बेकार जचा, लेकिन बेकार असार जचा, इतने मात्रसे बात न बनेगी, किन्तु अपना सार भी जंचना चाहिए कि सार क्या है, यही समयसार है। तो जो हमारे बाह्यसाधन हैं और भाव विचार चिन्तनके साधन है ये सब साधन तब सही उपयोगमे होते है जब एक ज्ञानमात्र निज अतस्तत्त्वकी ओर दृष्टि हो। जिसे यह पूर्ण धारणा है उसे कहां भय, कहां विकल्प, कहां चिन्ता? लोग डरते है, भय खाते है, पर इसे कहां भय?

(४२) **आत्मवैभवके अधिकारीको निर्भयता**— जिन्होंने अपने आपके इस आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमूर्ति ऐसे इस ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वमे अपने ज्ञानको खचित किया है उसे कहां भय है? भला बतलाओ तो सही—किसी बडे अफसरको जब किसी तबादलेमे जाना पडता है तो वह ठाठके साथ जाना है। उसे एक रेलगाडीका डिब्बा मिलता है, मालगाड़ीका डिब्बा मिलता है, १०-२० नौकर माल चढाने वाले इधर मिलते हैं, अनेक नौकर माल उतारने वाले वहाँ मिलते है। मकान खाली मिलेगा। उस आफीसरका स्वागत करनेके लिए अनेक लोग वहाँ खडे होगे। तो बताइये वह अफसर क्या करता है? सिर्फ यहाँ गाडीमे चढना और वहाँ उतरना। उसे क्या तकलीफ? उसको तो सब आराम है। तो ऐसे ही समझिये कि जो ज्ञानी पुरुष है उसे भी मरणका क्या भय? वह तो यहाँ भी आरामसे रहेगा और मरण करके जिस जगह जायगा वहाँ भी आरामके समागमोके बीच रहेगा। जो आत्मज्ञानी पुरुष है वही वास्तव मे अमीर है। जिसे अपने ज्ञानमात्र स्वरूपका परिचय हुआ है, ऐसे पुरुषको तबादलासे अर्थात् मरणसे क्या भय? जहाँ जायगा वहाँ ही लोग उसका स्वागत करेंगे अर्थात् उसे वहाँ क्या तकलीफ? और भी देखो—वह ज्ञानी पुरुष अपने साथमे सारे वैभवको लिए जा रहा है। अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दका जो गुण है वह सब साथ लिए जा रहा है। यह ज्ञानदृष्टि साथ जा रही है, उसका कुछ भी छूट नही रहा है। वह निरख रहा है कि मेरा पूराका पूरा वैभव मेरे साथ जा रहा है। वहाँ बाह्यदृष्टिका भी आनन्द है, ऐसे उस बडे ज्ञानी अफसरको क्या कष्ट? कष्ट तो होगा इन मोही मिथ्यात्वी क्लर्कोंको, जीवोको। जो मरते समय भी कहते है कि भैयाको दिखा दो, मुन्ना मुन्नीको दिखा दो, यो मोह-मोहमे ही मर रहे है। वहां विग्रहगतिमे आकुलता है। इन्द्रियाँ नही हैं, मगर जायगा कहां? यहांका झंझट मिटेगा कहां? जहा जायगा वहा भी क्लेश और जहां पैदा होगा वहां सारे जीवनभर भी क्लेश। तो भाई बाह्य ममतामे कोई सार नही है। ममताको छाडो और भीतरमे सत्य

श्रद्धा बनायें, चिन्तन बनायें, अनुभूतिके लिए कमर कसकर बैठ जायें। मुझे तो अपने आपमें अपने आपको निरखना है, और मैं अपने भगवानसे पूछकर रहूंगा। मुझे दूसरेकी चिन्ता नही, किन्तु यह खुद जवाब दे तो दे। देखो जब भगवान ऋषभदेव विरक्त हो गए तो सबको राज्य तो दे दिया था, पर दो लोग रह गए थे। तो वे पहुंचे, बोले–महाराज आपने सबको तो सब कुछ दिया, पर मुझे कुछ नही दिया। तो वहां देवता आये, बोलें—चलो हम राज्य देते है, तो वे बोले कि हमे अन्य किसीसे कुछ न चाहिए, वही दें तो दें। यो उनकी एक हठ थी। तो ऐसा ही हठ करके बैठ जावो कि हम तो अपने भीतरसे सीखेंगे। तो भीतरसे हम सब सीख सकेंगे। जो दूसरोसे सुना है, ख्याल किया है, यहां वहांका विचार है, तरग है ये सब बातें छोड दे और ऐसा सरल होकर बैठ जावे कि जो यह भगवान उत्तर देगा बस वही चाहिए, अन्यसे मुझे कुछ न चाहिए। उत्तर मिलेगा, समाधान मिलेगा, मगर यह तैयारी ईमानदारीके साथ हो। किसीका भी रंच विकल्प, ख्याल, ममता, लगाव न हो तो अपना भगवान अपने को उत्तर दे देगा।

(४३) **आत्मवैभवके परिचयीके सहज वैराग्य**—देखिये–बात यह है कि अपने आपकी ऐसी श्रद्धा धारणा बनाये रहें रात दिन सदा, घरमें हो, दुकानमे हो, कही भी हो कि मैं तो ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ज्ञानमूर्ति हू। जो जानन है वह विचित्र पदार्थ है। संसारके समस्त पदार्थोंसे विलक्षण पदार्थ है केवल एक ज्ञानस्वरूप उपयोग मात्र, और मेरा कुछ नही है और मैं कुछ नही। यह बात अगर चित्तमे जमी रहेगी तो आप पवित्र है। अवश्य ही कल्याण होगा। इसकी आवश्यकता है ही मनुष्यभवमे। ऐसे इस ज्ञानतत्त्वको जिसने निरख पाया ऐसा कोई मनुष्य, आत्मा अगर विषयकषायोके प्रसंगमे फँस रहा है, पूर्वबद्ध कर्मोदयवश ऐसा हो रहा है कि भोगोंमे, खान-पानमे, इन्द्रियके अन्य विषयोंमे उसे पड़ना पड रहा है तो वह उनमे तीव्र अरतिभावको लिए रहता है, जिसे लोग झट कह देते हैं कि भाई चारित्र मोहका उदय है इस-लिये रहता है। मौजमे तो बोल रहे हैं–"भाई चारित्र मोहका उदय है याने बोलनेका भी मौज आ रहा है और वह असंयम चारित्र मोह छूटता भी नही है, और हम सम्यग्दृष्टि भी कहाये, धर्मात्मा कहायें, ऐसा अनेक लोग सोचते हैं, तो भाई ऐसी पद्धतिसे काम न चलेगा।

रहती है उसे कहते हैं विरक्त। तो ऐसे विरक्त ज्ञानी पुरुषका उपभोग भी कर्मनिर्जराके लिए होता है, उसका अनन्त ससार कटता है, कर्मबन्धन छूटता है। यह बात मिलेगी ज्ञान और वैराग्यकी कलासे। दो ही तो बातें है—ज्ञान और वैराग्य। इनमे भी मुख्यता है ज्ञानकी। ज्ञानसहित जो वैराग्य होगा वह कार्यकारी होगा। कोई ज्ञानकी बात रखे है तो उसका वह शुद्ध वैराग्य हो गया। तो इन दो बातोकी आवश्यकता है—ज्ञान और वैराग्य। जिसका यह ज्ञान सतत जागरूक रहता है उसके वैराग्यभाव भी बना रहता है। जिसके वैराग्य है, जिसके ज्ञान है वह क्रोधादिक कषायोसे हटा हुआ रहता है, लगा हुआ नही रहता। कभी देखा होगा कि आप किसी रास्तेमे खूब तेजीसे दौडते चले जा रहे है, काफी दूर तक दौड़ गए, सहसा आपको पता पडा कि हम तो गलत मार्गमे आ गए तो आप वही रुक जाते है। उस रुकते हुएमे भी आप काफी दूर तक तेजीमे भागते जाते हैं। आप अपनेको एकदम रोक नही पाते हैं। उस दौडते हुए की स्थितिमे आप अपने पैरोकी मुद्रा तो देखिये, यद्यपि अभी आप कुछ आगे बढते तो जा रहे हैं लेकिन उस समय आपके पैरोकी मुद्रा कुछ और हो रही है। आपके पैरोकी मुद्रा उस समय हटती हुई है, लगती हुई नही है। ऐसे ही जब कोई पुरुष ज्ञानी हो जाता है तो उसी सिलसिलेमे यद्यपि वह कुछ विषयकषायोमे भी प्रवृत्ति करता है फिर भी उसकी मुद्रा उनसे हटती हुई रहती है, लगती हुई नही रहती। परिजनोके पालन पोषणके कार्य भी करता है, सबसे प्रेमका व्यवहार भी करता है फिर भी वह वास्तवमें पालन-पोषण कर रहा है अपने ज्ञानस्वरूपका, प्रेम कर रहा है अपने ज्ञानस्वरूपसे। वह जानता है कि ये सब लोग मेरे कुछ नही। मेरा तो मात्र यह ज्ञानस्वरूप है, मै तो ज्ञानमात्र हूं। ये तो सब व्यर्थके नटखट हैं। इस प्रकारका पवित्र ध्यान उस ज्ञानी पुरुषके समस्त सकटोको टालकर कल्याणका पात्र बना देता है।

(४४) **मूल क्लेश और विडम्बना**—लोकमे यदि कुछ विडम्बना है तो वह है जन्म मरणकी स्थिति। जन्मते हैं, मरते हैं, फिर जन्मते हैं फिर मरते है, इस तरह जन्ममरणकी जो परम्परा चली आ रही और उसमे नाना प्रकारकी योनियोमे उत्पन्न होते चले आ रहे और उस जीवनमे नाना प्रकारके इष्ट अनिष्ट संयोग वियोगके क्षण माने जा रहे हैं। यह जो पद्धति है, यह बड़ी विडम्बनाकी पद्धति है। लोग थोडेसे जीवनकी सुख सुविधावोकी बात तो सोचते हैं—मेरा मकान अच्छा बने, दुकान अच्छी चले, व्यवहारकी इज्जत वगैरह अच्छी बन जाय, इसको तो फिक्र करते हैं, मगर मूल जो क्लेश है जन्म मरणका, उसका विनाश करने की भावना नही उत्पन्न होती है। यदि जन्ममरणके संकटोका विनाश करनेकी भावना बन जाय तो बहुतसी बातोमे अन्तर आ जाय, कषायें कम हो जायें, मोह तो रहेगा

ही नहीं और अपने आपके स्वरूपकी ओर दृष्टि इसकी अधिकतर जायगी। तो यह निर्णय रखें कि मेरे पर संकट है तो जन्म मरणका संकट है। निर्धन है तो कोई संकट नही अथवा संतान नही है या कम है या आज्ञाकारी नही है या कुपूत है, तो यह भी कोई संकट नही। शरीरमें कोई वेदना है, रोग है तो यह भी कोई संकट नही। शरीर तो सरीर है, संकट तो जन्म मरणका है। और जन्म मरणके बीच जितना जीवन है उसमें नाना विकल्प करनेका संकट लगा हुआ है। बतलाओ इन संकटोंको मेटनेका कोई सहयोगी हो सकता है? मित्र तो हमारा वह है जो इन संकटोको मेटनेमे समर्थ हो। कुटुम्बी जनोंमे कौन मेट सकेगा इन संकटोको? और तो जाने दो, प्रभु भी हमारे इन संकटोंको मेट न पायेंगे, लेकिन प्रभुके स्वरूप के स्मरणसे, प्रभुकी वाणीके स्वाध्यायसे, मननसे जो मेरेमें ज्ञानप्रकाश होगा यह मेरा ज्ञान प्रकाश ही मेरे संकट मेट सकेगा। तो अपना यह लक्ष्य बनाये कि मेरेको तो वह काम करना है कि मेरे संकटोंकी जड ही समाप्त हो जाय। पहिले यह विचारें कि ये जन्ममरणके संकट किस आधारपर लगे है? क्या कारण है कि जन्ममरण करना पडता है? वह संकट है देहमे लगाव लगाव रखनेका। अगर देहमे लगाव है, देहको माना कि यह मैं हू और उससे ममता है, उस ही रूपसे अनुभव है तो यह तो देहमे अहंपनेकी बुद्धि हुई। इस अहंबुद्धिके कारण फल यह होगा कि खूब देह मिलते चले जायेंगे। क्यो न मिलेंगे? आखिर आप ईश्वर-स्वरूप है ही, भगवत स्वरूप है ही। अगर देह चाहा तो बराबर देह मिलते रहेगे। तो यह तो अनुकूल बात हुई। जो इसने चाहा, जिसमे इसकी प्रीति गई वह देह मिलता जायगा। अब यह उल्टी लीला जरूर हो गई। यदि इसके मनमे यह बात समा जाय कि मुझे तो यह देह न चाहिए। इस शरीरके सम्बंधसे ही तो ये सारे सकट बन रहे है। शरीर है तभी तो भूख प्यास, सर्दी गर्मी, इष्ट अनिष्टका संयोग आदि नाना सकट लग रहे है। अगर यह बात चित्तमें आ जाय कि मुझे शरीर न चाहिये, मैं तो शरीरसे न्यारा रहकर केवल रह जाऊँगा, तो फिर करना क्या है कि इस देहसे निराला अपनेको तकें। मैं देहसे न्यारा हू। मुझे देह न चाहिए। अगर ऐसी बुद्धि जगती है कि इस देहसे निराला जो निज ज्ञानप्रकाश है उसमे अहरूपसे अनुभव बनता है तो यह निश्चित है कि देहकी परंपरा दूर हो जायगी याने सिद्ध पदकी प्राप्ति हो जायगी।

(४५) **देहात्मबुद्धिके दूर होनेपर सकल विडम्बनाओंका कारण**--देह मिलनेका मूल कारण है देहमे लगाव। देहमे लगाव होनेका कारण क्या है? देहमे लगाव होना यह कहलाता है एक प्रकारका राग और मोह। उस राग और मोहमे लगाव बना है। यही कारण है कि इस देहमे लगाव चलता है और जन्ममरणकी परम्परा चलती है। तो इसका अर्थ यह है कि

जो मेरा राग मोह उत्पन्न होता है उसको हम उपयोगमे लेते है और उसको अपनाते है, उस को दृढ करते हैं तो यह इसकी देहकी परम्परा मिलती है। तो मूल बात यह हुई कि विकार हम अपनाते है। यह मैं हूं—इस प्रकार हम उनके उपयोगका आश्रय देते हैं तो ये सारी विडम्बनायें, सारे क्लेश बनते चले जाते हैं। तब क्या करना ? इतना सावधान होना चाहिये अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवकी भावना दृढ बना बनाकर। इतना अंदरमे साहस होना चाहिए कि स्पष्ट झलकता रहे कि मैं तो ज्ञानमात्र हू, मेरे स्वरूपमे अन्यका प्रवेश नही। मैं ज्ञानमात्र हू—ऐसी धुन बने, ऐसी धारणा बने, ऐसा अपने आपके सत्यका आग्रह बने तो सब सकट दूर हो सकेंगे। बच्चे लोग तो एक कथानक बोलते है—एक बार गीदडीने गीदडसे कहा कि बच्चे पैदा होनेको हैं तो कोई ऐसा स्थान बताओ कि जहां प्रसव कर सकें। तो गीदडने कोई गुफा बतायी। वह गुफा थी किसी शेरकी। पहिले तो गीदडी डरी कि कही शेर बच्चोको व हम सबको खा न जाय, पर गीदडने समझाया तुम चिता न करो, जब शेर आये तो तुम बच्चोको रुला देना और जब हम पूछें कि ये बच्चे क्यो रोते तो बोल देना कि ये बच्चे शेरका माम खाना चाहते हैं, बस हम सब सम्हाल लेंगे। गीदडीने उस गुफामे बच्चे दिए। गीदड गुफाके ऊपरकी चोटीपर बैठा करता था। एक बार शेर आया तो गीदडीने क्या किया कि बच्चोको रुला दिया। ऊपरसे गीदड़ने पूछा—ये बच्चे क्यो रोते हैं ? तो गीदड़ी बोली कि ये बच्चे शेरका मांस खाना चाहते है। इस बातको सुनकर शेर डर गया, समझा कि यहां तो मेरे खाने वाला भी कोई रहता है। सो वह डरकर भाग गया। अब दूसरा शेर आया तो फिर गीदडीने अपने बच्चोको रुला दिया, गीदडने पूछा कि ये बच्चे क्यो रोते हैं ? तो गीदड़ी बोली कि ये बच्चे शेरका मास खाना चाहते हैं। तो इस बातको सुनकर वह शेर भी डर कर भाग गया। यो बीसो शेर डर डरकर भाग गए। एक बार बहुतसे शेरोने मिलकर अपनी अपनी सम्मति दी कि देखो यह जो पहाडोकी चोटीपर ऊपर गीदड बैठा है उसकी सारी करामात है जो वहां अपनमे से कोई टिकने नही पाता। तो क्या करना चाहिए ? सलाह हुई कि देखो—उस ऊपर चोटीपर बैठे हुए गीदडको मार दिया जाय तो बस काम बन जायगा। अच्छी बात। अब ऊपर चढा कैसे जाय ? सो सलाह हुई कि एक शेरपर दूसरा, दूसरे पर तीसरा यो क्रमसे चढ चढकर उसके पास जाकर मारा जा सकता है। ठीक है। पर नीचे कौन रहे ? सलाह हुई कि यह जो लगडा शेर है यह ऊपर चढ भी नही सकता, इसको नीचे रखा जाय। ठीक है। सो वह लगडा शेर नीचे रहा, उसके ऊपर क्रमक्रमसे अन्य शेर चढते गए। जब गीदड़के कुछ निकट पहुंच गए तो गीदडीने फिर बच्चोको रुला दिया। गीदडने पूछा कि ये बच्चे क्यो रोते हैं ? तो गीदडी बोली कि ये बच्चे लगडे शेरका

मांस खाना चाहते हैं। सो लंगडा शेर डरकर भागा और सभी शेर एक पर एक भद-भदकर गिरे। तो ऐसे ही समझिये कि हम आपके साथ लगा हुआ है यह लंगड़ा भ्रम। इसे लंगडा यों कहा कि इसमें कुछ भी तो दम नही है। यह भ्रम कल्पनासे बना है। और इस भ्रमके ही कारण हम आपपर जन्ममरणके अनेक संकट छाये हैं। इस देहमे आत्मीयताका जो भ्रम लगा हुआ है उस ही भ्रमके कारण हम आपके ये सारे संकट चल रहे है। यह भ्रम खिसका नही कि बस सारे संकट समाप्त। जरा सोचो तो सही कि इस जन्म मरणका कितना बड़ा दु.ख है ? फिर इस जन्म-मरणके बीचका जो थोडा सा समय है उसमें भी हम आपकी क्या स्थिति है ? अरे जैसे बांसके ओर छोरमे लगी हो आग और बीचमे कोई कीडा पडा हो तो जो स्थिति उस कीड़ेकी है ठीक वैसी ही स्थिति हम आपकी है। इस थोड़ेसे जीवनमे रागद्वेष मोह, ममता, संकल्प, विकल्प आदिके नाना क्लेश हैं। इस जीवनमें वस्तुतः सुखी कोई नहीं है। सुखी तो केवलज्ञानी पुरुष ही है। जिसने यह निर्णय बना लिया कि मैं तो सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं। मेरा किसी भी परपदार्थसे रंच भी सम्बन्ध नही। यहाँ तक कि यह जो दिखने वाला देह है इस तकसे भी हमारा सम्बन्ध नही। ऐसा विवेकी पुरुष इतना धैर्यवान होता है कि चाहे कैसे ही उपद्रव उसपर टूट पड़ें फिर भी वह अधीर नही होता है। यहाँ तो ये अज्ञानी मोही प्राणी इन संकटोके मेटने व सुख शान्ति पानेका जो कुछ भी प्रयत्न करते है वह सब उल्टा करते हैं। बल्कि होता क्या है कि ज्यो ज्यों वे अपनी समस्यायें सुलझानेका प्रयत्न करते हैं त्यो त्यों वे और भी फंसते जाते हैं। फंसनेका मुख्य कारण यही है कि करना तो चाहिये था काम आत्मदयाका, पर कर बैठते हैं आशा तृष्णाका काम।

(४६) **स्वपरविवेककी आत्मदयारूपता**—आत्मदया वास्तवमें यही है कि जिन बातोसे कर्मबन्धन होता है उन बातोसे दूर रहे। तभी हमारे संकट दूर हो सकते हैं। कर्म बन्धन किस तरहसे होता है—उसके लिए एक दृष्टान्त लीजिए। जैसे किसी धूल भरे अखाडेमें तैल लगाकर तलवार लेकर कोई पहलवान केलाके पेड़ अथवा बांस काटनेका व्यायाम करता है, सीखता है, तो वहाँ होता क्या है कि उसका सारा शरीर धूलसे लथपथ हो जाता है। अगर पूछा जाय कि बताओ उसके शरीरमे धूल चिपकनेका कारण क्या है ? तो कोई कहेगा कि साहब उसने धूल भरे अखाड़ेमे घुसनेका काम किया इसलिए चिपकी, कोई कहेगा कि तलवार चलानेका व्यापार किया इसलिए चिपकी, कोई कहेगा कि साहब वह छोटे-छोटे पेड़ काटनेका बुरा काम करने आया इसलिए चिपकी, लेकिन विवेकी पुरुष तो यह कहेगा कि तुम सब लोगोकी ये बातें गलत हैं। देखो बिना तैल लगाये कोई पुरुष अखाडेमे जाता है तो उसके शरीरमे तो धूल नही चिपकती, शरीरमे तैल लगाये बिना कोई पुरुष तलवार चलाने

का व्यापार करता है तो उसके तो धूल नही चिपकती, अथवा बिना तैल लगाये कोई पुरुष अखाडेमे कदली आदिकके पेड काटता है तो उसका शरीर तो धूलसे लथपथ नही होता तो तुम लोगोकी ये सब बातें गलत है। अरे धूल चिपकनेका मुख्य कारण था वह तैल (स्नेह)। तो इसी प्रकार कर्मबन्धनकी भी बात समझिये। अगर पूछा जाय कि बताओ इस ससारमे कर्मबन्धन क्यो होता है ? तो कोई कहेगा कि इस कर्म भरे ससारमे ये प्राणी रह रहे हैं इस लिए कर्म बध रहे है। कोई कहेगा कि यह प्राणी साज श्रृङ्गारके बडे बडे साधन लिए है इसलिए कर्म बँधते हैं। कोई कहेगा कि यह प्राणी मन, वचन कायकी चेष्टायें करता है इस लिए कर्मबन्ध होता है, पर ज्ञानी पुरुष कहता है कि तुम सबकी ये बाते झूठ है, इस तरह से कर्मबन्ध नही होता। अरे अगर कर्म भरे ससारमे रहनेसे कर्मबन्ध होता तो फिर सिद्धोके भी कर्मबन्ध होना चाहिये था, पर ऐसा तो नही होता, अगर साज श्रृङ्गारके साधन होनेसे कमबन्ध होता तब तो देखिये—तीर्थंकर भगवानके समवशरणमे कितनी शोभा होती है बडे बडे चमर छत्र सिहासन बडा साज श्रृङ्गार होता है। तब तो उनके भी कर्मबन्ध होना चाहिये था, पर ऐसा तो नही होता और अगर यह कहो कि मन, वचन, कायकी क्रियायें करनेसे कर्मबन्ध होता है तो यह भी तुम्हारी बात झूठ है। देखो भगवान अरहंतदेवके ये मन, वचन, कायकृत सभी क्रियायें चलती हैं, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उनका विहार होता है, पर उनके तो कर्मबन्ध नही बताया गया, अथवा मन, वचन, कायकी क्रियायें करने वाले मुनिजनोकी बात ले लीजिए—वह मनसे भला सोचकर, वचनोंसे भला सोचकर ईर्यासमितिसे चलते हैं, कदाचित् उनके विहार करते हुएमे किसी छोटे जीव जन्तुकी हिंसा हो जाती है, उनके पैरोके नीचे आकर कोई जीव मर जाता है तो वहाँ तो हिंसा नही बतायी गई। तो विवेकी पुरुष कहता है कि तुम सबकी बातें झूठ हैं। देखो—जो ये रागादिक विकार उत्पन्न होते हैं उनको यह जीव अपने उपयोगमे बसाता है, उनका लगाव करता है, उन रागादिकमे मौज मानता है, उनके आधीन होकर यह अपनी रचना बनाता है। यही कारण है कि कर्मबन्ध होता है। यदि कर्मबन्ध न चाहिए तो प्रबल भेदविज्ञानकी आवश्यकता है।

(४७) **अवशिष्ट जीवन कालके सदुपयोगका अनुरोध**—देखो भैया ! जीवनका समय तो गुजर रहा है। आप सबका दिनका समय तो व्यापार आदिकके कार्योंमे व्यतीत हो जाता है, पर रात्रिका जो खाली समय है उसमे तो आपके पास काफी अवकाश है। आप शान्तिसे कुछ समयके लिए बैठकर आत्मचिन्तनका कार्य कर लिया करें। मै क्या हू ? मैं एक ज्ञानमूर्ति हू। मेरा अन्य किसीसे प्रयोजन क्या ? सम्बध क्या ? मैं तो अपने ज्ञानको ही करता हूं,

भोगता हूँ। यह ही मैं करता चला आया उल्टा मानता आया, इसलिए दुःखी हुआ। अगर मैं सहज शुद्ध ज्ञानको मानूं कि यह मैं हूं और इससे जो सहज प्रतिभासन हुआ, यह मेरा कार्य है और वही मेरा भोगना है। यह ही मैं चाहता हूं, अन्य कुछ मुझे न चाहिए। आखिर यहाँ से भी बिदा होना पड़ेगा। मरण होगा, पर्याय बदलेगी। पता नही कहाँ रहेगे, फिर इसका उठेगा क्या ? जो यहाँ रखा, जो यहाँ ममतामे लगाया इसका क्या उठेगा ? ये मेरे क्या काम आयेंगे ? मेरेको तो मेरे आत्मस्वरूपका जो भान है वह तो मेरे साथ जायगा, बाकी सब बेकार है। मेरा आत्मज्ञान ही मेरा शरण है, अन्य कुछ मेरा शरण नही। अन्य कुछ भी मुझे सन्तुष्ट कर सकने वाला नही। ऐसी वास्तविक अशरण भावना बनायें और अपने अन्तः विराजमान प्रभुको अपना शरण मानकर भावना बनायें। ऐसा क्षण कभी मेरा व्यतीत हो तो वह हितकारी जीवन है और इसके अतिरिक्त जो यथातथा जीवन बिताया जाता है वह इसके लिए लाभकारी नही है। जरा कुछ गम्भीर हृदयसे अपनेको सोचना चाहिए। दूसरोको देखकर, दूसरोके कहनेमें आकर अपनी चेष्टाओमे मौज नही मानना चाहिये। जैसे किसी बालकसे किसी ने कह दिया कि अरे देख तो सही, तेरा कान तो कौवा ले गया। तो वह अबोध बालक रोता है, दुःखी होता है, कौवाके पीछे दौड लगाता है। किसीने पूछा कि बेटे क्यों रोते हो ? तो वह कहता है—अरे भाई चुप रहो, मेरा कान कौवा ले गया।···अरे कहाँ ले गया तेरा कान कौवा ? जरा अपने हाथोसे टटोलकर देख तो सही। जब वह अपने हाथोसे टटोलकर देखता है तो उसे अपने दोनों कान मिल जाते है। सोचता है—अरे कहाँ कौवा ले गया मेरे कान ? लो उसका रोना बन्द हो जाता है। उसका वह सारा दुःख मिट जाता है तो इसी तरह ये संसारी अज्ञानी प्राणी एक दूसरेके बहकाये हुए हैं। वे यह जानते है कि हमें विषयोंसे सुख मिलेगा, धन-वैभव, इज्जत पोजीशन आदिकसे सुख मिलेगा। बस इन्हीसे सुखकी आशा करके रात दिन इनके पीछे दौड़ लगाते रहते है और रात दिन दुःखी रहा करते है। ज्ञानी संतजन समझाते है कि अरे भाई कहाँ इन बाह्य पदार्थोंके पीछे दौड़ लगा रहे हो ? तुम्हारी शान्ति तो तुम्हारे ही पास है, तुम्हारा सुख तुम्हारा आनंद तो तुम्हारे ही पास है। जरा अपने अन्दर टटोलकर देखो तो सही।····अरे चुप रहो—मेरा सुख, मेरी शान्ति, मेरा आनन्द तो इन बाह्य चीजोमे ही है।···अरे भाई जरा अपने अन्तःस्वरूपको निहारो तो सही। जब यह संसारी प्राणी अपने अन्तःस्वरूपको टटोलकर देखता है तो झट कह उठता है—ओह ! मिल गया मेरा सुख, मिल गया मेरा आनन्द, मिल गया मेरा शान्तिका धाम। मेरा सब कुछ तो मेरे ही पास है। कहां मेरा कुछ भी मेरेसे बाहर गया ? लो उसका सारा दुःख मिट जाता है, तो बात क्या करना है ? मूल बात यह करना है कि हमे सदा सावधान रहना है, जागरूप रहना

है। मेरा मात्र यह मैं ज्ञान ज्योति प्रकाश मात्र हू। इस ज्ञान ज्योतिसे अतिरिक्त मैं अन्य कुछ भी नही हूँ। ऐसा अपनेको अनुभवना है, ऐसा अनुभव करनेके लिए बहुतसे त्याग बनेंगे। बहुत सी चीजोकी बलि देनी होगी। जैसे अनेक लोग ऐसा कहने लगते हैं कि भाई इस कामको करनेके लिए बलिदान करो, बलि दो। किसका ? यही शत्रु है, यही विपदा है, यही इन्द्रिय विपय है, यही दुश्मन है।

**(४८) विविध अनुभूतियोकी आधारशिला ज्ञानवृत्ति**—अपने आपको ज्ञानस्वरूपमय देखनेपर यह भली भांति परिचय हो जाता है कि मैं ज्ञानपुञ्ज हू, ज्ञानघन हू। ज्ञान ज्ञान जो है सो ही मैं हू और इस तरहके निर्णयके बाद जब आगे परिणति पर दृष्टि देते हैं तो विदित होना है कि मैं ज्ञानको ही करता हू। जब कभी अशुद्ध परिणति भी हो रही हो तो स्वरूपकी ओरसे देखिये—यहाँ क्या किया जा रहा है ? कुछ न कुछ ज्ञान ही किया जा रहा है। एक ज्ञान द्वारा देखिये अपने सारे जीवनमे तो विदित होगा कि मैं कुछ ज्ञान ही ऐसा करता हू जिसमे दु ख होता है, ज्ञानको ही इस प्रकार करूँ कि सुख होता है और ज्ञानको ही इस प्रकार करूँ तो आनन्द होता है। परिणतियाँ ये तीन है—सुख, दु ख और आनन्द वैसे तो दो ही परिणति हैं—आनन्द और निरानन्द, क्योकि सांसारिक सुखमे और दु.खमे खेद बराबर है। सुख भी क्षोभपरिपूर्ण है और दु.ख भी क्षोभपरिपूर्ण है। वैषयिक सुखको भोगते हुए सब लोग अनुभव करते होगे कि बहुत क्षोभ होता है जब वैषयिक सुखके लिए प्रवृत्तिकी बात करनी पडी। विषय भोगते हुए क्षोभ होता है तब तृष्णाके कारण उसमे प्रवृत्ति हो रही है और विषय भोगनेके बाद भी क्षोभ महसूस करते हैं। तो वैषयिक सुख भी क्षोभसे भरे है और दुःख भी। एक मोहभाव लगा है इस कारण सुखमे हर्ष मानते हैं और दु खमे विषाद मानते हैं, पर देखा जाय तो सुख भी व्याकुलतासे पूर्ण है और दु.ख भी व्याकुलतासे पूर्ण है। अतः सांसारिक सुख और दु ख दोनो एक समान है और उनकी तुलना मे आनन्द दीखे तो इन दोनो परिणतियोमे महान अन्तर है। तो ये सब बातें हमारे ज्ञानके मूलपर निर्भर हैं कि मैं कैसा ज्ञान करूँ कि सुख हो, कैसा ज्ञान करूँ कि दु.ख हो और कैसा ज्ञान करूँ कि आनन्द हो। यद्यपि भेद दृष्टिसे यह बात है कि ज्ञानके साथ जो एक रागद्वेषका परिणाम लगा है, इष्ट अनिष्टकी बुद्धि लगी है उससे ये दुःख होते है, किन्तु एक आत्माको ज्ञानस्वरूप देखकर जब इतनी सारी विचित्रतायें देखते हैं तो एक ज्ञानद्वारसे ही देखें। किसी जीवको जब दु ख होता है तो यह मेरे लिए भला था, इसके बिना मेरा क्या जीवन है, आदिक कोई कल्पनायें हो रही है जो कि ज्ञानमे एक तरग हो रही है। उन कल्पनाओसे दु ख हो रहा है और जो सुखी होता है वह भी अपने मनमे कोई कल्पना कर

रहा है जिससे उसे सुख हो रहा है और जिन संतोंको आनन्द हो रहा है, प्रभुको आनन्द हो रहा है तो उनका ज्ञान एक अविशिष्ट सामान्य ज्ञातादृष्टा मात्र एक जाननहार स्थितिका ज्ञान चल रहा है उसमें कोई आनन्द हो रहा है, तो हमको एक निर्णय बना लेना चाहिये कि हमें ज्ञानकी ही दृष्टि मोड़ना है, ऐसा ज्ञान न करें जिससे दुःख हो या झूठा सुख हो, किन्तु ऐसा ज्ञान करें कि जिससे आनंदभाव आये। ऐसा ज्ञान है स्वभाव ज्ञान, स्वभावदृष्टि। तो हम सबको व्याकुलतासे छूटनेके लिए स्वभावदृष्टिकी आवश्यकता है। स्वभावदृष्टिमे स्वभाव ज्ञात होता है। स्वभाव कैसे जाना जाता है ? स्वभाव होता है अनादि अनन्त। जो वस्तुका प्राण है वही मेरा स्वभाव है। तो ज्ञान, दर्शन, चेतना ये मेरे स्वभाव है, यह स्वभाव अनादि अनन्त है, उसमें परिणमन होते रहेगे, फिर भी किसी परिणामनरूप न कह पायेंगे, क्योंकि उसके बाद फिर एक स्वभाव तो न रहा, परिणति तो दूर हो गई। जैसे किसी मनुष्यका सही ज्ञान करना है कि मनुष्य कहते किसे है ? तो जो बच्चा है उसका नाम मनुष्य न पड़ेगा। बचपन एक अवस्था है। बचपन मिटनेके बाद भी मनुष्य रहता है। जवान भी मनुष्य न कहलायगा, वह भी एक अवस्था है, बुढापा भी मनुष्य न कहलायगा, वह भी एक अवस्था है। तब कहना होगा कि इन तीनो अवस्थावोमे रहने वाला जो एक है वह मनुष्य है। इन सब अवस्थाओमें रहकर भी किसी एक अवस्थारूप नही बता सकते। इसी प्रकार यह आत्मा यह ज्ञानस्वरूप मै नाना परिणतियोमे रहता हुआ भी जो एक अनादि अनन्त शाश्वत है उसे कहते है स्वभाव। इस स्वभावकी दृष्टि होनेमे प्रसंगमे जो एक ज्ञानधारा चलती है उस ज्ञानधारामे आनन्द बरसता है और कर्मक्षय हो, सुख दुःख दूर हों, संसारके दुःख दूर हो, ये सब कलायें इस स्वभावदर्शनमे है।

**(४६) स्वभावदृष्टिके लिये समस्त नयविज्ञानोंकी उपयोगिता**——परम,उपकारक स्वभाव दृष्टिके लिए क्या प्रयास करना है ? देखिये विज्ञान परिचय होता है नयो द्वारा। जब हमने अपने जीवनमे एक उद्देश्य बनाया है कि स्वभावदृष्टि ही एक कर्तव्य है, मैं अपने अन्दर अन्त: प्रकाशमान परम ब्रह्मस्वरूपको ज्ञान द्वारा देखूं, उसको प्रतिभासू, ऐसी जब हमने एक प्रतिज्ञा की है चित्तमे कि मुझे ऐसा करना चाहिये, स्वभावदर्शनके लिए हीं हमारे समस्त विज्ञानो का उपयोग होना चाहिए, परिचय होता है नयोके द्वारा, और उन नयोका मूल विस्तार है निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनयके वर्णनसे भी हम स्वभावदृष्टिका उपयोग करें और व्यवहारनयके वर्णनसे भी हम स्वभावदृष्टिका प्रयोग करें, जब हमारा केवल एक ध्येय हो जायगा तो हमारे लिए कही विवाद न रहेगा। प्रत्येक कथनोसे, निश्चय व्यवहारके समस्त कथनोसे, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग आदि समस्त कथनोसे हम एक स्व-

भावदृष्टिका उपयोग बना सकते हैं। हम उसे ऐसा ढालें कि जिससे हम स्वभाव दृष्टिके अभिमुख हों। जैसे जब जीवोका वर्णन आता है कि इतनी बडी अवगाहनाके जीव होते हैं—एक हजार (१०००) योजन लम्बा ५०० योजन चौडा और २५० योजन मोटा एक महामत्स होता है, अथवा यह कहा जाय कि इतनी छोटी अवगाहनाका जीव होता है जो कि तंदुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है, तो इस सब वर्णनसे हमे यही सारांश निकालना है कि अहो एक ब्रह्म स्वरूपके दर्शन बिना इस जीवकी ऐसी ऐसी दशायें हो जाया करती है। उससे भी हम स्वभावदृष्टिका उपयोग कर सकते है। यो प्रत्येक वर्णनसे हम स्वभावदृष्टिका उपयोग करें। चित्तमे जब यह धारणा बन जाय कि मुझे तो सर्वत्र स्वभावदृष्टिका ही कार्य करना है तो उसे सब जगहसे यह बात मिल जायगी। जैसे श्रोताके लक्षणोमे बताया है कि जिसके चित्तमे यह है कि कैसे मैं कल्याण पाऊँ तो फिर उसकी बाह्य परिस्थिति भी इस तरहकी हो जाती है कि वह रागमें नही पड़ता। अपने हितके लिए उसका प्रयोग कर लेता है। देखिये वस्तुका परिचय कराया जाता है निश्चयनयसे और व्यवहारनयसे। निश्चयनय बताता है एक वस्तुका सब कुछ उस एक ही वस्तुमे निहारनेको। इस पद्धतिसे जब हम निहारते हैं तो हम पर क्या प्रभाव होता है, कोई अन्य वस्तु हमारे ख्यालमे नही रहती। निमित्त कहो, उपाधि कहो, अन्य भी इससे सम्बधित पदार्थ कहो, कुछ हमारी दृष्टिमे नही रहता और हम केवल उस एक वस्तुको निहारते रहते हैं। यद्यपि निश्चयनयमे दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध, और एक उन दोनोंसे परे है परमशुद्ध निश्चयनय। तो परमशुद्ध निश्चयनयकी बात स्पष्ट है और शुद्ध निश्चयदृष्टिमे जब यह निहारा जाता है कि यह केवलज्ञानी जीव, इसका केवलज्ञान इसमें अपने स्वभावका उपादान करके वह केवलज्ञान निरन्तर परिणमता रहता है। देखो ना तो उस दृष्टिमे उस पर्यायमुखेन भी ज्ञान किया जा रहा, लेकिन स्वभावके ऊपर हम शीघ्रतासे पहुच जाते है। जिसमे पर्याय निकली उसका स्रोत यह मुख्य रह जाता है और जब अशुद्ध निश्चयकी पद्धतिसे विचारते है तो वहाँ बद्ध अबद्ध आदिक बातें न देखकर देखा जा रहा है शुद्धपरिणमन मगर जैसे सामने दर्पण है और पीछे लडके खड़े हैं तो यद्यपि लडकोका सन्निधान पाकर दर्पणमे छाया हुई, लेकिन यह कोई जरूरी तो नही कि देखने वाला उन बच्चोका ख्याल करता हुआ ही देखे। न ख्याल करे। जैसा वर्तमान परिणमन है वह देख रहा है और यह समझ रहा है कि यह परिणमन तो इस पर्यायका है। है वह अशुद्ध परिणमन, लेकिन बाहरी उपाधिका ध्यान न होनेसे वह एक द्रव्यमे देखता रहता है तो उसे आराम मिलेगा। एकद्रव्यमें देखनेके कारण, परद्रव्यको न निहारनेके कारण अब एक व्यवहार पद्धतिसे देखो—जैसे बताया है स्वय समयसारमे कि उदय विकार नाना प्रकारका है

ग्रोर वह कर्मविपाक है तो वह मेरा स्वरूप नही है। मै तो एक टंकोत्कीर्णवत् ज्ञानस्वभावी हूं। मुझमे जो रागद्वेष क्रोधादिक विभाव हो रहे है ये पुद्गल कर्मके उदयसे निष्पन्न हैं तब ही तो इतना तक कहा जाता कि ये पौद्गलिक है, उनको देखें तो किसलिए देखें? इससे हमे यह शिक्षा मिली कि यह मैं नही हूं। यह पुद्गलकर्मका ठाठ है। इससे मैं निराला एक अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। उस व्यवहारनयके प्रयोगसे भी जान सकते। मैं ज्ञानमात्र हूं, मैं क्रोधादिक भाव नहीं, क्योंकि ये पुद्गलकर्मके विपाक है। इस तरह जब देखा तो इस स्वभाव दृष्टिके प्रयोगके लिए हमारा ज्ञान बना। तो हम नयोका नाना प्रकारसे ज्ञान करके प्रयास करे स्वभाव दृष्टिको निहारनेका।

( ५० ) **ग्रात्मशान्तिके ग्रर्थ ज्ञानसुधारकी आवश्यकता**—देखो ज्ञानकी बदलसे बहुत बदल हो जाती है। जैसे किसी बालकको जब हुचकी ग्राती है तो कुछ बालक क्या उपाय करते है कि कोई ऐसी बात उसके प्रति कह देते है कि वह सोचनेमे लग जाता है। कोई ग्रपराध लगा दिया, कोई ग्रौर गड़बड़ बात कह दी, तो उसका ज्ञानोपयोग बदल जाता है ग्रौर उस की हुचकी बन्द हो जाती है। ज्ञानकी बदलका लोकमे भी बडा प्रभाव देखा जाता है, ग्रगर ग्रध्यात्म बदल जाय वो फिर उसके प्रभावका तो कहना ही क्या है। तो हमे स्वभावदृष्टिके लिए प्रयास करना है। एक दृष्टान्त लो—यमुना नदीमे रहने वाला कोई कछुवा ग्रपनी चोच को पानीसे बाहर निकालकर तैर रहा था। उसकी चोचको चोटनेके लिए सैकड़ो पक्षी उस पर मंडरा रहे थे। वह कछुवा इधर उधर भगता फिरता था ग्रौर दुःखी होता फिरता था। पर ग्ररे कछुवे तू क्यो व्यर्थमे दुःखी होता फिरता है। ग्ररे तेरे पास तो ऐसी कला है कि ग्रगर उसका उपयोग कर ले तो तेरे सारे दुःख तुरन्त ही समाप्त हो जायें। मानो कछुवा पूछ बैठे कि बताग्रो वह क्या कला है? तो कहेगे कि ग्ररे तू ८ १० ग्रगुल पानीमे जरा डूब तो जा, बस तेरे सारे संकट खतम। फिर तो हजारो लाखो कितने ही पक्षी तेरा कुछ बिगाड न कर सकेंगे, ठीक यही बात ग्रपने ग्रापमे देखिये—हम ज्ञानहंस हैं, ज्ञानसागरमे ही रहते है, ज्ञान ही ज्ञान मेरा स्वरूप है। ज्ञानमे ही हम बसते हैं। इतना भी भेद क्यो करें? ज्ञान ही ज्ञान रूप है हम। तो ऐसे ज्ञानरूप होकर, ज्ञानसरोवर होकर हमने क्या किया है? उपयोगकी चोंचको इस ज्ञानसागरसे बाहर निकाल रखा है, मायने पर-वस्तुवोमे हम नेह लगाये हैं, ध्येय लगाये है, ये ही मेरे प्राण हैं, ये ही मेरे सर्वस्व है, इनसे मेरेको सुख होगा, इनसे मेरेको मगल ग्रानन्द है, इनसे मेरा जीवन है। कितनी ही बातें सोच रहे है। मान प्रतिष्ठा ग्रादिक ग्रनेक वातोमे यह उपयोगकी चोच लग रही है। जिसने ग्रपने उपयोगकी चोचको बाहर निकाल रखा है, जो परद्रव्योमे फसाव रखे है उसे हजारो सकट ग्रायेंगे ही। मित्र लोग सतायें, राजा सताये, चोर

सतायें, डाकू सताये, रिस्तेदार लोग सतायें, इष्ट अनिष्ट सयोग वियोग आदिके अनेक सकट आते है। क्यो ये सकट आते है कि इसने अपने उपयोगकी चोचको बाहर निकाल रखा है। इसे कोई समझाये—जैसे हमारे आचार्योंने नये नये ढगोसे समझाया है कि रे जीव तू क्यो दुखी होता है? अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि हजारो लाखो कितने ही सकट आ जायें तो भी तेरा कोई बिगाड नही कर सकते। क्या है वह कला? अरे अपने उपयोगकी चोच जो बाहर निकाल रखो है उसे अपने ज्ञानसागरमें डुबो दे अर्थात् उपयोग जो इतना बाहर बाहर चल रहा है उस उपयोगको तू अपने आपमे प्रवेश करा दे, फिर तेरेपर कोई भी सकट नही आ सकते है

(५१) **अज्ञानसंकटके विनाशका उपाय सम्यग्ज्ञान**—देखो—यद्यपि कहनेको संकट नाना है, क्योकि किसीसे पूछो कि भाई तुम्हे क्या दु.ख है? तो वह अपना दु'ख अलग ही बतायगा। हमारे सामने यह विरोधी आ गया, मेरा अमुक काम अभी पूरा नही बन रहा यो नाना कष्ट बतावेंगे, लेकिन वे सब कष्ट नाना कुछ नही है। वे सब कष्ट एक ही है। कितने ही कष्ट इकट्ठे कर लें, करोडो दुखियोसे पूछो कि भाई तुम्हे क्या कष्ट है? तो सभी लोग अपना अपना अलग अलग दुःख बतावेंगे। तो उन सब कष्टोका मूल कारण क्या है? मूल कारण यही है कि एक अपने आपके स्वभावसे चिगकर पर तत्त्वोमे लग गए, यही कष्ट है। चाहे धनकी बात हो चाहे परिजनकी, सभी कष्टोका मूल कारण यही है। इन समस्त कष्टोको मिटानेका उपाय केवल एक ही है, जो व्यक्ति लाइनपर है उसे तो इन कष्टोका मिटाना सरल है और जो व्यक्ति लाइनपर नही है उसे इन कष्टोका मिटाना अति सुगम है। तो हम स्वभावदृष्टिके लिए अधिकाधिक प्रयास करें, यही धर्म है, यही धर्मका पालन है। पर यह प्रयास कैसे होगा? देखो सभी उद्यम एक इस ही उपायके लिए हैं। गृहस्थधर्म, मुनिव्रत, व्रतसयम आदिक जो भी इसके उपाय हैं वे सब इसीलिए है कि स्वभाव दर्शनमे मेरी स्थिरता हो जाय। स्वभावदर्शन कहो, प्रभुदर्शन कहो, यह अहकार मेटे बिना नही हो सकता। अहकारके मायने हैं कि जो मैं नही हू, उसे माना कि यह मैं हू। देह मैं नही हू, पर माना कि यह मै हू, तो यह अहकार हो गया। जैसे लोग कहते हैं कि नाक रखना, अपनी टेक रखना यह कहलाता है अहकार। जब तक अहकार है तब तक हम प्रभुदर्शनके पात्र नही हो सकते। सब जीव मेरे ही स्वरूपके समान हैं। मेरे स्वरूपमे किसी अन्य जीवके स्वरूपसे कोई विशिष्टता नही है, ऐसा जब परिचय होता है तो फिर अहंकार नही रहता। अहकार तब होता है जब बाह्यदृष्टि हो। यह कार्य होना ही चाहिये, ऐसे इस अहकारके जीवनमे चलने वाला प्राणी न तो कभी अपनेको शान्त कर सकता और न उसके जीवनमे कभी अध्यात्म-

प्रगति ही हो सकती।

(५२) **शान्तिमार्गके तथ्यचतुष्कमें प्रथम तथ्य**—जिसको शान्त होनेकी अभिलाषा हुई हो उसको इन चार तथ्योका निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। मैं क्या हूं, मेरा क्या है, मै क्या करता हूं, मै क्या भोगता हूं ? इन चार समस्यावोंका सही निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। अब इन बातोपर क्रमसे ध्यान दीजिए। मैं क्या हूं ? इसका उत्तर चाहेगे तो मोटेरूपसे समझ लीजिए कि कोई भी जीव यह नही चाहता कि मैं मिट जाऊं। किसी बाह्यवस्तुके प्रसंगमे भी जैसे किसीसे कहा जाय कि भाई तुम खोम्चा फेरते हो, तुम हमसे यह लाखोकी जायदाद ले लो, मगर एक वर्षके बादमे सब कुछ तुमसे छुडा लिया जायगा, तो क्या वह उस स्थितिको पसद करेगा ? न पसंद करेगा, मै थोड़े दिनोको अच्छा बन जाऊँ और फिर पहिले जैसा गरीब बन जाऊँ ऐसी स्थिति वह नही चाहता। ऐसे ही परख लीजिए कि मैं वह हूं, जो कभी मिटता नही। मै ध्रुव हू, सदा रहने वाला हूं। यह भ्रम लगा हुआ है कि मैं मिट जाया करता हूं। मिट जाने वाली चीज दशा है, और जिसपर लोगोकी दृष्टि है वह एक विकार दशा है, औपाधिक है, नैमित्तिक है, परभाव है, वह मिटने की चीज है। उसकी भावना करो कि जडसे मिट जाय, लेकिन मैं स्वयं क्या हू ? मैं वह हूं जो कभी मिटता नही अच्छा कुछ अनुभवसे भी विचारो कि मैं क्या हू ? ये तो सभी पदार्थ हैं जो मिटते नही हैं। जो मिटता है वे सब दशायें है। जो पदार्थ है वह कभी मिटता नही। तो यह तो सब पदार्थोमे पायी जाने वाली बात है। कुछ असाधारण बात तो देखिये जिससे अनुभव जगे कि मै क्या हूं ? तो मै कुछ समझ रहा हू, जान रहा हू, कुछ तो बात जानकारीकी बन ही रही है। सभीमें यही बात है यदि कोई पुरुष यह कहता है कि आत्मा नही है, मै नही हूं, यह झूठा भ्रम बना रखा है कि यह आत्मा है, यह भौतिक चीज और भूत चतुष्टयसे एक यह बिजली पैदा हुई है। मैं कुछ नही हू। जो ऐसा जानता है कि मैं कुछ नही हूँ, आत्मा नही हूँ यह ज्ञानकारी तो कमसे कम बन रही है ना ? चाहे निषेध रूपमे रही। जिसे यह जानकारी है वही आत्मा है। मै क्या हूं ? एक ज्ञानमय पदार्थ। जिसमें जानन बना हुआ है वह मैं आत्मा हूँ, जिसमे जानन बना है उसमे रूप, रस, गध, स्पर्श तो हो नही सकते क्योकि वह ज्ञानमय पदार्थ है, तो मैं जानने वाला पदार्थ हू, जानता हू इसीसे यह सिद्ध है कि मैं रूप, रस, गंध, स्पर्श ये मै नही। उपयोग है एक जानन। तो इसका विशिष्ट परिचय पानेके लिए जाननस्वरूपको ही ध्यानमे लाना होगा। जाननका क्या स्वरूप है ? जानन क्या कहलाता है ? जानन क्या स्थिति है ? वह रूप जाननके द्वारा जाननेको स्थितिको पहिचानने चलेगे तो पहिचानमे आ जायगा। तो आत्मामे ऐसी ज्ञान कला है कि

जिसमे यह जाननेके लिए चले तो उसे जानकर रहेगा। पर जाननेके लिए चले तो सही। जैसे एक्सरा यन्त्र होता है हड्डीका फोटो लेने वाला, उससे फोटो लिया जाय तो वह यंत्र चाम मास मज्जा, खून आदि सबको छोड करके सिर्फ हड्डियोका फोटो ले लेता है, इसी तरह हमारा एक ज्ञानयंत्र है। हम जिसे जानना चाहे, बीचमे चाहे कितने ही आडे आयें, कितनी ही वाधायें आयें उनको न जानेंगे किन्तु जिसका हमने लक्ष्य किया है उसे जानकर रहेगे। मैं अगर अपने इस जाननस्वरूपको जानने चलूं। दृढ संकल्प बन जाय तो मैं अपने जानन स्वरूपको जानकर रह सकता हू, पर जीवोकी बुद्धि बाह्य पदार्थोंकी ओर लगी है, वह एक ऐसी बडी बाधा है कि जाननस्वरूपकी ओर यह चल ही नही पाता। मैं ज्ञानमय पदार्थ हू, आकाशवत् निर्लेप अमूर्त हूँ, किन्तु ज्ञानसे अधिष्ठित हूँ, ऐसा मैं ज्ञानमय पदार्थ हू, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ अपने को मत समझें, जैसे माना कि मैं देह हूँ, देहको मत माने कि मैं देह हूँ। शरीर तो शरीर है। शरीरको तो उर्दू मे कहते है दुष्ट प्रकृति वाला। इस ही शरीरके कारण हम आपको नाना दु.ख लगे हैं। भूख प्यास, ठढी गर्मी, सम्मान अपमान आदिक ये सब दु ख इस शरीरके कारण ही तो लगे है। यह शरीर मैं नही हूँ। यह शरीर रूप, रस, गध, स्पर्शका पिण्ड है। शरीर भी क्या है ? एक माया रूप। यह मैं नही हूँ। मैं तो एक ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ, ऐसा ज्ञानस्वरूपमय अपने आपका बोध हो तो बहुतसी समस्यायें इसकी दूर हो जाया करती हैं। मैं वह ज्ञानमय पदार्थ हूँ और और रूप नही हूँ।

( ५३ ) **शान्तिमार्गके तथ्यचतुष्कमें द्वितीय तथ्य**—दूसरी बात सोचिये—मेरा क्या है ? लोग तो कहा करते है कि यह मेरा धन है, मेरा मकान है, मेरा वैभव है, मेरा परिवार है, मेरा शरीर है,... यो पर पदार्थोंको अपना बताते हैं। जरा विचार तो करो—मकान तो ईंट पत्थरोका है वह तो आपसे दूर जगह पडा है, वह आपका क्या हो सकता है ? आपका मकान कुछ नही है, आप यहाँ मन्दिरमे बैठे हैं तो मकान आपके साथ चिपट कर तो नही आया। धन वैभव भी आपका कुछ नही है, वह भी एक पौद्गलिक पिण्ड है। जरा निकट आया, आपने ममता कर ली, पर ममता करनेसे वह आपका न बन जायगा। वह तो भिन्न चीज है। और, ममता करके खुश तो होते हैं, मगर ममता करके क्लेश मिलता है जीवोको। सुखकी बात नही मिलती। जिसके पास धन है उसमे ममता है, वह जानता है कि रात दिन यह उपयोग ऐसा बाहर भटकता रहता है कि अपने अन्त. प्रकाशमान प्रभुके दर्शन नही कर पाता। ये बाह्य पदार्थ धन वैभव आदिक मेरे कुछ नही हैं। ये नही है तो शरीर तो मेरा कुछ है ? शरीरके साथ आया हूँ, शरीरके साथ रहता हूँ, शरीरमे वेदना होती है तो मेरेमे कष्ट होता है। शरीरसे सारी बात लगी है और नीतिकार यहाँ तक लिखते है कि शरीरमाद्यं

खलुधर्मसाधनं । तो शरीर तो मेरा हुआ, इस पर तो विचार करो। देखो जैसे किसी दुष्टसे फंस जाय तो उससे बचनेका जो रास्ता बनाया जाता है वह कुछ और है, मगर यह कुछ और है। इस शरीरसे हम फँसे है तो इससे निपटना है, मगर इससे दुश्मनी करके हम नही निकल सकते। इस शरीरका घात कर दें तो दूसरा शरीर मिलेगा। कैसे निपटे? इसे तो विधिवत् ही निपटाना पड़ेगा तब ही इससे पिण्ड छूट सकता है। हमारा जब तक जीवन है तब तक आहार करना और ढंगसे रहना यह सब करना पड़ता है, मगर यह सब कुछ करते हुए भी मैं क्या हूं, मेरा क्या है, इसका सही निर्णय बनाना होगा। तब ही इससे निपट सकेंगे। मेरा देह नही। देह जड़ है, पौद्गलिक है। मैं ज्ञानमय पदार्थ हूं, सारे क्लेश इस देह के सम्बंधसे है, यह देह जो कि किसी दिन परिजनों, मित्रजनों द्वारा मरघटमे जलाकर राख बना दिया जायगा उस देहसे क्या ममता करना? अरे जिस शरीरको पक्षी लोग चोट खायेंगे। जो शरीर अत्यन्त घिनावना है, क्या मै ऐसा हूँ? मैं ऐसा निराला ज्ञानमय पदार्थ हूँ। अब समझमे आया कि देह मेरा नही है लेकिन कषाय, विचार, उद्यम ये तो सब मेरे है? अरे कषाय भी मेरे नही है, कषाय क्या चीज है? पूर्व बद्ध कर्म उदयमें आते हैं, उनमे एक विलक्षण दशा बनती है, उसको यह जीव चेतता है, अनुभवता है, अपना मानता है। इसने अपने उपयोगमे एक ऐसी कल्पना बना ली है कि बस यही तो कषाय है। तो यह कषाय मेरी नहीं है। जैसे दर्पणमे बाहरी पदार्थोंकी छाया प्रतिबिम्बित हुई तो दुनियाके लोग कहते हैं कि यह दर्पणकी छाया नही है, यह तो अमुककी है। उसका निमित्त पाकर दर्पणमें स्वच्छताका विकार हुआ है, ऐसे ही कर्म विपकका निमित्त पाकर इन विकारोमे स्वच्छताका विकार हुआ है, वह मेरा नही है। अच्छा रागद्वेषादिक भाव मेरे न सही, मगर जो विचार बनते है, वे विचार तो मेरे होंगे? तो विचार भी मेरे नही।

(५४) **विकल्पोंकी अनात्मीयता**—देखो बहुत मोटी दृष्टिसे यह कहा जाता है कि बाहरी पदार्थ मेरे कुछ नही। पुद्गल मेरे नहीं, अन्य जीव मेरे नही, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य मेरे नही, उनसे ममता हटानेका जहाँ उपदेश दिया जाता है वहाँ यह तर्क उत्पन्न होता है कि भाई पुद्गलको तो लोग कहते है कि यह मेरा है इसलिए इसको तो मना करनेका उपदेश दें कि ये मेरे नही है, मगर धर्म, अधर्म, आकाश, कालके बारेमे कौन विचार करता है ऐसा कि यह धर्मद्रव्य मेरा है, अधर्मद्रव्य मेरा है। कोई ऐसा कहता है क्या? कोई नही कहता, फिर क्यों निषेध किया जाता है कि यह समझलें कि धर्मद्रव्य मेरा नही, अधर्मद्रव्य मेरा नही? तो उसका उत्तर यह बनेगा कि यद्यपि कोई धर्मद्रव्यके बारेमे सीधा तो नही बोलता कि धर्मद्रव्य मेरा है मगर एक बात तो बतलाओ कि धर्मद्रव्यके स्वरूपके बारे

मे अगर तत्त्वचर्चा हो रही हो और उस तत्त्वचर्चामे कोई हमारे जाने हुए तत्त्वके मुताबिक न बोले तो वहाँ क्रोध उमड जाता है, लडाई हो सकती है, बातचीत बढ़ जाती है, यह क्यों बढ गई ? धर्मद्रव्य तो तुम्हारा है ही नही, पर धर्मद्रव्यकी बातचीतके प्रसगमे इतना बडा झगडा क्यो बन जाता है ? यो बन जाता है कि धर्मद्रव्यके बारेमे जो मेरा विकल्प हुआ, जो विचार हुआ, जो जानकारी बन रही उस विकल्पमे यह मेरा है, यह मैं जानता हूँ यह मेरी चीज है, वहाँ ममता लगी है। धमद्रव्यके बारेमे सीधी ममता तो नही लोगोको मालूम होती मगर उसके सम्बन्धमे जो विकल्प उत्पन्न होता उस विकल्पमे तो ममता है ना। कैसे जाना अगर विकल्पमे ममता न होती तो धर्मद्रव्यकी चर्चाके प्रसगमे लडाई झगडा क्यो यह ठानता ? अब समझ लीजिये कि विकल्प भी मेरा नही, ये विचार भी मेरे नही। तब मै क्या हूँ ? एक सहज प्रतिभास मात्र ज्ञानतत्त्व हूँ। अहो विशिष्ट प्रतिभास होना, किसी वस्तुकी जानकारी होना, कोई तर्क उत्पन्न होना, यह विशिष्ट जानन भी जब मै नही हूँ, मेरा नही है तब फिर जगतमे मेरा क्या है ? मेरा शाश्वत् सहज ज्ञानस्वरूप, यही मेरा है, अन्य कुछ नही। ये जड वैभव तो प्रकट पर हैं, ये मेरे क्या हो सकते हैं ? और जिन शरीरोमे मै ऐसा घुला मिला अनादि कालसे चला आया हू वह घुला मिला शरीर भी जब मेरा नही रहता है तो इन प्रकट भिन्न ढलोकी तो बात ही क्या है ? और तो जाने दो। ये रागादिक भाव भी मेरे बनकर नही रह पाते। ये मिट जाते हैं। ये सब मै नही हूँ। ये सब मेरे नही हैं। मै ज्ञानस्वरूप हूँ और जो मेरा ज्ञानस्वभाव है वह ही मेरा वैभव है। दूसरे प्रश्नका यह निर्णय है कि मेरा क्या है ?

**(५५) शान्तिमार्गके तथ्यचतुष्कमें तृतीय तथ्य**—अब तीसरी बातपर विचार करें मैं क्या करता हू ? तो इसका उत्तर तो तब ही बनेगा जब पहिले उस "मैं" को तो समझ लूं। मैं समझमे आयगा तो इसका करना भी सही समझमे आयगा। मैं क्या करता हूं ? मैं हूँ ज्ञानस्वरूप जानन मात्र। तो स्पष्ट बात यह है कि मैं उपयोगका काम करता हूं, मैं जाननेका काम करता हूँ। देखो हर समय यह जीव जाननेका काम करता है। जाननेका काम हो तो उसे आकुलता नही, अशुद्ध जाननेका काम हो तो इसे आकुलता है, जितने भी जीव को सुख दुःख होते हैं वे परवस्तुमे नही होते या बाह्य वस्तुसे सुख दुःख नही प्राप्त करता यह जीव, किन्तु अपने आपकी कल्पनामे कुछ ऐसी बात बनायें कि जिससे सुख महसूस करता, दुःख महसूस करता। जैसे मानो कही बहुत दूर पर किसीकी दुकान है, वहाँ हुआ तो हो फायदा और यहाँ आपके पास खबर ऐसी आ जाय कि लाखका नुक्सान हो गया है तो आप यहाँ बैठे हुए दुःखी हो गए और मान लो हुआ तो हो एक लाखका नुक्सान, पर

खबर आ जाय कि इस बार एक लाख रुपयेका फायदा हुआ तो आप सुखी हो जाते है। तो भाई किसी परवस्तुसे सुख दुःख नही होता। किन्तु सुख दुःख होता है आपकी कल्पनासे जैसी आपकी कल्पना बनी उसके अनुसार सुख दुःख मानते। तो सुख दुःख भी क्या चीज है ? कल्पनाका ही नाम सुख है और कल्पनाका ही नाम दुःख है। कल्पना क्या चीज है ? उपयोगकी ही एक लीला है तो मै प्रति समय उपयोग ही करता हूँ, जानन ही करता हूँ। कल्पनायें करूँ या कल्पनायें न करके शुद्ध ज्ञातादृष्टा रहूं, मैं एक ज्ञातादृष्टा रहूं तो शान्ति है या कल्पनायें करूँ तो अशान्ति है, पर करता हूं मैं उपयोगका ही काम। मै बाह्य पदार्थोंको कुछ नही करता। जो लोग ऐसा ख्याल करते है कि मैंने मकान बनाया, मैंने दूकान बनाया, मैंने अमुक काम किया तो ये मेरी सारी बातें केवल एक कल्पनामात्र हैं। मैं उनको करता नही। तो मै क्या करता हूं ? मैं केवल अपनेमे अपने भावोको करता हू। भावोके सिवाय मैं और कुछ नही करता। अशुद्ध श्रद्धा है तो अध्यवसान करता हू, शुद्ध श्रद्धा है तो ज्ञातादृष्टा-रूप परिणमन करता हूं मगर उपयोगकी कला करनेके अतिरिक्त मैं और कुछ नही किया करता हूं, ये सारे भ्रम हैं मैंने मकान बनाया, दुकान बनाया, मैंने अमुकको यो पढ़ाया लिखाया। बहुतसे दुःख तो यह जीव व्यर्थ ही मुफ्तमें लेता रहता है। अज्ञान बने, भ्रम बने, दुःखी हो गये। बात सत्य समझें। मैं बच्चोंको पालता पोसता हूँ, पढ़ाता लिखाता हूं, बड़ा बनाता हूं, धनी बनाता हूं आदिक ये सब भ्रम है। अभी कोई साल दो सालका ही बच्चा है, उसे देखकर यह पिता क्या क्या बातें सोचता है ? यह सुखी रहे, यह खूब फले फूले, यह आनन्दमग्न रहा करे और उनकी सेवाके लिए बाई भी रख देते है, रिस्तेदार भी बुला लेते है, हर समय यही चाहता है कि यह बच्चा खुश रहे। और वह बच्चा उस पिताके बारेमे कुछ नही सोचता कि यह सुखी रहे। उस बच्चेको अपने पिताके प्रति तो कुछ भी चिंता नही है। तो भला बतलावो कि जिस बच्चेके लिए पिता इतने विकल्प करे, इतना पुरुषार्थ करे, इतनी नौकरी करे, तो इसमे पुण्य किसका बडा है ? उस पिताका पुण्य बडा है या पुत्रका ? पुण्य तो उस पुत्रका ही बड़ा है जिसका कि पिता चिन्ता करता है। अरे जिसका पुण्य बडा है उसकी तो चिन्ता करते हैं और जो खुद नौकर बने फिर रहे हैं, गरीब बन रहे है उसकी कुछ भी चिन्ता नही करते। मै क्या किया करता हूं। मैं बाहरमें कुछ नही किया करता। इस जीवके शुभ अशुभ कर्म लगे है उनके उदयानुसार इसे सुख दुःख होते है। इनको करनेमे मैं समर्थ नही। इन सुख दुःखोको मैंने नही किया। सुख दुःख करनेमें समर्थ नही, मुक्ति दिलानेमे समर्थ नही। उनका ही वीतराग परिणाम होगा तो मुक्ति पा लेंगे, उनका सराग परिणाम होगा तो वे संसारमे फसे रहेंगे।

(५६) परपरिणति करनेकी अशक्यताका दिग्दर्शन—बाहरी पदार्थोंका कुछ भी करनेमे मै समर्थ नही। कहेगे वाह! मै बोल रहा हूँ इतना तो मानोगे। क्यो तुम कहते कि मैं कुछ भी करने मे समर्थ नही हूँ? अरे भाई तुम बोलते भी नही हो। तो फिर ये शब्द कैसे निकल रहे? यो निकल रहे कि मै उपयोग स्वरूप आत्मा अपने भावोको बनाता हूँ। इच्छायें करता हूँ, यहां तक तो मेरा काम है, अब इच्छा किया तो इच्छाका निमित्त पाकर प्रदेशोमे परिस्पद हुआ। यह ही काम मान लीजिये मगर इसके बाद तो कुछ काम ही नही है मुझ आत्माका तो फिर हो कैसे गया? हो यो गया कि शरीरके बंधनमे है आत्मा। उसने इच्छा की। इच्छाके अनुकूल शरीरमे प्रदेश परिस्पद हुआ। परिस्पदके अनुकूल इस शरीरमें रहने वाली वायु चली, और वायुके चलनेके अनुकूल ये ओठ, दत, जिह्वा आदिक चल पडे। बस ये शब्द निकल पडे। यह मुख तो एक हारमोनियम है। ओठमे ओठ मिलाकर प फ ब भ आदि शब्द निकले, दांतोमे जिह्वा लगानेसे त थ द ध आदि शब्द निकले, जिह्वाको ऊपर के मूर्धामे लगानेसे ट ठ ड ढ आदि शब्द निकले। यो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे ये शब्द निकल पडे। तो इन शब्दोका भी कर्ता मैं नही हूँ। शरीरकी क्रियायें भी मै नही करता हूँ। इच्छा हुई फिर उस इच्छाके अनुकूल प्रदेश परिस्पद हुआ, उसके अनुकूल शरीरमे वायु चली, फिर उसके अनुरूप ये हाथ पैर चले। जरा तत्त्वस्वरूपपर दृष्टिभेद कर देखो—मै क्या करता हूँ? मै केवल अपने भाव करता हूँ। भावोके अलावा मै और कुछ नही कर सकता। देखो जब मै भाव ही करता हूँ तो फिर क्यो न बुद्धिमानी करूँ। ऐसे भाव बनायें कि जिससे ससारके सकट टल जायें। ऐसे भाव क्यो बनायें कि जिससे मुझे संक्लेश हो? देखा होगा कि ये बच्चे लोग परस्परमे प्रीतिभोजका नाटक रचते हैं। वहाँ खाने पीनेको कुछ नही रखते पर वह तो उनका खेल है। किसी पेड़की पत्तियां तोड लिया, कहीसे कुछ कंकड उठा लाये बस प्रीतिभोजका खेल चालू कर दिया। उन पत्तोको वे बच्चे यह कहकर परोसते हैं कि लो रोटी, ककडोको यो कहकर परोसते है कि लो गुड। वहाँ केवल भाव ही बनाते हैं वे बच्चे। कही वहाँ रोटी नही रखी, कही वहां गुड नही रखा। अरे भाई जब भावोका ही प्रीतिभोज है तो वहां रोटीके बजाय कचौडी क्यो नही कहते? गुडकी जगह लड्डू क्यो नही कहते? पर यह तो उनके उपादानकी बात है। उनमे जैसी योग्यता है वैसे वे भाव बनाते हैं। तो उसी प्रकार हम आप जब केवल भाव ही बनाते है, भाव बनानेके अतिरिक्त और कुछ करते नही तो फिर अच्छे भाव क्यो नही बनाते जिससे अपना कल्याण हो? अपने भाव शुद्ध बनावें। अपने आत्माके सत्य स्वरूपका निर्णय बना लें। मैं क्या हू? क्या करता हू? सिर्फ भाव ही करता हू। बाहरमे मैं और कुछ करता नही। देखो सम्यग्दृष्टिको कृतकृत्य

बताया है क्योंकि वह जानता है कि मेरा बाहरमे कुछ भी काम किया ही नही जा सकता है। जो होना है होता है। जो होता है होने दो, 'होता स्वयं जगत परिणाम।' उपादानसे निमित्तनैमित्तिक विधानसे जो होता है हो, पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नही करता। मेरेको कुछ करनेको पडा ही नही है। अच्छा तीसरे प्रश्नका कुछ कुछ उत्तर दिया।

(५७) **शान्तिमार्गके तथ्यचतुष्कमें चतुर्थ तथ्य**—अब जरा चौथे प्रश्न पर कुछ विचार कीजिए। क्या मै भोगता हूं? लोग तो ऐसा कहते हैं कि मैं भोजनको भोगता हूं, कपड़ोंको भोगता हूं, परिवारको भोगता हूं, धन वैभवको भोगता हूं, इस तरहके अनेक विचार बनाते हैं। लेकिन मैं क्या हूं? इसका सही निर्णय हो जाय तब फिर क्या मै भोगता हू, इसका सही निर्णय हो जायगा। मै एक ज्ञानस्वरूप हूं, मैं क्या कर सकता हूं? मैं तो एक अपना परिणमन कर सकता हूं, अपना अनुभव कर सकता हूं। जो उपयोग जमाया, जैसी कल्पना उठाया, जैसी जानकारी बनी उस प्रकारका ही भोगना मेरेमे होता रहता है और कुछ भोगना मेरेमे नही होता। यह बात भ्रमकी है कि मैं अमुकका स्वाद भोगता हूं। कोई फल खाये तो वह सोचता है कि मैने फलको भोगा, फलको नही भोगा। फलको रसनाइन्द्रिय द्वारा चखकर जो रसका ज्ञान किया उस ज्ञानमे इष्ट बुद्धि हुई। उस रसके विषयको आपने कल्पनासे भोगा, रसको नही भोगा। रसको तो वह फल ही भोगेगा, रसका तो फल ही परिणमन करेगा, आप न भोग सकेंगे। मै बाहरी किसी भी पदार्थको नही भोगता, मै केवल अपनी कल्पनाको भोगता हू, तो देखो भाई, सुख शान्ति पानेके लिए बड़े बडे परिश्रम किए जाते हैं, बड़े बडे पौरुष बनाये जाते हैं, मगर सुख शान्तिका पाना कितना सुगम है। यह तो देखिये कि अपने आपके स्वरूपका सही परिचय पा लें, ऊधम छोड दें, उद्दण्डता छोड दें। ऊधम क्या? ऊधम यही है कि खटपट बनाना, बाहरी वस्तुवोका संग्रह विग्रह करना ये ही सब खटपट है, यह ही ऊधम है। जैसे कोई ऊधमी संतान स्कूलका बालक कही बैंच तोडता है। कही कुछ तोड़ता है, बडा ऊधम मचाता है तो मास्टर उसे पीटता है। समझाता है, तो इसी तरह ये संसारी अज्ञानी प्राणी इन परपदार्थोंके पीछे ऊधम मचा रहे है तो हमारे ये ऋषि संत जन समझाते है कि अरे भाई, तुम इन परपदार्थोंके पीछे ऊधम क्यो मचा रहे हो? तुम तो अपनेको जानो और अपने आपमे रहो, बस तुम प्रसन्न हो। तुम शान्त हो। तुम्हे किसी प्रकारका क्लेश न होगा। यह जीव व्यर्थ ही बाह्य पदार्थोंमे अपना उपयोग लगाता है, उनके संग्रह विग्रहकी भावना करता है, तोडफोड करता है। तोड फोड़ तो करेगा क्या, पर उसका भाव बनाता रहता है, उसका ही फल है कि यह बड़े क्लेश पाता है।

(५८) **शान्तिलाभकी दिशामें साधक आत्मस्वरूपनिर्णयकी प्राथमिकता**—सब जीवो

की समस्या एक यह ही है कि क्लेश दूर हो और शान्ति मिले और जितने भी प्रयत्न करते है वे इसी प्रयोजनसे करते हैं कि क्लेश टलें, शान्ति प्राप्त हो, लेकिन बहुतसे प्रयत्न करनेपर भी शान्ति नहीं मिली । यह बात सभी लोग सोच रहे होंगे । क्या वजह है, क्या कारण है ? देखिये जिसको शान्ति चाहिए न तो उसका सही पता है और न जो शान्ति चाहिए उसका पता है सही । तो बतलावो जब न पात्रका पता है और न वस्तुका पता है तो प्राप्ति कैसे हो सकती ? उन दो बातोपर विचार करना है कि शान्ति कौन भीतरमे चाह रहा है ? यद्यपि सभी लोग कहेगे कि मैं चाह रहा हू, अरे उस मैं का अभी निर्णय कहाँ लिया ? कोई कहेगा कि मैं अमुक जातिका हू, शान्ति चाहता हूं, मैं निर्बल हूं, सबल हू, गोरा हू, कुरूप हूं यह मैं आनन्द चाहता हूं । देहको निरखकर, उसे मैं मानकर शान्ति चाहनेकी बात सोच रहे होंगे । वह तो मैं हू ही नही । मैं क्या हू ? पहिले इसका ठीक ठीक निर्णय करो । मै क्या और मेरा है क्या ? तो देखिये—जगतमे जितने बाहरी पदार्थ हैं मकान धन सोना चांदी आदिक ये तो मै नही हू । इतना तो सभी लोग सोच लेते हैं कि ये मै नही हूं, ये जड़ हैं, बाहर रहने वाले है, मै तो जो कुछ हूं देहके अन्दर हूं, वह मैं नही हूँ और वे मेरे हैं क्या ? वें भिन्न जगहमे ठहरे हुए हैं, आप यहाँ पड़े हैं । आपके साथ कुछ भी चिपक कर नही आया । आपका कुछ होता तो कमसे कम यहाँ तक तो साथ आता । इतना तक नही बन रहा है तो फिर बाहरी धन वैभव कैसे कहा जा सकेगा कि यह मेरा है ? और कुछ थोड़ा भीतरी जड़से हटकर अन्दर मे आयें, घरमें रहने वाले परिजन ये मेरे हैं, यह बात सब गलत है, ये भिन्न क्षेत्रमे हैं, जुदे जुदे ठहरे हुए हैं । मै चाहता हू कि ये सुखी हो मगर होते नही, मै चाहता हू कि दु:खी हो, किन्तु मेरे सोचनेसे नही होना । कभी कभी हो भी जाता है तो मेरें करने सोचनेसे नही होता । उनका उदय उस प्रकारका है, वे अपने ज्ञानभावसे सुखी होते हैं । बाहरी परिजन ये भी मेरे नही, ये भी मै नही । जरा और अन्दरमे आयें—यह देह, यह शरीर क्या यह मै हूं ? अरे यह तो किसी दिन खाक हो जायगा, लोग जला डालेंगे, इसका तो पता ही न पडेगा । हमने दूसरोको भी तो जलाया जाते देखा । यह मैं नही हू, यह तो जड़ है, मैं तो एक भीतर चेतन हूं, शरीर तो कुछ समझता नही । मै समझनहार कोई वस्तु हूं । अच्छा तो अब समझ गए । भीतर जो गुनगुनाहट कर रहा, कषाय कर रहा, विचार बना रहा, क्या ये मैं हूं ? अरे वे भी मै नही हू । ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक जो कषायें उत्पन्न होती हैं और विषय सम्बन्धी इच्छायें जगती हैं, ये तो मल हैं, कलंक हैं, पुद्गल कर्मका विपाक है, यह कहो कि सब कर्मकी छाया है, यह सब कर्मका नाच है, मै तो एक सहज अपने अस्तित्व वाला चैतन्यमात्र हूँ । तो कोई सोचे कि अब मै समझ गया—जो एक ज्ञान हो रहा, जानना बन रहा,

मूलमे अमुक चीज है, अमुक चीज है, यह जो जानकारी हो रही, यह मैं नहीं हूं। अब कुछ ठिकाने आये कि जो यह जानकारी है वह मैं नही हूं, लेकिन यह जानकारी क्षण-क्षणमे बदलती रहती है। क्या मैं बदलने वाला हूँ ? क्या मेरा स्वरूप चलित होता है ? उन सब जानकारियोका आधारभूत जो एक ज्ञायकस्वरूप है सो मैं हूँ। अच्छा, मुझे चाहिये शान्ति। अब समझ गए। तो मुझे क्या शान्ति चाहिए। वह तो स्वयं शान्त है। हां शान्त ता है, किन्तु उसपर दृष्टि आये तब शान्त है। नही दृष्टि है तो भीतर भगवान परमात्मतत्त्व अनादि अनन्त शाश्वत अन्तः प्रकाशमान होकर भी करे क्या ? जैसे किसीकी गाँठमे लाल बंधा है, पर पता नही है तो वह तो उसका गौरव नही समझता, वह तो अपनेको दीन समझता है। इसी तरह हम आप अनादि निधन प्राणी स्वरक्षित हैं, जहां रंच भी बाधा नही है। ऐसा होकर भी हम अपने स्वरूपको नही सम्हालते। सम्हालते है जड पदार्थोंको, इस भिन्न अशुचि शरीरको, जिससे आकुलतायें ही होती है। शान्ति नही प्राप्त होती। तो यह मैं हूं, इसे चाहिए शान्ति।

**(५९) शान्तिलाभकी दिशामें साधक द्वितीय निर्णय**—अब शान्तिका भी निर्णय करें। कैसे शान्ति मिले ? जैसे भोजन करनेमें आनन्द आता, जैसे स्त्री प्रसंगमे सुख होता। जैसे खेल खेलनेमे सुख माना जाता तो वही तो शान्ति है। अरे वह शान्ति नही है, उनमे तो क्लेश भरे हैं। तो भोग भोगनेके पहिले क्लेश, भोग भोगनेके समय भी क्लेश और भोग भोगनेके बाद भी क्लेश। खूब अनुभव करलो—अगर क्लेश न चाहिये तो फिर ये इच्छायें न करें, विषयोमे प्रवृत्त होनेके लिए कोशिश न करें। कोई सुखी हो, शान्त हो तो वह किसी प्रवृत्तिके लिए क्यों उद्यम करे ? विषयोमे प्रवृत्तिका उद्यम करते है। यह ही एक प्रमाण है कि हम दुःखी हैं, आकुलित हैं। इच्छावोके द्वारा पीड़ित किए गए है तब ही विषयोमें प्रवृत्ति करते हैं। अच्छा तो विषयोमें जिस समय प्रवृत्ति कर रहे हैं उस समय देखो कि शान्ति है कि आकुलता ? तो भोग भोगने वाले लोग समझते है कि कितनी व्याकुलतायें होती है। कैसा झट झट भोगना चाहते हैं, विषयप्रसग करना चाहते हैं, कितना क्षोभ करना होता है। बल्कि कोई दूसरा तके या खुद साक्षी बनकर देख सके तो उसे विदित होगा कि इतनी आकुलतायें तो भोगनेसे पहिले भी न थी। इतनी आकुलतायें भोगनेके बाद भी नही होती, जितनी कि भोगते समय होती हैं। सभी लोग अदाज कर लेंगे। एक खाने पीनेके स्वादका ही विषय ले लो, उस समय कितना यह जीव हड़प करना चाहता है। कैसी इसकी प्रवृत्ति होती है। कोई समतासे खाता है क्या ? विषयोके भोगनेके समय भी क्लेश है और बादमे भी बडा क्लेश है। खूब खाया, पेट भर गया तो अब प्रमाद आयगा ही क्योकि डट कर खाया है। ज्यादा खा गया, पेट दर्द करने लगा, दुःखी हो गया। और विषयोके प्रसग

के बाद देखो—जैसे एक स्पर्शन इन्द्रियका प्रसग देखो । भोग भोगनेके बाद जब यह दुर्बल, कमजोर, हताश होता है तो यह क्लेश मानता है, तो भोग भोगनेसे पहिले क्लेश, भोग भोगते समय क्लेश और भोग भोगनेके अन्तमे क्लेश । ये कोई शान्तिके उपाय नही । ये तो जैसे सुख वैसे दुःख । सिर्फ नाम बदल गया । जैसे नागनाथ कहो, या सांपनाथ कहो, काटेंगे दोनो । कहे नागनाथ कह देनेसे वह मेहरबानी न करेगा, ऐसे ही चाहे सुख कहो चाहे दुःख कहो, परन्तु क्लेश दोनोमे है । फर्क इतना है कि सुख इन्द्रियोको सुहावना लगता है, सु का अर्थ है सुहावना और ख का अर्थ है इन्द्रिय, जो इन्द्रियको सुहावना लगे उसका नाम सुख है। और दुःख इन्द्रियोको बुरा लगता है, दु का अर्थ है बुरा और ख का अर्थ है इन्द्रिय । जो इन्द्रियको बुरा लगे उसका नाम दुःख है । मगर "दु" की जगह 'सु' धर देनेसे फायदा क्या हुआ ? भले ही लोग कहते हैं कि कु बुरा कहलाता है और सु अच्छा, जैसे कुपूत कहा तो कु का अर्थ है बुरा और सुपूत कहा तो सु का अर्थ है अच्छा । पर कु की जगह सु धर दिया तो उससे फायदा क्या हुआ ? जैसे एक बार कोई पढा लिखा लड़का था, वह हिन्दी अच्छी जानता था । उसकी सगाईकी बात हुई, लोग लडका देखने आये तो देखने वालोने उसके आदरके लिए कहा—आइये कुवर साहब बैठिये तो लडकेने सोचा कि ये तो मुझे कुवर साहब कह रहे । कु का अर्थ तो होता है खराब । तो झट बोल उठा कि साहब मैं कुवर नही हू मैं तो अच्छा हूं। तो ठीक ऐसे ही चाहे सुख कहो, चाहे दुःख कहो याने दु की जगह सु लगा दो तो उसमे फायदा क्या हुआ ? ये सुख दुःख दोनो हेय हैं ।

**(६०) प्रभुभक्तिमे आत्मज्ञानकी प्रयोजकता**—प्रभुकी भक्ति करके अगर मांगो तो सुख न मांगो, यह मांगो कि हे भगवन मैं कष्ट सहिष्णु बनूं, बस मुझे और कुछ न चाहिए । इस दुःखसे परे जो एक परम विश्रामकी अवस्था है, जिसमे कोई कल्पना न उठे, जहां रंच मात्र भी आकुलता व्याकुलता नही है, ऐसी अपने आत्माकी स्थिति चाहिए । यह होगा आत्मज्ञानसे । सो आत्मदर्शन चाहो । मैं निजका दर्शन चाहता हू, इसका अर्थ यह लगावो कि मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हू, मुझे तो स्वभावके अनुरूप स्थिति चाहिये और न चाहिए और इस विधिसे कोई पौरुष करेगा तो उसे अवश्य सफलता मिलेगी । अब जरा दुबारा विचार करें एक साधारण शब्दोमे । हम दुःखी हैं, हम कष्टमे है । क्या कष्ट है ? बाहरी पदार्थ मेरे पास नही हैं इसलिए कष्ट है ? अरे यह कष्ट है ? ये तो बाहरी परिणतियां है । 'सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुःखकी खान' । ये रागद्वेष मोह, इनकी वजहसे मैं दुःखी हूं। मोह क्या चीज है ? मोह कैसे मिटे ? मोह मिटानेके लिए बहुतसे लोगोने बहुत-बहुत प्रयास किए। किसीने सोचा कि ऐसा मान लो कि यह दुनिया एक ईश्वरका बगीचा है, इस बगीचेमे हाथ

न दो, मोह खत्म हो जायगा। किसीने सोचा कि शरीरमे ही कोई उद्यम करें, शरीरमे श्वांस लें, भीतर प्राणायाम करें, तो इससे शान्ति मिल जायगी, किसीने सोचा कि समाधि ले लें, कुछ समयके लिए जमीनमें गड़कर ऊपरमे मिट्टी बिछा दें, तो वहाँ शान्ति मिल जायगी, मोह दूर हो जायगा। यो मोह दूर करनेके लिए अनेक लोगोने अनेक उपाय किये, पर वे उपाय काम न कर सके। यह दुनिया ईश्वरका बाग है, इसमे हाथ न दो ऐसा सोचनेसे दुःख तो न मिट पायगा। अरे अपने ज्ञानस्वरूपसे च्युत होकर कही बाहरमे अपनी दृष्टि लगाया तो उस का फल क्या होगा ? जैसे मछली जलसे बाहर निकल जाय तो उसकी कुशलता नही, इसी प्रकार यह ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानसे बाहर निकल जाय तो वहाँ भी उसकी कुशलता नही है। कहाँ पाय। शान्ति। किसीने बताया कि प्राणायाम करो, योगसाधन करो, उससे मोह हट जायगा। अरे उससे मन एक जगह तो हो जायगा मगर मन कहाँ टिके ? उसके द्वारा लक्ष्य भी तो बनाना चाहिए। वह ज्ञानद्वारा सुख है। कोई कहे कि खूब श्वांस भरें। तो ठीक है, उससे स्वास्थ्य तो कुछ अच्छा हो जायगा, कुछ रोग दूर हो जायेंगे मगर उस परमात्मतत्त्व ज्ञानमूर्तिके तो दर्शन न हो पायेंगे। शान्ति कैसे मिलेगी ? ये तो थोडे समयके उपाय है। मान लो कि सुखी हो गए, मगर इसका निभाव तो नही होगा। सत्य शाश्वत शान्तिके लिये शान्ति क्या है और किसे चाहिए, इन दो बातोका निर्णय बना ही लेना चाहिए।

(६१) **सकल कष्टोंका मूल भ्रम**—जितने भी क्लेश होते हैं वे भ्रमसे होते है। मोह कहो, भ्रम कहो, अज्ञान कहो, एक ही बात है। प्रत्येक पदार्थ जुदे जुदे है, अपना द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव सबका अपने आपमे है। किसीका किसीसे कोई सम्बन्ध नही, याने न द्रव्य मिला, न क्षेत्र मिला, न काल मिला, न भाव मिला। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है। रहे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध, पर यह तो देखिये कि पदार्थ जो कुछ भी परिणम रहा है वह अपने आपमे ही परिणम रहा है या निमित्तमे ? या निमित्त उपादानमे लेकर परिणम रहा। निमित्तनैमित्तिक भावका निषेध करनेमे कुछ पौरुष मत बनावो। वह तो है। उसीका फल संसार है। ये सब स्वभाव विकार चल रहे है, है पर उसे जान लीजिए। है ऐसा। उपाधिके समयमे है, ससार चल रहा है लेकिन उससे निकलनेका उपाय क्या है ? इस पर अधिक दृष्टि डालें। उपाय क्या है ? देखो मूलमे एक गलती होती है कि हममे जो कषायभाव जागृत होते हैं उन्हे अपना लेते है। मैं हू, ठीक कर रहा हू। इतनी भीतरी गल्ती के फलमे ये सब दुःख भोगने पड़ते है, पशु बनें पक्षी बने, पेड पौधे बनें, नाना प्रकारकी कुयोनियोमे जन्ममरण करना पड़ रहा, उसका मूल कारण यह है कि हम विभावपर्यायोको अपना लेते है। तब फिर न अपनायें ऐसा उपाय बतावो। सोचिये—उपाय यह है कि

पहिले अपना स्वरूप जान लें और विभावोका स्वरूप जाने, विभाव मेरे स्वरूप नही, विभाव मेरे स्वभाव नही। ये विभाव तो मेरी बिगडी हुई दशायें हैं। और बिगडी दशायें हुआ करती है किसी पर सम्बन्धमे। तो कर्मउपाधिका सम्बन्ध है उस सन्निधानमे हम बिगडी दशाओमे बने चल रहे है। तो यहाँ आत्मदृष्टि बनायें। निमित्तदृष्टिसे यह निर्णय करें कि ये विभाव मेरे नही है, ये तो पौद्गलिक है। और स्वभावदृष्टिसे यह निर्णय करें कि ये विभाव मेरे नही। मै तो एक ज्ञानमात्र हू। आप पहुचें, स्वभावदृष्टिकी ओर हो, यह मैं हूँ, जो सहज ज्ञानमात्र है सो मैं हू, ऐसा अपने आपका निर्णय कर लेनेपर सारा नक्शा बदल जाता है। एक बार कोई दो चित्रकार राजाके पास आये, मानो उनमेसे एक तो था जापानी और एक था यूनानी। तो दोनो चित्रकारोने कहा—महाराज हम भीतपर बहुत बढिया चित्र बनाते हैं। आप अपने महलमे बहुत बढिया चित्र हमसे बनवावें।—अच्छी बात। अब राजाने क्या किया कि महलके एक हालमे बीचमे पर्दा डाल दिया और दोनो चित्रकारोसे एक एक ओरकी भीतमे चित्रकारी करनेको कहा। तो जो यूनानी चित्रकार था वह भीतको ६ माह तक कुछ मसाले लगाकर रगडनेका काम करता रहा और जो जापानी चित्रकार था वह ६ माह तक रग बिरंगे सुन्दर चित्र उस भीतपर बनाता रहा। जब ६ माह पूर्ण हो गए तो दोनो चित्र-कारोने कहा—महाराज अब आप हम दोनो चित्रकारोकी चित्रकारीका मुकाबला देखिये। राजा ने हालके अदर लगा हुआ पर्दा निकलवा दिया। वहाँ क्या देखा कि जिस जापानी चित्रकारने रंगोसे रग रगकर चित्र बनाया था वे तो भद्दे मालूम हो रहे थे और जिसने केवल भीतमे रगडनेका काम किया था उसकी भीतमे दूसरी ओरके बने हुए चित्र झलक रहे थे। उनमे एक सुन्दर चमक थी। राजाने यूनानी चित्रकारको पुरस्कार देकर सहर्ष विदा किया। यहाँ हमे शिक्षा यह लेना है कि हम आप धर्मके लिए बहुत-बहुत प्रवृत्तियाँ करते है तो करें, ठीक है, लेकिन पहिले अपने हृदयको, उपयोगकी भूमिको स्वच्छ कर लें। स्वच्छ होगा ज्ञानसे। यहाँ खूब निरख लो—देखिये—जितने भी जो कुछ तत्त्वज्ञानके मार्गमे प्रयास किये जाते है, वे स्वभाव-दृष्टिके लिए किये जाते है। आप यहाँ देखो—इस तत्त्वज्ञानसे हमको स्वभावदृष्टिके लिए बाधा तो नही पडती। नही पडती बाधा तो बस ठीक है, उसे ग्रहण करें, और यदि बाधा पडती है तो वह ग्रहण करनेके योग्य नही है, हाँ तो स्वभावदृष्टिमे बाधा देने वाला है मोह। मोह कहते है दो वस्तुवोको एक मानकर और उसके समान मानकर अपना परिचय बनाना। यही है अज्ञान, मोह, भ्रम।

(६२) भ्रमज दुःखके विनाशका उपाय भ्रमविनाश—भ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख भ्रम के नाशसे ही दूर हो सकता है, अन्य उपायमे नही। वेदान्तकी जागदीशी टीकामे एक कथा

दिया है कि कोई १० जुलाहे थे, वे एक दूसरेके घनिष्ट मित्र थे। वे सभी जुलाहे पासके दूसरे गांवमें कपडा बेचनेके लिए जाया करते थे। बीचमें एक नदी मिलती थी, उसको पार करके वे प्रतिदिन आया जाया करते थे। एक दिन वे शामके समय कपडा बेचकर लौटे, रास्तेमे नदी पार किया, नदी पार करके उस दूसरे तटपर उन्होने सोचा कि देखो अपने १० लोग गए थे, गिन लिया जाय कि अपन सब लोग है या नही। जब वे गिनने लगे तो सभीको गिन लेते थे, पर अपनेको न गिनते थे। इससे उन्हे ९ मित्र मिल रहे थे, पर एक न मिल पाता था। यो ही सभीने अपनेको छोडकर बाकी सबको गिना तो वे ९ दीखे, सब घबडा गए। सोचा कि देखो अपन १० लोग तो गए थे और अब रह गए ९ ही। हमारा पता नही एक मित्र कहाँ गया ? नदीमे बह गया या कही गायब हो गया। वे सभी जुलाहे उस जगह बडे दुःखी हो रहे थे—वहाँसे एक घुडसवार निकला, उसने एक सरसरी निगाहमे ही देख लिया कि ये १० लोग है और समझ गया कि ये सब दुःखी हो रहे है। तो उनके दुःखी होनेका कारण पूछा। तो उन जुलाहोने बताया कि देखो हम लोग १० मित्र आये तो थे कपडा बेचने पर पता नही हमारा एक मित्र कहाँ चला गया ? तो उसने सोचा कि है तो ये १० के १०, पर समझ लिया कि ये सब भ्रममे हैं, इसलिए कहा कि देखो अगर हम तुम्हारा १० वाँ मित्र बता दें तो ? ... अरे हम सब आपके बडे आभारी होगे। सो हाथमे बेंत लिए ही था। सबको एक लाइनमे खड़ा कर दिया और एक तरफसे धीरे धीरे बेंत मारकर गिनाना शुरू किया। देखो १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ और जो १० वाँ होता उसे जोरसे मार कर कहता—तू ही तो १० वाँ है। यो ही एक एकको बारी बारीसे गिन कर और जोरसे मार कर बता दिया कि तू ही तो १० वाँ है। यो सभी को मार मारकर बता दिया कि तू ही तो १० वाँ है। तो वे जुलाहे समझ गए कि हम अभी तक भ्रममे थे। हम लोग अपने अपने को नही गिन रहे थे। तो सही जानकारी बनी नही कि उनका सारा दुःख खतम। अभी स्कूलके बच्चोको ही ले लो कोई पूछे बताओ बच्चो ८ × ८ = कितने होते है ? तो जब तक वे सही सही नही जान पाते तब तक आकुल व्याकुल रहते है और जब सही जानकारी हो जाती है तो वे प्रसन्न हो जाते है। उनकी वह प्रसन्नता किस बातसे आयी ? क्या कोई मिठाई वगैरह खानेसे ? नही। अरे वह प्रसन्नता है भ्रमके मिटनेसे और सही जानकारी बननेसे भ्रम मिटा कि सब दुःख खतम।

(६३) **आत्मज्ञानकी आवश्यकताका कारण**—प्राचीन और अर्वाचीन सभी संतोका यह उपदेश होता है कि आत्मज्ञान करें, अध्यात्मज्ञानी बनें। तो यहाँ यह सोचना है कि आत्मज्ञानकी आवश्यकता है क्या ? जिस पर सभी लोग इसी प्रकार बहुत जोर दिया करते

है। अच्छा, मान लो आत्मज्ञानकी आवश्यकता तो नहीं है क्यो व्यर्थमे एक ज्ञानका व्यायाम कराया जाय, तकलीफ दी जाय, पर यह तो बतलावो कि दुःख दूर करनेकी भी आवश्यकता मालूम होती है या नही ? आत्मज्ञान न सही, आत्मज्ञानके यत्नमे यदि बाधा आती है तो उसे छोडो, आत्मज्ञानके पौरुषमे तकलीफ होती है तो उसे छोड दो, पर यह तो सोच लीजिए कि दुःख दूर करनेकी आवश्यकता भी मालूम होती है या नही। इतना तो सभी कह देंगे कि दुःख दूर करनेकी आवश्यकता तो जरूर है और दुःख भी सब जानते है कि हमें दुःख लग तो रहे है प्रतिदिन. महीनो दुःखी रहते है, जीवन भर दुःखी रहते है, कभी थोड़ा एक झूठा मौज ले लेते है, वह झूठी हँसी है। अज्ञानीजन तो नही समझ पाते कि यह हमारा झूठा मौज है, वे तो बडा मौज मानते हैं, लेकिन वे अन्दरमे दुःखी रहते है। और प्रकटमे कुछ ही समय बाद जब कोई बडा दुःख ख्यालमे आ जाता है तो दुःखी हो जाते है। तो जब सुखी हो रहे हो, जब मौज मान रहे हो, जब खूब सम्पदा आ रही है, परिवारका बडा ठीक काम चल रहा है, लोग बडाई भी करते हैं ये ही तो सुख (मौज) माननेकी चीजें है। तो लो परसो ऐसी सुख और मौजकी चीजोसे भी भीतरमे निरन्तर क्लेश बना हुआ है। उसे कोई लोग पहिचान सकते हैं और कोई नही पहिचान सकते। इतना तो सब कोई जान जाते है कि उस समय क्लेश यदि नही है तो थोड़ी देर बाद अनेक समस्यायें आ जाती है। उन समस्यावोमे दुःखी हो जाते हैं। वह तो एक व्यक्त दुःख है, प्रकट दुःख है, लेकिन जिस वक्त सुख भोगा जा रहा हो उस वक्त भी अन्दरमे क्लेश बना हुआ है, जिसके कारण पापका ही बन्ध होता है। मतलब यह है कि व्यक्त अव्यक्त सब ही क्लेश हमारे दूर हो इसकी आवश्यकता जरूर मालूम होती है।

(६४) **वर्तमान क्लेशोपर एक विहंगम दृष्टि**—अब यहाँ देखो कि क्लेश क्या है और कैसे दूर वह होता है ? मोटी बात सोचो कि हम इस भवमे जी रहे हैं कुछ दिन को जी रहे हैं। मरण हो जानेके बाद यह जीव यहाँसे बिदा हो जायगा पता नही कहाँ पैदा हो जाय किसी भी जगह पैदा हो अच्छी जगह पैदा हो या दुर्गतिमे जाय। पर इतना तो निश्चित है ना सबको कि यहाँका समागम, यहाँ की सम्पदा, यहाँ की कुछ भी चीज मेरा साथ न देगी। जिस बच्चा बच्चियोपर, नाती पोतोपर इतना लाडप्यार किया जा रहा है, जिनसे बडी ममताकी जा रही है, जिनको देख देखकर बडा मौज माना जा रहा है, लोग समझ लें कि इनका बडा अच्छा परिवार है, उनमेसे कोई भी जीव क्या इसका मरण होने पर थोड़ा भी साथ दे सकेंगे ? इतना तो प्रकट सिद्ध है कि मरण होने पर ये कोई लोग साथ न दे सकेंगे। अच्छा तो अब दूसरी बात विचारो कि जब तक हम जिन्दा हैं तब तक भी क्या ये मेरा

कुछ भी साथ दे रहे है ? अरे जब विवेकसे विचारेंगे तो यह बात विदित हो जायगी कि ये साथ दे ही नही सकते, क्योंकि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि परसे परको कुछ मिलता नहीं है। इसमे किसीकी निन्दा नही की जा रही है कि सभी लोग बडे खुदगर्ज है, कोई किसीका साथ नही देता, कोई किसीका शरण नही। अरे यह तो वस्तुका स्वरूप बताया जा रहा है कि किसी भी परवस्तुसे मेरेको कुछ मिल सकनेका है ही नहीं। जब कभी परिजनोकी बडाई करके या उनका कुछ महत्त्व देखकर हम दुःखी होते हो उस वक्त भी हम अपनी कल्पनायें करके अपने वर्तित ज्ञानसे ही सुखी हो रहे है, उन बच्चोके कारण सुखी नही हो रहे है। तो न इस जीवनमे, न मरणके बाद कोई पर जीव मेरा कुछ भी पूरा निभाव न कर सकेंगे, साथ न दे सकेंगे। जब इतनी बात सोचते हैं तब तो ऐसा लगता होगा कि ये तो सब बेकारकी बातें है। जब मरणपर भी ये साथ नही दे सकते और वस्तुका स्वरूप ऐसा है कि जीवनमे अब भी साथ नही दे रहे, तब तो इनसे मोह करना बिल्कुल बेकार है,

(६५) **ज्ञानी गृहस्थमें निर्मोहता व सरागताका समन्वय**—हाँ सोचो—बात सही है, समागम प्राप्त अर्थोंसे मोह करना बिल्कुल बेकार है, लेकिन फिर बात सामने आती कि इसके बिना गृहस्थीमे चलता भी तो नही। तो दूसरी भी बात सुनो—मोहके बिना तो चल जायगा पर रागके बिना न चलेगा गृहस्थोको, यह है उसका एक समाधान। लोग समझते है कि मोह किए बिना गृहस्थी न चलेगी, पर भाई मोह किए बिना तो सब चल जायगा हाँ राग किए बिना घरमे चल नही सकता। और घरमे न चल सकें, राग भी न करें ऐसा बल है तो यह तो बहुत अच्छी बात है। कोई अपनेको फंदेमे चलानेकी जरूरत भी नही है कि घरमे हम रहे, चलायें, करें, मगर परिस्थिति ऐसी है कि आप सबको छोड नही सकते। क्या करें, किस जगह जायेंगे ? कष्ट सहनेका अभ्यास भी नही है अथवा अन्दरमे ऐसा ज्ञानप्रकाश भी प्रकट नही हुआ है कि जिसमें तृप्त रहे, तो समय कैसे कटेगा। ? घर छोड़ दें, कमायी छोड़ दें तो समय कैसे कटेगा ? इसलिए गृहस्थी है, ठीक है, यह एक कमेटी है, जैसे किसी सस्थाकी कमेटीमें १०-१२ सदस्य होते है, मीटिंग होती है, निर्णय होता है, विचारोका आदान प्रदान होता है अपना जैसा लगता है, इतना होनेपर भी किसी सदस्यको किसी दूसरे सदस्यसे मोह भी होता है क्या ? संस्था चले, इस ढगसे चले, जीवोका कल्याण हो, इस ढगकी बात चले। इस एक लक्ष्यके पीछे १०–१२ सहयोगी सदस्य बने हुए हैं तो वह एक प्रयोजनसे ही तो है। कही मोहवश नही है। इसी तरह घर गृहस्थीमे प्रयोजनसे है, यह कुटुम्बका सहवास मोहवश नही है। घरमे रहना पड़ेगा, भोजनादिकका प्रबंध भी ढगसे करना होगा, कुछ जीवन भी आरामसे गुजरे, शरीरको बहुत कष्ट न हो, इसकी भी कुछ जरूरत सी समझी जा रही है।

ये घरके लोग क्या है ? वे भी एक कमेटीके मेम्बर है। कोई निर्वाचित मेम्बर होते है कोई अनिर्वाचित, पद्धति भिन्न-भिन्न है। घरके सभी लोग आरामसे जीवन गुजारें, इस उद्देश्यको लेकर एक गृह नामकी सस्थाकी कमेटीके मेम्बर है, इससे अधिक उनका और कोई महत्त्व नही है, जिनके अज्ञान है वे इस परिवारका बडा महत्त्व समझते है वे भ्रममे है, दुःखी होते हैं और सार बढावाका काम करते है। मिल गए, मेरे ये सब सहयोगी है। इस प्रसगमे हमें भी उनका ख्याल करना है, वे भी हमारा कुछ ख्याल रखे, यह बात व्यवहारकी है। तो राग तो रहा, राग बिना गृहस्थी तो न चलेगी, मगर मोह बिना गृहस्थी चल सकती है। जैसे कि जानते रहो कि सब द्रव्य न्यारे है कोई वस्तु किसी वस्तुका कुछ कर सकती नही है, ऐसा वस्तुका परिचय बना रहे। बात बन जायगी, निर्मोहता आ जायगी। काम भी होते रहेंगे।

(६६) निर्मोहतामे विलक्षण उपलब्धि—जिसके निर्मोहता होती है उसके चूँकि यह आग्रह नही होता कि इतनी ही सम्पदा हो तब मेरा जीवन है अन्यथा मेरा क्या जीवन ? इतना ही लाभ हो इतना ही वैभव हो तब ही मेरा जीवन है, अन्यथा मेरा क्या जीवन है ? यह बात है निर्मोह ज्ञानी गृहस्थकी। उसका तो यह भाव रहता है कि पुण्यके अनुसार जितने जीवोके पालन पोषणमे यह कमायी हुई है वह इन सब जीवोके पुण्यसे हुई है। हममे तो ऐसी कला है कि जितनी आय होगी उसीके अन्दर विभाग बनाकर हम अपना गुजारा कर लेंगे। ज्ञानीका भाव यह रहता है। पर होता क्या है कि जो निर्मोह पुरुष होता है उसके सम्पदा अटूट आती है और जो मोही पुरुष होता है तो चूँकि वह तुरन्त बडा पाप कर रहा है, अज्ञानका पाप बना रहा है, भ्रम और मोह कर रहा है तो उसके पापका क्षय बहुत देरसे होगा, उसके सम्पदा अटूट नही हो सकती। कदाचित् यह भी दिख जाय कि जो कुछ लोग पाप काम करते है फिर भी सम्पदा आती है तो यह समझिये कि उनके पूर्व पुण्यका सग्रह विशेष है, लेकिन बुरा काम करने वाला सम्पन्न हो जाय, यह बात एक आम बात नही है। आम बात यह है कि जो निर्मोह है, ज्ञानी है वह पुरुष जब तक ससारमे रहता है तब तक उसके सम्पदा भी अटूट चला करती है। ऐसे ही लोग तो चक्रवर्ती, तीर्थकर, नारायण आदिक बडे-बडे पद प्राप्त करते हैं जहाँ विपुल सम्पदा होती है। होता सब कुछ है मगर ज्ञानी पुरुषको उनमे मोह नही रहता। निर्मोह होने का सदा महत्त्व है। सबके बीच रहकर भी इन सबसे निराला मैं ज्ञानमात्र हू, ऐसा जिसके बोध रहता है उसके मोह नही रहता। मोह न रहनेमे उसे दुःख नही रहता।

(६७) दुःख दूर होनेका उपाय भ्रमविनाश—हमे आवश्यकता है दुःख दूर करनेकी तो दुःख दूर कैसे होंगे ? भ्रमके नाश होनेसे दुःख दूर होंगे। भ्रममे कोई सुखी नही हो

सकता। भ्रम तो भ्रम ही है। तो भ्रमको नाश करनेकी आवश्यकता तो आयी ना। दु:ख दूर करनेकी आवश्यकता तो है पर दु:ख दूर हो सकेगा तो भ्रमके नाशसे ही हो सकेगा। भ्रम रहते हुए दु:ख दूर नही हो सकता। जब ऐसा जाना कि घर मेरा ही है, और किसका है मेरेसे बँधा है, मेरे साथ है, मेरा सब कुछ है, तब अनेक विकल्प चलेंगे, अज्ञान रहेगा, क्लेश रहेगा। मोहका दु:ख निरन्तर वना रहेगा और जब जान जायँगे कि मैं तो एक मुसाफिर हू। बडी मुसाफिरी करते करते अनादि कालसे अब यहाँ आया हू तो एक धर्मशालामें इस घरमे, मकानमे, इसमे मैं कुछ दिनको ही ठहरने वाला तो हू। सदा तो नही ठहर सकता। सोच लीजिए। मोही लोग मरे जा रहे है लौकिक सम्पन्नता बनानेके लिए। मेरा सब जगह खूब यश हो, मान हो, सब लोग मुझे खूब जान जाये, समाजके सभी लोग मेरी प्रतिष्ठा करें, अरे ये सब बेकार जानो। कैसी इज्जत ? मरनेके बाद ये सब बातें बेकार है। दूसरी बात यह है कि जब तक जी रहे है तब तक भी ये मेरी शान्तिके कारण तो न बनेगे। कोई किसीको निन्दा करके दु:खी करता है तो कोई किसी की प्रशंसा करके उसे दु:खी करता है। दु:खी करनेके दोनो उपाय है। निन्दा करने वाले ने तो कुछ समयके लिए ही दु:खी किया, वह अधिक समय तक कष्ट न पायगा जिसने निन्दा सुना है। पर प्रशंसा सुनने वाला और उस प्रशंसामे राजी होने वाला व्यक्ति तो उस प्रशंसा करने वालेका बडा कृतज्ञ बनेगा और उसको सुखी करनेके लिए बडा परिश्रम भी करेगा। अब यह बडा लम्बा काम खिंच जायगा। तो प्रशसासे दु.ख अधिक हुआ या निन्दासे सभी जगह देखो दु:ख दोनो स्थितियोमे है, और जिससे समझते हैं कि मुझे सुख मिलता है वह और भी अधिक दु खका कारण है। यह बात इसलिए बतायी जा रही है कि जिससे चित्तमे यह बात आ जाय कि ये सब दु:ख है और दु ख दूर करनेकी हमे आवश्यकता है। जैसे पुत्र कपूत हुआ तो उससे कम दु ख है, पर पुत्र सपूत हुआ तो उससे दु:ख अधिक होता है। मोहमे यह जीव समझता नही है। कपूत हुआ तो थोडा सोच लिया और निपटारा कर लिया कि इससे मेरा कुछ सम्बन्ध नही। लोगो को भी बता दिया कि मेरा इससे कोई मतलब नही, लो दु:खसे बहुत बच गए, और अगर पुत्र सपूत हुआ तो उसके लिए जीवनभर मरते समय तक बडा सकल्प विकल्प करते है, बडा राग करते है। यह बड़ा अच्छा बने, बडा सुखी हो, बडे मौजमे रहे, ऐसा भाव बनता रहता है वह तो दु:ख निरन्तर शल्यकी तरह इसके चुभते रहते है। तो भैया ! लोग विवेक नही करते। दु:ख इन सभी साधनोसे है। जितने परवस्तुके समागम हैं वे सब समागम हमारे क्लेशके ही कारण है, शान्तिके कोई कारण नही। तो जब सारे परवस्तु हमारे दु खके ही कारण बनते है निश्चित समझ लीजिए तब आवश्यकता है कि उन पर

वस्तुओका हम ध्यान छोडें, उनका आश्रय छोडें, जब सब परवस्तुओका समागम व्यक्त और अव्यक्त रूपसे हमारे दुःखके ही कारण बन रहे है तो हमारा कर्तव्य है कि हम उन सब समागमोमे मोह न करें। रागी न हो।

(६८) **सन्मार्गके निर्णयका प्रभाव**—पर वस्तुवोमे राग न जगे यह बात जब बने तब सही मगर वर्तमानमे इतना निर्णय तो बना लें कि ये सब समागम मेरे कुछ नही है। इनसे मेरा कुछ भी पूरा न पडेगा। मरकर तो जैसा मेरा धर्म है, जैसा मेरा ज्ञान बना है, जैसी मेरी भावना बनी है उसके अनुरूप बीतेगा अगले भवमे। ऐसा नही है कि यह मनुष्य ही बने। कीट पतिंगा आदि कुछ भी बन सकता है। इन बाहरी समागमोके कारण मेरेको पर भवमे कुछ सुविधा रहेगी यह बात गलत है, किन्तु भीतरमे आत्मज्ञानके कारण, ज्ञानसंस्कारके कारण, शुद्ध भावना बनानेके कारण और प्रभुभक्तिके कारण, प्रभुताके स्वरूपको चित्तमे बसाने के कारण जो ज्ञानसस्कार होगा उसके अनुरूप अगले भवमे बीतेगी, सुखकी बात बनेगी, शांति का साधक बनेगी। बात यह पूरे निर्णयकी है इसमे रचमात्र सन्देह नहीं। तब अगर अगले भवकी बात, अगले अनन्त कालकी बात ठीक बनाना है तब तो आत्मज्ञानकी ओर आयें। अपनेको पहिचानें जिससे कि इस भवमे भी शान्ति रहे और निकट कालमे सारे दु खोसे मुक्त होकर मैं परमात्मत्वका अनुभव करता रहू। इसके लिए आवश्यकता है बाह्य पदार्थोका आलम्बन छोडनेकी, बाह्यपदार्थोमे मोह त्यागनेकी, बाह्य पदार्थोमे भ्रम ठाननेकी। क्या-क्या भ्रम ठाने जाते है? यह वस्तु मेरी है, यह मुझे सुख देती है, यह मेरे लिए हितकारी है, इसके बिना मेरे प्राण नही रह सकते, आदिक जो धारणा बनती है वह सब भ्रम है, अज्ञान है, अधेरा है। जिसका फल दुर्गतियोमे भ्रमण करना है। एक ही बात सोच लो—अगर कोई नुस्खा ऐसा मिलता है बात ऐसी प्राप्त होती है कि जिससे कारण अभी इस जीवनके अन्त तक भी हम शान्त रह सकेंगे और इसके बाद भी हम शात सुखी रह सकेंगे, अगला भव भी हमारा अच्छा गुजरे और निकट कालमे मैं सदाके लिए संकटोसे छूट जाऊँ, इन सब लाभोका उपाय केवल एक है, वह उपाय अगर हम करें तो उसमे आनाकानी क्यो होनी चाहिए? कारण बतलाओ—एक इस आत्मज्ञानके उपायसे वर्तमानमे भी शान्ति रहेगी। सम्पदा तो उदयानुसार आयगी, जैसी आनी है आयगी, उसमे बाधा नही आती, बल्कि उसमे भी बहुत सहयोग मिलता है। वर्तमान जीवन भी सही गुजरेगा, आगेका जीवन भी सही गुजरेगा और सारे सकटोसे मुक्ति पा ली जायगी, ऐसी बात यदि मिल जाती है तो उसकी उत्सुकता होनी चाहिए। उसमे तो आनाकानी न होनी चाहिए। बल्कि एक चित्त होकर उसीके लिए ठन जाना चाहिए। मेरेको जीवनमे ज्ञानानुभूति करके ही रहना है। इसके बिना जीवन बेकार

है, और ज्ञानानुभूति हो जाय तो मेरे सारे क्षण सफल हैं। संपदासे जीवन सफल नही होता, परिजनोसे जीवन सफल नही होता, लौकिक यशसे जीवन सफल नही होता। यहाँ बड़प्पन मानने वाला है भी कौन ? बड़प्पन जो मानता है वह भी अपने स्वार्थ सिद्धिके कारण मानता है। यहाँ कौन किसका बड़प्पन मानने वाला है ? तो है ना सारी बाते ये बेकारसी। तो यह बात चित्तमें ठान लीजिए कि तन, मन, धन, वचन और प्राण ये सब कुछ न्योछावर करनेके बाद भी हमको आत्मज्ञान मिलता है तो मैंने बड़ी सरलतासे सर्वोच्च वैभव पा लिया इतना निर्णय चित्तमें रखना।

**(६९) सत्य श्रद्धालुके लोकभयका अभाव**—भैया ! सम्पदाकी बात यहाँ बीच बीच यों करनी पडती है कि चूँकि संस्कार ऐसा ही बना है, उस ओर ही बराबर चित्त जाता है, और वह जीवनमें काम भी कुछ दे रहा है, जब तक गृहस्थीमे है, इसलिए कहना पड़ता है। यह लक्ष्मी तो आपके आँगनमें बरखेगी, आपके घरमें आयगी, वह कही आपके मोह करनेसे न आयगी। वह तो उदयानुसार सब लोगोके पुण्योदयके कारण आयगी। आपका कर्तव्य यह है कि निर्णय ऐसा बनालें कि जो आयगा उसमें भी हम सात्विक रहन सहनके हिसाब से अपना खर्च करेंगे, ताकि कभी इतना न आये तो हमें विपदा न आये, उसी ढंगका रहन सहन, खान पान रखें और अधिक धन आता है तो उसे अच्छे कामोंमे खर्च करना। वह भी एक यश बढाने वाली बात है। सम्पदाको तो यश बढ़ानेके लिए ही ना लोग जोड़ते हैं। पर सम्पदा जोडनेसे यश नही होता, किन्तु अपनी आवश्यकतासे अधिक धन आ जाय तो उसे अच्छे कामोमें व्यय करनेमे यश होता है और सम्पदा जोड़ी, अचानक मिट गई तो उस का कुछ भी फल हाथ न लगेगा, किन्तु उस धनको अनेक प्रकारके धर्मकार्योमे खर्च करनेपर जो यश बनेगा वह निकटकालमे मिटेगा नही। तो इसके लिए अपना एक यह निर्णय बनाये रहे। पर अन्तरंगमे अपनी यह धुन बनाये रहे कि बस मुझे तो यह समझना है कि मैं क्या हूं, मेरा क्या है, मैं क्या करता हूं, मैं क्या भोगता हू ? मेरी दुनिया कितनी है ? बस सबका उत्तर है एक। क्या ? ज्ञानस्वरूप। मैं क्या हूं ? ज्ञानस्वरूप। मेरा क्या है ? ज्ञानस्वरूप। मैं क्या करता हूं ? ज्ञानको। मैं क्या भोगता हूं ? ज्ञानको। मेरी दुनिया कितनी ? जितना कि यह ज्ञान। मेरा परलोक कहाँ ? जितना यह ज्ञान। मेरा सर्वस्व, मेरी निधि मेरा यह ज्ञान ही है। इसके आगे मेरा कही कुछ नही। इसको चिन्तनमे लेवें। एक बार सबका विकल्प छोड़कर विश्रामसे बैठ जावें तो अपने आप यहांसे उत्तर मिलेगा। सहज ही ऐसा उत्तर मिलेगा कि जिसके बाद फिर कभी भूलेंगे नही। अपने आपके परम विश्रामके प्रयोगसे जो आप अपने भीतरके स्वरूपका ज्ञान करेंगे वह आपका ठोस ज्ञान होगा

मुझे उसके लिए बढना है। बाहरी बेकार बातोके लिए मुझे उपयोग नही लगाना है। वे तो आयेंगे उदयानुसार। चित्त लगाना है इस आत्माकी ओर। तो दु ख दूर किए जानेके लिए आवश्यकता है आत्मज्ञानकी। इसलिए संत महंत आत्मज्ञानके उपदेशकी बडी चर्चा किया करते है।

(७०) **अनर्थका कारण निजका अदर्शन**—अब तक संसारमे रुलते-रुलते इन प्राणियोने सब कुछ देखा बाहरी अनेक बातें देखी, किन्तु एक निजको न देख सका। इसका परिणाम यह है कि यह जन्ममरणके दु.ख भोगता चला आ रहा है। इस एकको देख लेना, अपने आपको पहिचान लेना और अपने आपमे लीन रहना बस इसीका नाम धर्म है। आज धर्मके नामपर कितने ही विवाद, कितने ही सम्प्रदाय, कितने ही भेदभाव बन गए, लेकिन धर्म तो वस्तुका स्वरूप है। धर्म तो एक ही कहलायगा। धर्म अनेक नही हो सकते। जिसमे जो बात स्वभावकी हो बस वही उसका धर्म है। हमारा धर्म क्या? आत्माका धर्म क्या? मेरेमे जो स्वभाव हो वही मेरा धर्म है। क्या है मेरा स्वभाव? जाननहार रहना, ज्ञाता दृष्टा रहना, प्रतिभास करना, जानना, याने ज्ञानतत्त्व यही मेरा स्वभाव है। तो क्या क्रोध, मान आदिक कषायें करना मेरा स्वभाव नही है? वह मेरा स्वभाव नही है। स्वभाव जो होता है वह सदा रहता है, निरन्तर रहता है। जो स्वभाव नही है वह कभी होता है कभी नही होता है, वह निमित्ताधीन बात है, तो देखिये जीव जब क्रोध कर रहा है तब भी उसमे ज्ञान चल रहा है। जब मान, माया, लोभ आदिक कुछ भी कर रहा है तब भी ज्ञान चल रहा है, कषाय नही कर रहा है तो भी ज्ञान चल रहा है। तो ज्ञान प्रतिसमय जीवमे रहता है, कषाय हमेशा नही रहती इससे जानना चाहिए कि कषाय तो धर्म नही है, किन्तु ज्ञान मेरा धर्म है। अब इस ज्ञानधर्मको जिन सत महंतोने, जिन महापुरुषोने, भगवन्तोने बताया है, कृतज्ञ होकर हम उनकी महिमा गाते हैं और वे हमारे पुराण पुरुष कहलाते हैं। इतना सम्बन्ध है पुराण पुरुषोसे, पर धर्मके नातेसे सम्बन्ध तो हमारा हमारे स्वभावसे है, यह बात जिन जीवोने पा लिया उनका कल्याण हो गया।

(७१) **एक चिद्ब्रह्मका तथ्य**—यह शरण्य चित्स्वभाव ब्रह्म एक है, स्वभाव एक है। जगतमे जितने भी जीव है सबकी अनुभूति जुदी-जुदी है। जिस सुखका एक व्यक्ति अनुभव करता है, उसे दूसरा नही करता। दुःखका, क्लेशका, समाधिका जो एक जीव अनुभव करता है वह दूसरा नही करता। सबका अनुभव जुदा-जुदा है, जीव जुदे-जुदे हैं, व्यक्ति जुदे जुदे है, फिर भी जब हम सभी जीवोके स्वभावपर दृष्टि देंगे तो वह एक नजर आयगा। एक स्वभाव है केवल ज्ञानस्वभाव जाननहार रहना यही एकमात्र स्वभाव है। तो जब स्वभाव दृष्टिमे निरखते है तो सब जीव एक विदित होते है। एकको देखनेकी बड़ी महिमा है। एकमें

विकल्प नही होते । किसीका एक पुत्र है, आरामसे जीवन व्यतीत करता है । समझता है कि सारा धन इसका ही तो है । जहाँ दो पुत्र हुए वहाँ विचार विकल्प होने लगते कि अब दो अलग-अलग मकान हों । उन दोनों पुत्रोमे परस्परमें कलह रहती है तो उसे निपटाना । मतलब यह है कि लोकमे भी देखो, अपने आपके भीतरमें भी देखो एक रहेगा तो उसमें अनाकुलता रहती है, जहाँ दो बातें आयी वही विवाद हो जाता है । और देखो—एक गणित शास्त्रकी बात कि १ को संख्यामे ही नही गिना । संख्या दो से शुरू मानी जाती है । जिसमे परस्पर गुणा करनेसे कोई वृद्धि ही नही हो उसे गणना नही कही जाती है । यद्यपि १ के बाद २ कहे जाते है, मगर संख्या १ नही मानी गई है । १ संख्याविहीन चीज होती है, वह है, एक है, जो है सो है, क्योकि संख्या जहाँ होगी वहाँ दुविधा होगी । संख्यारहित बातमें दुविधा नहीं होती । तो इस जीवने सब कुछ जाना, किन्तु उस एक स्वभावको नही जाना । उस एक स्वभावकी परखमे कोई पक्ष नही, कोई आकुलता नही । वही धर्म है । उस ही धर्म के पालनमे इस जीवका मोक्ष होगा, कल्याण होगा । धर्म कहाँ पालना है ? स्वयंमे स्वयं का निरखना, विश्राम पाना यही धर्मपालन है, पर इतना ज्ञान इतनी बात सबकी समझमें कैसे आ सकती ? लोग तो केवल अपने पुराण पुरुषोंके नामपर धर्मके अलग-अलग रूप रेखा बना लेते है, चाहे बात सबमे एक हो । जैसे दया अहिंसा, सत्य । प्रायः बहुत सी बातें एक समान हैं, तिसपर भी चूँकि यह हमारे पुरुषोने कहा है, यह उनके पुरुषोने कहा है इस तरह पुराण लोगोके नामपर धर्मकी धारणा जुदी-जुदी हो गई है । एक स्वरूपकी दृष्टिसे देखो तो धर्म एकस्वरूप है और इससे भी जब हम एक आन्तरिक स्वरूपको देखें तो वह जो एक स्वरूप है, वहां जब तक उसके प्रति एकका भी ध्यान रहता है तब तक भी उसमें कमी रहती है । उस एकको भी भूल जाय और जो स्वरूप जाना है उस ही मे मग्न हो जाय तब एक धर्मका स्वाद आया समझिये । तो धर्म नाना नही है । धर्म एक रूप है । वह प्रत्येक आत्मा का धर्म है । जो अपने धर्मको संभाल लेगा उसका कल्याण हो जायगा । इसमे किसी पर ऐहसानकी बात नही है, और न किसीका इसमे कोई अपनेपर ऐहसान है । हाँ कृतज्ञता जरूर है कि पुराण पुरुषोने यह बात समझाया और हमारी समझमे आ गया है, स्वभाव एक है जैसे जल भिन्न-भिन्न स्थितिमे हो, पर जब स्वभावकी दृष्टिसे कहा जायगा तो यह कहा जायगा कि जलका शीतस्वभाव है । ऐसे ही जीव कितने ही हो, जब स्वभावकी दृष्टिसे बोला जायगा तो यह ही कहा जायगा कि सब जीव एक ज्ञानस्वरूप ही है ।

( ७२ ) **अनेकोमे एकत्वके दर्शनकी विधि**—अब देखिये—जो और मन्तव्य उत्पन्न हुए है सबका आधार यह ही बैठता है । है तो वे स्वभावसे एक लेकिन कुछ लोगोने मान लिया

व्यक्तिश एक तो उनका हो गया अद्वैतवाद। जैसे सारा जगत एक ब्रह्मस्वरूप है। एक ब्रह्म क्या? जैसे कोई एक आदमी, जैसे कोई एक पदार्थ, इसी तरह वह सब कुछ एक ब्रह्म है। बात यह सत्य है, पर स्वभावदृष्टिसे सत्य है, अनुभूतिकी दृष्टिसे सत्य नही। अनुभव तो सबमें जुदा-जुदा है। यदि सारा जगत एक ब्रह्म होता तो एकका परिणमन तो पूरे एकसे होता है। अगर एक जीव सुखी होता तो सब जीव सुखी रहते, तब समझिये कि एक ब्रह्म है। एक दुःखी होता तो सब दुःखी होते। जब कहा जाय कि एक ब्रह्म है तो यह बात तथ्यकी है लेकिन यह स्वभावदृष्टिसे परखी होनेपर तथ्य है, अनुभूतिकी दृष्टिसे नही, व्यक्तित्वकी दृष्टिसे जुदे-जुदे है। कहनेका भाव यह है कि हम अपने आपमे प्रकाशमान एक ज्ञानस्वरूपको देखें तो वहाँ कोई विवाद नही है। वहाँ न धर्मका झगड़ा रहता है न समुदायका झगडा रहता है। मैं आत्मा जैसा मेरेमे स्वरूप है, ज्ञानमात्र है उसको मैं देखूं उसमे ही मग्न होऊँ, उसीका सहारा लूं, इसीको कहते हैं समाधिभाव। जितना बन सके उतना झुकाव हो। जो जितना इस ओर झुके उसे उतना ही लाभ है, ऐसा स्वरूप जब नही जानते तो क्या दशा होती है? नाना विकल्प होते हैं। यह घर मेरा, सम्पदा मेरी, मेरे परि जन, मित्र जन। लोग तारीफ करते है कि ईसा जी ने यह बताया कि दुश्मनसे भी प्यार करो। लेकिन उनको यह नही समझाया किसीने कि आत्मधर्मने यह बताया है कि जगतमे कोई दुश्मन ही नही है। प्यार करनेकी, विरोध करनेकी नौबत ही न आनी चाहिए। एकको माना कि यह शत्रु है तो इस से प्यार करो, यह सेवाभाव है, तो उससे उत्कृष्ट चीज यह है कि सब जीव भगवत्स्वरूप है। कोई जीव मेरा शत्रु नहो, जो मैं हू सो सब हैं, अगर कोई मेरेको पीटता भी है, गाली भी देता है, विरोध करता है तो वह नही करता, उसके साथ प्रकृति लगी है, उस प्रकृतिका विकार है। कर्मका उदय है, वह प्रकृतिकी लोला है, वह अज्ञानका नाच है। यह जो सहज स्वरूप चैतन्य है यह तो निरपराध है, उस स्वरूपको देखना है। उसे शत्रु नही मानना है और कैसी विलक्षण आन्तरिक दृष्टि होती है कि कदाचित विरोधीका मुकाबला भी करना पडे, उसका प्रतिकार भी करना पडे तो प्रतिकार करते हुए भी, युद्ध करते हुए भी भीतरमे यह बात रहती है कि यह तो भगवत्स्वरूप है। इसका कोई अपराध नही है। जो जानने मे आ गया वह कैसे मिट सकेगा? वह तो ज्ञानमे आ ही चुका है।

( ७३ ) **ज्ञानीका आन्तरिक समत्व**—जिसने अपने एक स्वरूपको जाना उसके सब जीवोंमे समता बुद्धि हो जाती है। सर्व जीव समान है। यह मेरा है, यह गैर है, ऐसी बुद्धि उसके नही रहती। उसकी निगाहमे गैर हैं तो सब गैर हैं, जो परिवारमे पैदा हुए वे भी गैर है। जैसे अन्य कीडा, मकोडा, आदमी और पशु पक्षी हैं इसी तरहके ये भी मुझसे गैर ही हैं।

और अगर मेरे है तो सब जीव मेरे हैं, क्योंकि मेरे स्वरूपके समान उनका स्वरूप है, और जगतके सब जीवोका स्वरूप मेरे ही स्वरूपके समान है। समताभाव बर्त जाता है। ऐसा पुरुष दुनियामे लोगोके द्वारा चाहे बेवकूफ, कर्महीन कहा जायगा, किसी भी शब्दसे कहा जायगा, यो समझिये कि दुनियाकी दृष्टिमे वह पागल है, लेकिन इस ज्ञानीकी दृष्टिमे तो सभी पागल है। परवाह नही करता कि कौन किस तरह मुझे देखेगा। उसने तो जो अपनेमे देखा सो सब जीवो मे देखा। इसके लिए सब जीव इसके ही समान है। नीतिकार भी कहते है कि "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" जो सर्व प्राणियोमे अपने स्वरूपकी तरह निगाह डाले—ये भी मेरे ही समान है, उसे पंडित कहते है, विद्वान कहते हैं, ज्ञानी कहते है। जैसे गेहूँका बहुत बडा ढेर लगा है तो लोग यही तो कहते है कि इस गेहूँका क्या भाव है ? इस तरह थोडे ही बोलते हैं कि इन गेहुवोका क्या भाव है ? गेहूं गेहूं सब समान होनेके कारण उनमे सबकी एकत्व बुद्धि रहती है। यह गेहूँ अच्छा है। ऐसा कोई नही कहता कि ये सारे गेहूँ अच्छे हैं। ढेर है मगर उसे एक ही कहा जा रहा है, क्योकि सब गेहुंवोका स्वरूप समान है, पर वे सारे दाने क्या एक है ? जुदे-जुदे है। उनसे जुदे-जुदे अंकुर पैदा होगे, उनका जुदा-जुदा विभाग बनता है। एक किलो गेहूँ कोई ले गया, दो किलो कोई ले गया। तो अनेक होनेपर भी चूंकि स्वरूप पूर्ण समान है अतएव एक कहलाते, इसी तरह जगतके सर्व जीव अनेक होनेपर भी सब जीवों का स्वरूप एक समान है, इसलिए सब जीव एक कहलाते है। स्वरूपदृष्टिसे ब्रह्म कहलाते है। ऐसे इस एक स्वरूपको कोई पहिचान ले तो बस वह धर्मात्मा है, वह ज्ञानी है, वह संसारके सकटोसे पार हो जायगा। और जिसने इस एकको नही जाना वह संसारके विकल्पोमे रुलता ही रहेगा। तो कर्तव्य यह है कि अपने आपके इस एक स्वरूपको समझ लें। मैं क्या हूँ ? एक ज्ञानस्वरूप।

(७४) **निज एकके जाननेका महत्त्व**—देखो भैया ! एक को जाननेकी कितनी बडी महिमा है। १ संख्यामे कितना बडा महत्त्व है। १ संख्यामे नही माना गया, पर १ संख्याका मूल है। १ का महत्त्व देखो कि १ न लिखा हो और बिन्दियाँ धरते जायें तो वे कुछ गिनती मे तो न आयेंगी। १ लिखा हो और बिन्दी धरेंगे तो उसकी कीमत १० गुनी हो जायगी, २ बिन्दियाँ धरेंगे तो उसकी कीमत १०० गुनी, ३ बिन्दी धरेंगे तो उसकी कीमत १००० गुनी होती चली जायगी। और अगर १ को मिटा दें और बिन्दियाँ कितनी ही धरते जायें, उनका कुछ भी महत्व नही है। इसी तरह धर्ममार्गमे भी यही बात है कि एक निजको ध्यानमे रख लिया जाय फिर धार्मिक क्रियायें करे, भक्ति करें, स्वाध्याय करें, गुरूपासना करें, दुखियोकी दया करें, दान करें, तपश्चरण करे, त्याग करें तो उन सबका महत्त्व बढता जायगा।

और एक निजको ही न समझ पाया तो उन सब क्रियावोका महत्व उतना ही है जितना कि शून्यकी कीमत । तो इस एकको जानने पर सब जान लिया और एक इस निजको न जाननेपर कुछ नही समझा । तो यह मनुष्यभव बडी कठिनाईसे मिला है । इस भवमे यहाँ वहांके बहकावेमे आकर या अपनी मौलिक परम्पराकी पद्धतिका आग्रह बनाकर हम यदि बाहरी-बाहरी उपयोगमे ही समय गुजार दें, धर्मके नामपर भी तो हमने अपना जीवन खोया और एक अपने आपके ज्ञानबलसे अपने आपके ही स्वरूपको समझलें तो हम अपने जीवनको सफल समझें । क्यो न मैं स्वयं खुद अपने उस सही स्वरूपको जान सकूगा । जानने वाला मैं हू । जानने वाला यह मैं जाननेके स्वरूपको न जान सकूँ तो यह तो एक बडे अंधेर की बात होगी । दृष्टि लगा दी है बाहरकी तरफ इसलिए लगता है कि हम न जान सकेंगे खुदको, मगर जो खुद ज्ञानस्वरूप है तब ही तो यह जान रहा है, अगर मेरेमे ज्ञानस्वरूप न हो तो मैं कैसे जान सकू ? भीतमे ज्ञानस्वरूप नही है । यह तो किसीको जानती ही नही जो जानने वाला है वह खुद ज्ञानस्वरूप है तब ही वह जान सकता है । तो जब मैं ज्ञानस्वरूप हू और मैं जानता रहता हू तो बाहरकी चीजोको तो मैं जान लूँ और जो स्वय निज ज्ञान स्वरूप पदार्थ है उसको न जान सकूँ तो यह तो बडे अंधेरकी बात कही जायगी । मैं अपने ज्ञानस्वरूपको जान लूँ यह तो है सरल बात और मैं बाहरी पदार्थोंको जान लूँ यह है कठिन बात । कैसे ? बाहरी चीजोको जाननेके लिए इन्द्रियाँ चाहिएँ नाक, आँख, कान वगैरह । इन्द्रियका व्यापार चाहिए । इन्द्रियाँ भी निर्दोष चाहिएँ और फिर उन इन्द्रियोके द्वारा जानने की मेरेको उत्सुकता चाहिये ? यो अनेक कठिनाइया हैं तब हम बाहरकी चीजें जान सकते है । लेकिन खुदके ज्ञान स्वरूपको जाननेके लिए ये इन्द्रियाँ भी न चाहिए । इन्द्रियाँ हैं तो रहो, ये विश्राममे बैठो रहे, इनका व्यापार न चाहिए । खुदके ज्ञानस्वरूपको जाननेके लिए कुछ भी चीज न चाहिए, किन्तु जो भटक गए बाहरमे उसका विराम चाहिये । यह ज्ञान स्वयं आने आपके ज्ञानस्वरूपको जान लेगा कि मैं क्या हूं ? ऐसे इस ज्ञानस्वरूपको जाननेपर इस मनुष्यभवकी सफलता कहलाती है ।

(७५) **सर्वव्यापी एक चित्स्वरूपकी उपलब्धिकी क्षमता**—जैसे मनुष्यकी दृष्टिमे मनुष्य मनुष्य सब एक हैं, एक तरह पैदा होते हैं, एक तरह मरते है, एक ही तरहसे सुख दुःख पाते हैं, सबकी एक ही विधि है, ऐसे ही जब जीवकी दृष्टिसे देखें तो सब जीव एक समान है । सब ही ज्ञानस्वरूप हैं, सभी आनन्दमय है, सभी शान्तस्वरूपको रख रहे हैं, 'किन्तु श्रापवश खोया ज्ञान" बाह्य पदार्थोंमे भ्रम बनाया, यह तो हितकारी है—मेरा

सुखदायी है, ऐसा भ्रम बनाया, बाहरकी तरफ उपयोग लगाथा कि हम अपनेसे हट गए और अज्ञान दशाको प्राप्त हो गए। थोडा कुछ दृष्टि भीतर लगाना है, बाहरके विकल्प छोड़ना है, सब जीव एक समान हैं, सब इसको पा सकते है। जो इसको पा लेता है उसे कहते है ज्ञानी, उसे कहते है योगी, धर्मात्मा, भव्य। मुक्ति मार्गमें ले जाने वाला। एक भगवत्रूपको प्रकट करने वाला, तो वह चीज सबके पास है। हमारे पास है। जैसे किसी लकडहारेकी साफेकी गाँठमे लाल बँधा हो और उसे पता न हो तो वह अपनेको भिखारी ही समझता है। बँधा तो लाल है लाखो रुपयोंकी कीमतका, मगर उसे उसका ज्ञान नही है तो वह तो भिखारी बन रहा है, इसी तरह हम आप सबके स्वरूपमें यह चैतन्यप्रकाश है, यह अतुल वैभव है, यह सहज स्वरूप है, पर इसका जब पता नही रहता तो यह जीव भिखारी बना रहता है, मोही बना रहता है। ये बाल बच्चे ही मेरे है, ये ही मेरे सब कुछ है, यह इज्जत ही मेरे लिए सब कुछ है, बस यही फंसाव बना रहनेसे इस फंसावके कारण भीतरमे बिराजमान जो एक भगवानस्वरूप है उसे प्रकट नही कर पाता। इसके लिए अहंकार छोड़नेकी आवश्यकता है। जो मैं नही हूं उसे "मैं" मत माने। देह मैं नही हूं इस देहको मैं मत मानें। जब देहको माने कि यह मैं नही हूं तो ये रिस्ते भी खतम हो गए, शत्रु मित्रके भाव भी खतम हो गए। एक शुद्धचित्प्रकाश ज्ञानमें आया कि जिसके आश्रयसे आत्माका कल्याण होता है। यह ही चीज काममे आयगी, बाकी सारी चीजें ये कोई इस आत्माकी श्रद्धा नही बन सकती जैसे मानो राजस्थानमें कोई पगडी रंगने वाला था। उससे कोई कहे कि भैया यह मेरी पगड़ी लाल रंगमे रग देना। ··· अच्छा साहब ···· यह हरे रंगमे रंग देना···अच्छा साहब यो रखा तो लेता था सबकी पगड़ी, पर अन्तमे कहता था कि देखो चाहे लाल रंगाओ, चाहे हरी, चाहे पीली, पर रंग तो आसमानी ही उत्कृष्ट होता है। वह आसमानी रगकी पगडी अच्छी रंगता था इसलिए ऐसा कहता था। तो इसी तरह ज्ञानी पुरुषको चाहे जिस रंगमे रंगो, मगर उसकी उत्कृष्टता यही होगी कि जो ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपको समझ ले। तो अपनेको समझना है, उसमे ही मग्न होना है, यही धर्म है और इससे नियमसे कल्याण है।

(७९) **परसंपर्कमें ही बुराईकी संभवता**—सबके चित्तमे यह इच्छा रहती है कि हम बुरे न रहे, हम अच्छे रहे। तो यहाँ विचार करना है आज कि कोई भी चीज बुरी कैसे होती है? और अच्छी कैसे बनती है? इतना तो निश्चित है कि कोई भी पदार्थ अकेला अपने आप स्वयं ही बुरा नही हो सकता। किसीकी भी सत्ता खुदके विनाशके लिए नही हुआ करती। कोई भी पदार्थ हो, जीव हो पुद्गल हो, बाहरमे भी कोई वस्तु हो,

स्वय अपने आप अकेला ही बुरा कोई नही बन सकता । बुरा जो कुछ भी बनता है, पहिले इसका अर्थ ही देखो कि बुरा बननेके मायने क्या कि अपने स्वभावको छोडकर किसी विकार मे आना । जो मेरा सहज स्वरूप है, जो किसी वस्तुका सहज स्वरूप है उससे चिगकर कोई विकृत रूपमे आना इसको कहते है चीजका बुरा बन जाना । तो ऐसी बुराई कैसे आती है ? किसी न किसी परवस्तुके सम्बन्धसे किसी भी परवस्तुका सम्बध न हो तो अकेले किसी पदार्थमे कोई बुराई नही आ सकती । जैसे नाव बुरी कब होती है ? जब नावके अन्दर पानी का सम्बन्ध होता है । पानीका सम्पर्क बढता है तो नाव बुरी हो जाती है और उस बुरी नावका परिणाम क्या होता है कि उस नावका सहारा करने वाले भी डूबते है और नाव भी डूबती है । तो नाव अपने आप तो बुरी नही है, किन्तु नावमे जलका भण्डार होनेसे वह बुरी हो गयी । और भी जगतके पदार्थ जो सड जाते हैं या जो बच्चे बुरे बन जाते है तो खुद अपने आप अकेले रहकर कोन बुरा बनता है ? दूसरोकी बात देखता है, संग होता है, जब असर दूसरा हो जाता है तो बुरे बन जाते हैं । तो बुरे बननेका कारण परका सम्बन्ध है । कोई दर्पण है, अपने आप अपने लिए स्वच्छ ही रहता है, वह बुरा नही बनता, लेकिन किसी परवस्तुका सम्बन्ध हो जाय, सामना हो जाय तो वह दर्पण मलिन हो जाता है । उसमे विकार आता है, फोटो आ जाती है । स्वच्छता नही रहती । तो दर्पण बुरा कैसे बना ? परके सम्बन्धसे जीव बुरा कैसे बनता ? परके सम्बन्धसे । हम आप जीव है, सत् है, चिदानन्द स्वरूप है । जब मैं हू तो मेरा कोई न कोई तो निजस्वरूप है ही । जैसे भीतका स्वरूप रूप, रस, गध, स्पर्श, ढेला, पत्थर मूर्तिकता आदि है तो मैं भी हू तो मेरा कोई स्वरूप होगा ही । वह स्वरूप क्या है ? ज्ञानप्रकाश । तो मरा स्वरूप है ज्ञानज्योति । वह अपने आप अकेला ही अपनी ही तरफसे अपनी सत्ताके कारण बुरी नही बन सकती । यो किसी परवस्तुका सम्बन्ध है तब बुरा बनता है यह आत्मा । वह पर क्या है ? उसे कहते है कर्म अथवा प्रकृति । कर्म या प्रकृतिका सम्पर्क होनेसे आत्मामे बुराई आयी है ।

**(७७) निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अकाट्य होनेपर भी परिणमनकी स्वतन्त्रता**—इस आत्ममालिन्यके सम्बन्धमे एक एक करके बात सोचते जाइये । पहिली बात तो यह हुई कि यह जीव किसी अजीवके सम्पर्कसे प्रकृति कहो, कर्म कहो, किसी विरुद्ध परतत्त्वके सम्बंधसे मलिन हुआ है । एक बात यह परखिये । इसके साथ ही यह भी परख लीजिये कि मलिन होता है तो यह जीव अकेला ही मलिन होता है । कही दो जीव मिलकर मलिन नही होते । दूसरेके सम्बध बिना मलिनता नही आती, और कभी दो पदार्थ मिलकर एक मलिनता नही बना सकते । यह नियम सब जगह अकाट्य अबाध्य सिद्ध होगा । मैं जीव मलिन होता हुआ,

कषायवान होता हुआ स्वच्छताका मेरेमें विकार जगा है तो यह अकेले सत्त्व ही कारण नही जगा किन्तु पर कर्मप्रकृतिके सम्बंधमें जगा है। इतना होनेपर भी कर्मप्रकृति और यह मै आत्मा दो मिलकर एक मलिनताका परिणमन नही कर सक रहा हूँ, किन्तु निमित्त तो है प्रकृतिका और मलिन बन रहा हू मैं अकेला। जैसे दर्पणमे विकार या मलिनता स्वच्छ दर्पण अकेला द्रव्य ही हो तो नही हो सकता। कोई परपदार्थ सामने आये, उपाधि लगी हो तो दर्पणमे विकार होता है, स्वच्छताका विकार बनता है। इतना होनेपर भी दर्पणमे जो विकार बना, प्रतिबिम्ब बना सो दर्पण और बाहरकी चीज दो मिलकर नही बना, किन्तु बाहरकी चीज तो बाहर ही है। हाथ सामने किया तो हाथ तो हाथमें ही है और दर्पण दर्पणमे ही है, पर हाथका सन्निधान पाकर यह दर्पण प्रतिबिम्बित हुआ, विकृत हुआ, इसमे स्वच्छताकी हानि हुई। तो ऐसे अपने आपको ये दो निर्णय बनाना है। मै खराब हूं, मलिन हूँ। आकुलित हूँ, रागी द्वेषी मोही हूं, इस तरहकी मेरी खराबी मेरे अपने आपके कारण नही हुई है। किसी परवस्तुका सम्पर्क है, सम्बंध है जिस योगसे यह आत्मा मैं मलिन विकृत रागी द्वेषी होता हू। होता हूँ निमित्तके सन्निधानमें मैं विकारी, तिसपर भी मैं विकारी अकेला ही बन रहा हूं। प्रकृति और जीव दो में मिलकर एक विकार नही हो रहा। प्रकृतिका विकार प्रकृतिमे चल रहा, मेरा विकार मेरे मे चल रहा, पर ऐसा योग है कि प्रकृतिके सम्पर्क बिना मेरेमें मलिनता नही जग सकती। ये दो बुराईके निर्णय बनते है।

(७८) **बुराईके प्रकार अथवा आस्रव और बन्ध**—अब उस बुराईके दो भेद देखिये कि वह बुराई आयी और गई। ठहरी नही, एक तो यह स्थिति होती है और एक बुराई आयी और बंधकर रह गई, एक यह स्थिति होती है तो ये दोनो स्थितियाँ आयें, और जायें, ठहरें नही और आकर ठहर जाय तो ये दोनो ही बुरी दशायें होती है। परके सपर्कसे इतना निर्णय करनेके बाद अब इस ओर दृष्टिपात कीजिए कि बुराई निकालनेका तरीका क्या है ? मेरेमें बुराई आयी, राग हुआ, कल्पना जगी। यह कम आपत्ति न समझें कि मैं पुत्र या धन या घर या किसी मित्रको देखकर हर्षित होता हूँ। अपनाता हूँ, यह मेरा है, ऐसी कल्पनायें उठाता हूं, तो यह कल्पना तरग उठाना इस आत्मदेवपर बडी आपत्ति है। पर इसे कौन विपत्ति माने ? सब खुश हो रहे, सब राजी हो रहे और अनेक काम कर करके राजी हो रहे। कौन विपत्ति समझता कि मेरेमे ये कल्पनायें जगना सो विपत्ति है। तो ये सब विकार कहलाते है, ये सब विपत्तियां कहलाती है। जिसको अपने आपके कल्याणकी इच्छा जगी है वह यह चाहता है कि मेरे आत्मापर किसी भी प्रकारका विकल्प तरंग न आये। मैं सम रहूँ, स्थायी रहूँ, स्वरसमय रहूँ, शान्त रहूँ, मेरेमे कोई तरंग न उठे, ज्ञानीकी यह भावना

रहती है। फिर कोई कहे कि ऐसे सारे ज्ञानी ही जुड जायें तो फिर कैसे घर चले, कैसे देश चले? प्रथम बात तो यह है कि क्या हर्ज है। अगर संसारके सब जीव ऐसे सब ज्ञानी हो जायें और वे सब शान्त हो जायें, संकटोसे मुक्त हो जायें, और संसार खाली हो जाय, शून्य हो जाय तो इसमे आपको क्या आपत्ति आती है? किन्तु ऐसा होता नही है, होनेका नही है, घबडाहट क्यो लायी जाय कि सब जीव ज्ञानी बन जायें तो फिर क्या होगा? अरे संसारको स्थिर रखनेका तुमने ठेका लिया है क्या? न रहे संसार, न रहे संकट, न रहे कुछ तो मत रहो। क्या बिगाड है, लेकिन बात यह है कि ऐसा कभी होता नही, न हो सकेगा। अनन्त अज्ञानी भ्रमी जीव यहाँ रहे ही जायेंगे। उनमेसे कोई भी जिसका भवितव्य अच्छा है, ज्ञान और वैराग्य मिलना है, वह यहाँसे मुक्त हो जाता है। जैसे कोई चना भूनने वाला कारीगर भूनते समय क्या यह शका करता है कि आज अगर सारे चने उचट जायेंगे तो क्या करेंगे? व्यर्थ क्यो परिश्रम करें? वह जानता है कि ऐसा होता नही है कि सारे चने उचटकर बाहर आ जायें। कोई विरला ही उचटता है। दूसरी बात देखिये—ज्ञानी और स्वरूपके ज्ञाता होने से सहज विरक्त हुआ पुरुष जब तक गृहस्थीमे रहता है तब तक उसके ये बाहरी विकार तरग चलते रहते हैं और उसे सुध है कि ये विकार चल रहे हैं, उन्हे जानता है और भीतर समझना है यह कि मेरा स्वरूप विकारसे दूर है। तो विकार हुआ परके सम्बधसे। एकमे कोई विपदा नही, एकमे कोई विकार नही। एकका कोई बिगाड नही, जहाँ द्वितीयका सम्बंध हुआ वहाँ वह दूसरा भी बिगडा और यह पहिला भी बिगडा। इसीलिए ज्ञानी सतोने एकका, अद्वैत का, निरपेक्षका, स्वतत्रका बहुत महत्त्व वर्णित किया है तो द्वितीयके सपर्कमे बुराई होती है।

**(७६) भलाईके आधार अथवा सवर और निर्जरा**—अब भलाईकी बात देखो। पहिले भलाईकी बात समझो कि भलाईके मायने क्या? मैं केवल अपने आप अपने ही सत्त्व मात्र रहू। कोई परका सम्बन्ध न हो, परभाव न हो। खालिस केवल एक अकेला ही मैं सत् रह जाऊँ, यही है इसकी स्वच्छता, उत्कृष्टता, निर्मलता। तो ऐसा होनेके लिए क्या करना पडेगा? पहिले तो यह करना होगा कि परके सम्पर्क जो होते रहते हैं, जिनसे मैं बुरा बनता रहता हू। तो परका सम्पर्क रोक दें, आगे तो मैं बुरा न बनू। भविष्यके लिए बुराई तो न रहे। तो पहिले तो परका सम्पर्क रोक दें, और जो सम्पर्क रहा है पहिले से उसका धीरे-धीरे विनाश करें। किसी भी चीजको निर्मल और स्वच्छ बनानेके लिए ये ही दो तरीके किये जाते हैं। जैसे नावमे पानी आ गया, बुरी बन गई, नाव डूबने वाली है, पर उसके बचनेका उपाय क्या कोई हो सकता? हाँ हो सकता। पहिले तो यह काम करना चाहिये कि जिस छेदसे पानी आता था उसे बन्द कर दें, नया पानी वहाँ न आ सके। और

दूसरा उपाय यह करना होता कि जो पानी पहिले से आ गया है उसको दूर कर दें। बस नावका उद्धार हो जायगा। उसपर बैठने वाले लोग सकुशल पार हो जायेंगे। तो इसी तरह आत्मामें जो मलिनतायें आयी है, रागद्वेष, क्रोधादिक विकार आये है, तो पहिला काम यह है कि नये विकार न आने दें, नये कर्म न बँधने दें। उनकी रोक करें ? अशुभभावोकी रोक करें और दूसरा काम यह करना है कि जो पहिलेका संस्कार बसा है, जो पहिलेसे कर्म बँधे है, सत्तामें हैं, उस संस्कारको, उस सत्त्वको दूर करें। जिस समय यह परका सम्पर्क पूरा दूर हो जायगा उसी समय अपनी निर्मलता हो जायगी।

(८०) **भलाईके प्रसंगमें सप्त तत्त्वोंका दर्शन**—परसंपार बुराई भलाईके प्रकार आदि इन्ही तत्त्वोंको बताया है—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। मैं जीव हूं, मेरेमें वर्तमानमें बुराई चल रही है, क्योकि दुःखी हो रहे ना, पीड़ित भी होते, कष्ट भी मानते। कल्पनायें भी करते। तो मैं मलिन हूं। दुःखी हू। विकृत हूँ, तो इसका कारण जरूर है कि मेरे साथ कोई अजीव लगा है। विपरीतका संग बुरा ही करता है। अनुकूल सजातीयका सग बुराई नही करता। मैं बुरा बन रहा हू तो उससे यह साबित है कि मेरे साथ मेरेसे विपरीत स्वभाव वाला कोई पदार्थ लगा है, उसे ही कहते है प्रकृति और कर्म। तो इसीको कहेगे अजीव। जीवके साथ अजीव लगा है तो जीवकी कुशल नही है। बरबाद हो रहा, जन्म मरण कर रहा, कषायवान हो रहा। तो जब जीवके साथ अजीव है तो जीव में अजीव आये, अजीवका प्रभाव आये, इसीका नाम है आस्रव। आया है वह। आस्रव आनेको कहते है, लेकिन आनेमे और आस्रवमे फर्क है। आना तो कहलाता है किसी बाहरी देशसे, बाहरी विधिसे स्वतन्त्रसा होता हुआ किसी जगह आ जाय उसे कहते हैं आना और आस्रव कहते है चूकर आनेको। जैसे ताजे सकोरेमे, घड़ेमे पानी भरें तो वह ऊपर तक आ जाता है अगर छटांक दो छटांक पानीसे धोवेंगे तो उतने पानीके सब छीटे सूख जायेंगे। उसका आना हुआ चूकर। तो मेरेमे जो दूसरा पदार्थ आता है और दूसरे पदार्थके सम्बन्धसे जो विकार आते हैं सो कही बाहरी देशसे दौड दौडकर नही आते किन्तु मेरेमे ही मेरे समस्त प्रदेशोमे ही चू कर आते हैं। वहां यह न विदित होगा कि लो यहांसे आया है। सारी बात यही हो रही है, तो ऐसा चू कर आनेका नाम है आस्रव। तो मेरेमे अजीवका सम्बन्ध है अतएव बुराइयोका आना हो रहा है और वे बुराइयां बँध रही हैं, इसे कहते हैं बंध। उनका सस्कार बांधे है, धारणा बनाये हैं वहां बंध है और वे प्रकृति कर्म भी बहुत दिनोसे यही पड़े हैं। यह है बंध। यह तो है हमारी बुरी दशा। देखो एक धर्मकी बात कही जा रही है। हमारा धर्म क्या है, जिस धर्मका हम पालन करें तो हमारे सकट दूर हो जायें।

यह बाहरकी बात नही कही जा रही है। जो देख लेगा, निरख लेगा, समझ लेगा, उसका बेडा पार हो जायगा। इसमे कोई शास्त्रमें कही इसलिए यह बात है या किसी पुरुषने कही इसलिए यह बात है, ऐसा नही, किन्तु ऐसा हो रहा है वह बात संतोने बनाया है। तो मेरे मे कषायका आस्रव, कषायका बध है तो इससे हटनेका उपाय क्या है ? उपाय है यह कि पहिले आस्रवको रोकें, ऐसा ज्ञानबल बनायें, ऐसा भेद विज्ञान बनायें, मै तो एक ज्ञानमात्र हू, स्वच्छतामात्र हू। मेरेमे स्वयमे कोई अपराध नही होता। मैं तो स्वच्छ स्वभावरूप ही हू, पर ये विकार आये हैं, ये सम्बन्धसे आये हैं, प्रकृतिके सम्पर्कसे आये हैं, ये मैं नही हू। देखो जिसके यह बुद्धि जग जाती है कि कषाये मैं नही हूं। कषायें प्रकृतिकी विकार हैं, ये कषायें मलिनभाव है, ऐसा जो जानते हैं वे उन कषायोको अपनाते नही हैं। नही तो ऐसे ऐसे मोही जीव पडे हैं कि कोई किसीसे लड रहा है और लडते लडते कोई बचाव करे या कुछ बात बने और उसमे वह सोचता है कि मेरे क्रोध कम हो रहा है। तो वह कोशिश करता है कि उस क्रोधको और उभाडनेका, क्योकि वह जानता है कि मेरेमे तीव्र क्रोध जब तक न जगेगा तब तक मार न सकेंगे तो अज्ञानी जीव तो कषायमे लगाव रखते हैं और कषायोको वढावा देते है। लेकिन ज्ञानी पुरष जिन्होने इन कषायोसे भिन्न अपने ज्ञान वरूस्पको देखा है वे ज्ञानकी भावना बनाते हैं, कषायोसे उपेक्षा करते हैं, कषायोसे विमुख होते है, तो ऐसी निर्मल परिणतिमे आगामी विकार न आयेंगे, आगेके कर्म न आयेंगे, और जो पहिलेसे आये हुए कर्म है वे भी दूर किसके द्वारा किये जायेंगे ? इस ही ज्ञानबलके द्वारा। इसे कहते है सवर और निर्जरा। जब विकार न आयें और पहिलेके विकार सब हट जायें तो इस जीवका हो जाता है मोक्ष याने स्वयं अकेला केवल रह जाय; सर्व परभावोसे, पर सम्बन्धसे छुटकारा हो गया। यह काम करना है हम आप सबको। अगर अपनी भलाई चाहिये है तो सबको यही पद्धति अपनानी होगी। मेरे अन्दर बुराई न रहे, बुराई सब मिट जाय और मैं केवल, स्वतंत्र, स्वच्छ, अकेला, शुद्ध बनजाऊँ। इसके लिए ७ तत्त्वोकी बात कही गई है कि हम ७ तत्त्वोका सही श्रद्धान बनावें। मैं जीव हू। प्रकृति अजीव है। मुझ मे प्रकृतिका सम्पर्क आ रहा है, यह बुराईकी चीज है, यह प्रकृति बँध जाती है यह भी बुराई है। यह प्रकृति रुकें। यह रुकेगी भेदविज्ञानसे। यह है कल्याणका उपाय और ऐसे आगामी प्रकृतियोको रोकें कि जिस पौरुषमे पहिलेकी बँधी हुई प्रकृति भी दूर हो जाय। तो जब यह जीव केवल अकेला रह जाता है, प्रकृतिके सम्पर्कसे हट जाता है तो इसे कहते है मोक्ष और ऐसा जो ज्ञानस्वरूप है उसे कहते हैं परमात्मा।

(८१) परमात्मस्वरूपके ध्यानकी धुरा—परमात्माके स्वरूपका ध्यान करने से हमे

अपने अन्तः बसे हुए परमात्मस्वरूपकी सुध हो जाती है, परमात्मा तो आदर्श है, उसका ध्यान करें और अपनी सिद्धि प्राप्त करें। परमात्मा अपनी जगह छोडकर, अपना आनंद तज कर विकल्पमे आने वाला नही होता। वह निर्विकल्प है, अपने ज्ञानानन्द स्वरूपमे लीन रहा करता है। वह आदर्श है मेरे लिए जिसको जो कुछ बनना चाहिए वह बनता ही है उस उपायसे। आदर्शकी श्रद्धा करो, आदर्श बननेकी विधिका ज्ञान करो और उसपर चलने लगो। जैसे कोई संगीत सीखना चाहता है तो संगीतमे जो आदर्श हो, जो एक बहुत बडा सुन रखा हो संगीतज्ञ, उसका लक्ष्य रहता है बच्चोंको कि मुझे ऐसा बनना है। वह संगीत सीखने की विधिका ज्ञान करता है और उसका प्रयोग करता है। तो जो आदर्श है वह तो संगीत का देव है और जो कापी है, पुस्तकें है, सीखनेकी विधियां है वे है संगीतके शास्त्र और जो गांवमे मिल जाय, ऐसा कोई सिखाने वाला गुरु हो तो वह है संगीतका गुरु। इसी तरह परमात्मस्वरूप अगर बनना है, सदाके लिए संकटोंसे मुक्त होना है या यो कहो कि परमात्म-स्वरूपमे मग्न होता है तो परमात्मस्वरूपका आदर्श चित्तमे रखें, ऐसा होता है और ऐसा होनेकी विधि जहां वर्णित हो उन शास्त्रोका अध्ययन करें और गांवमें, आसपासमें जो ऐसे गुरुजन मिलें, जो इस धुनमे रहते हों, इस प्रयोगमें रहते हो कि मेरी मलिनता दूर हो। निर्मल स्वरूप प्रकट हो, उन गुरुवोका संग करें, उपासना करें, सीखें तो इस विधिसे हमारी मलिनतायें दूर हो जायेंगी और हम निर्मल स्वच्छ हो जायेंगे। स्वच्छतामे आनन्द है और मलिनतामे क्लेश है। हमे इस मलिनताके साधनोसे हटकर अच्छे बननेके साधनोमे लगना चाहिए।

(८२) **जीवकी अनादिकालीन दशा एवं उस दशाके क्लेश**—जीवकी सबसे जघन्य अवस्था क्या होती है और सबसे उत्कृष्ट अवस्था क्या होती है और उसके बीचमे क्या अव-स्थायें बनती है, इस ही विषयपर आज कुछ विचार करना है। वैसे आंखों देखें तो कोई यह पता पायेगा कि पशुपक्षी कीडा मकोडा पेड पौधे, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमे भी जिसने जीव समझ रखा हो, वह बता देगा कि यह अवस्था जीवकी जघन्य है, किन्तु इससे भी और गई बीती अवस्था एक और है जिसका प्रायः लोगोको कम परिचय है। वह अवस्था है वन-स्पतिकायका ही एक भेद जिसे कहते है साधारण वनस्पतिकाय, जिसका दूसरा नाम है निगोद। सबसे जघन्य बुरी अवस्था जीवकी निगोद है। इस बातको इस ढंगसे सुनें कि यह अवस्था हमारी थी और किस किस किस तरहसे क्रमिक बढ बढकर जीव कैसी उत्कृष्ट अवस्थामे पहुंच लेता है? इसमे कोई संदेहकी बात नही कि जितने भी जीव है वे सब नियम से पहिले निगोद थे। निगोदके शरीर दिखते नही है जैसे कुछ निगोद तो रहते हैं निराधार

आकाशभरमे, लोकाकाश भरमे फैले हुये हैं, किसके सहारे ? याने कोई त्रसकाय नही, हरी नही, कीडा मकोडेका शरीर नही, किन्तु इन सारे शरीरोंके आश्रयके बिना भी दुनियाभरमे फैले हुये हैं। इसे कहते हैं सूक्ष्म निगोद जीव, जिसको किसी पशु, पक्षी, मनुष्य, फल, फूल आदिक किसीके भी आधारकी आवश्यकता नही रहती। अब दूसरा निगोद सुनो—वह होता है हरी वनस्पतिकायके आधारमे। ये जो दिखने वाले वनस्पति है आलू आदिक, जिसे लोग साधारण कहकर अभक्ष्य कहते है, ये दिखने वाले आलू वगैरह निगोदके शरीर नही है, ये तो सब प्रत्येक वनस्पति हैं और सही दिखता है—वे सब प्रत्येक वनस्पति है, साधारण नही है, लेकिन आलू आदिक प्रत्येक वनस्पतिमे साधारण वनस्पति रहती तो इस कारण उन्हे अभक्ष्य कहा है। तो आलू आदिक फलोमे भी, फूलोमे भी जो और साधारण वनस्पतिके शरीर है उनके एक शरीरके आधारमे अनन्त निगोद जीव रहते है, देखो कितनी बडी परतंत्रता है, एक शरीर है और अनन्त निगोद शरीर उसके सहारे जन्मे, मरें तो बतलावो यह कितनी दयनीय स्थिति की बात है ? किन्ही दो मनुष्योको अगर किसी एक शरीरके आधीन बनाया जाय तो क्या पसंद करेंगे ? न पसंद करेंगे, लेकिन उन अनन्त निगोदियोको एक शरीरके आश्रय अपना जन्म मरण सब कुछ भोगना पडता है। जहाँ एक श्वांसमे १८ बार जन्ममरण करना पडता है—वह श्वास भी कौन ? मुखकी श्वांस नही, नाडीके एक बार उचकनेमे जितना समय लगता है वह श्वांस, जिसका गणित बैठेगा एक सेकेण्डमे २३ बार जन्म मरण करना पडता है। ऐसे जन्ममरणके संकट अनन्त काल तक सहे। यह हम आप सबकी शुरूकी कहानी है।

(८३) **एकेन्द्रिय पर्यायोके क्लेश**—हम आप आज मनुष्य है, अनेक विचार कर सकते है, पर जहाँ सब प्रकारसे समर्थ हैं, इन्द्रियाँ भी पुष्ट हैं, सब आरामके साधन है, जहाँ बडे साहित्यिक ढगके वचन व्यवहार हैं तो वहाँ कौन इसकी सुध ले ? हम पहिले निगोदमें थे। यह सभी जीवोकी कहानी है। जितने जीव मुक्त हो चुके हैं वे भी कभी नियमसे निगोद थे। अब ऐसी निगोद राशिसे हम आप कुछ उद्धारको प्राप्त हुए है तो क्या कारण बतायें कि कैसे निकलें ? अब निकल आये, उसकी तो चर्चा ही क्या करना है ? वहाँसे निकले तो जरा थोडा थोडा उत्कृष्ट स्थितियोकी चर्चा करलें। उस निगोद राशिसे निकले तो प्रत्येक वनस्पतिके जीव हुए। जैसे आलू आदिक हैं, ये ही जीव हुए। इससे और बढे तो यो समझलो कि साधारण वनस्पति रहित प्रत्येक वनस्पति हुए, जैसे लौकी आदिक, पृथ्वी हुए, जल हुए, अग्नि हुए, वायु हुए, ऐसी भी अगर पर्याय पायी तो इसमे कौन सी बडी महिमाकी बात हुई ? कितना कष्ट है ? पृथ्वीको जो चाहे काटे, खोदे, लोग मिट्टी निकालते हैं। पृथ्वीकी कितनी हिंसा होती है।

कैसा प्राण घात होता है, उसकी कौन दया करता है ? जलको बिखेरना, गर्म करना, रोकना आदिक अनेक प्रकारकी क्रियायें होती है, उनको कौन बचाता है ? अग्निपर राख डालना, पानी डालना, बुझाना, आदिक ये सब प्रयोग किये जाते है। इस अग्नि-कायके दु:खको कौन बचाता है। बनस्पतिकायके जीव फल पत्ते आदिक तोडना ये सब बातें चलती है। तो ऐसे ऐसे हम आपने दुःख भोगे। आज उनकी खबर नही आ रही। उनकी तो खबर क्या आये ? जब गर्भमें थे तो कितने दुःख सहन कर रहे थे—मांके पेटके अन्दर उल्टे औंधे पडे थे, जहां पर कि श्वांस लेने तकका भी स्थान न था, जहां मां की श्वांस और आहारके साथ ही साथ उसका भी सम्बंध था वहां क्या कम दु:ख थे। ये दुःख हम आप सभीने सहे, पर इन दु:खों की क्या किसीको याद है ? जब एक इस ही भवकी बात याद नही तो फिर अन्य भवोंकी तो बात ही क्या कही जाय ? हां कोई ५-७ वर्षकी उम्रसे लेकर अब तककी बात याद हो सकती है। देखो, रहे सभी लोग गर्भमे, निकले सभी लोग उस गर्भके अन्दरसे, पर वहांके दुःखोंका किसीको पता नही है। जब एक इस ही भवकी बातकी याद नही तो फिर अन्य भवकी बात क्या कही जाय, पर युक्ति, अनुभव, शास्त्र, आगम ये सब यही बताते हैं कि ऐसे दु:ख पाये हैं, हम दु:खकी चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि यह समझमे आये कि देखो, हमने आज ऐसा बड़ा दुर्लभ मानव जीवन पाया तो इसे विषय कषायोमे रमकर न खोयें, मोह ममतामे न पडें। दूसरे पदार्थोकी प्रीतिमे पडकर इस जीवनको न गवाये किन्तु अपने स्वभाव परमात्माकी सुधलें, जिस के परिणाममें हम संसार संकटोसे पार हो जायेंगे।

(८४) **त्रस पर्यायके क्लेश**—हम सब हुए है एकेन्द्रिय जीव, वहांसे निकले। तो क्रम-क्रमसे वर्णन कर रहे है, ऐसा कोई नियम नही कि एकेन्द्रियसे दोइन्द्रिय हो, फिर तीन इन्द्रिय हो, कोई पञ्चेन्द्रिय भी हो सकता है, मगर क्रम क्रमसे वर्णन यो कर रहे कि यह पता हो जाय कि उससे दुर्लभ यह, उससे दुर्लभ यह, ऐसी दुर्लभ दुर्लभ कितनो पर्यायें हैं जिनको बिता बिताकर ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाया। एकेन्द्रियसे निकला तो जीव दो-इन्द्रिय हुआ। दो इन्द्रियमें भी उस जीवको क्या मिला ? केचुवा, जोक, शंख आदिकको देख लो—चावलमे सफेद लट हो जाते हैं वे दोइन्द्रिय ही तो है, उन्हे क्या मिलता है ? एकेन्द्रिय याने स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा कुछ बोध चलता था, अब जिह्वा द्वारा भी बोध चलने लगा, रसका परिचय हो गया, मिट्टी खाते है, चावलकी भुमी खाते, पर उन्हे क्या स्वाद आया ? यहां तो आप लोग हलुवा पूडीसे कमका स्वाद लेना ही नही चाहते, पर वहाँ दोइन्द्रियमे किस तरह का जीवन बितायें, वह दोइन्द्रियकी बात है। खा रहे है, आहार सज्ञा है, उसका कुछ विकल्प भी नही कर पाते, ऐसी बुरी स्थिति है दोइन्द्रियकी। वहांसे यह जीव निकला तो तीनइन्द्रिय

हुआ। तीनइन्द्रिय जीव कौन हैं ? ये चीटा चीटी आदिक तीनइन्द्रिय जीव कहलाते है। तो इनका क्या विकास हो गया ? एक नासिका इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करनेका और विकास हो गया। वे सूंघ लेते है, जहाँ शक्कर रखी हो वहाँ सूंघनेके सहारे पहुच जाते है। तो कौनसी बडी विभूति मिली ? एक गन्धका ज्ञान और हो गया तो उसका क्या सदुपयोग ? तीनइन्द्रिय से बढे तो चारइन्द्रिय हुए। मच्छर, ततैया, भंवरा, मक्खी आदिक चारइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इनको और क्या मिल गया ? आँखोसे देख लेते है, कोई अगर हाथ मारे तो वे उडकर भाग लेते है, इतनी भर सुविधा मिली आँखोके हो जानेसे। तो यह भी बहुत बडी बात है। आँखोका कितना महत्त्व है, तो मनुष्य जानते है कि जब आँखोसे नही दिखता है तो उनकी क्या दशा होती है ? वे तो यही कह बैठते हैं कि अगर आँखें नही हैं तो कुछ भी नही है। न रहें आँखें, न रहे कान, वहिरे हो जायें और भीतरमे भेदविज्ञानकी बात और आत्मस्वभाव के जाननेकी वात अगर बनती है तो भले ही रहे अंधे, भले ही रहे बहिरे, मगर वहाँ टोटा कुछ नही पडता, बल्कि आँखोसे देखते हैं सुन्दर रूप, तो इससे तो और संक्लेश होता है। तव ही तो देखो प्रकृतिने आँखोको दो ढक्कन दिये हैं। और इन्द्रियोका तो ढक्कन नही है। अगर कही नाकमे दुर्गन्ध जाने लगे तो उसे कैसे बचा सकें ? हाँ हाथसे दबा लेते है, मगर नाकको स्वयं ढक्कन नही मिला, मगर आँखोको तो ढक्कन मिला है। आँखोंको बन्द करके बैठ जावो, मुझे नही देखना है कुछ, इतनी सुविधा मिली है, मगर ये विषय कषायोंके लोभी प्राणी इस सुविधाका कहाँ उपयोग करते है ? तो चार—इन्द्रिय जीवोको आँखें मिली है। आँखोके द्वारा उन्होने कुछ देख लिया, इतना भर काम कर लेंगे, इससे अधिक वे क्या करें। मन नही मिला तो उन सब जीवोकी तरह रहेगे, कुछ विवेक न कर सकेंगे। कुछ आगे बढ़े तो असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुए। मानो पशु पक्षी हो गए तो इसमे कौन सा बडा उत्थानका काम कर लेते है ? नारकी हो गए, देव हो गए तो कौन बडे उलझनका काम कर लिया ? इन सब से भी दुर्लभ जीवन है तो हमारा मनुष्यभवका है।

(८५) मनुष्यभवकी व योग्य साधनोकी दुर्लभता — भैया ! लगता है ऐसा कि मनुष्य भवमे बडा कष्ट है, कभी भी मर जाते हैं, वियोग हो जाता है। छोटी-छोटी उम्रके बच्चे मर जाते, दादा, वावा आदिक मर जाते, वियोग हो जाता तो यह बडा कष्ट है। अरे भाई जहाँ मर जाते हैं, जहाँ वियोग हो जाता है, जहाँ इतना कष्ट है, उद्धार वहीसे हो सकता है, जहाँ कोई नही मरता याने वियोग नही होता, एक साथ मरते हैं भोगभूमिमे अथवा देवोमे कोई देवी गुजरी तो थोडी देरमे दूसरी देवी हाजिर। कोई देव गुजरा तो थोडी देरमे दूसरा देव हाजिर। वहाँ वियोग कहा भोगना पडता ? इसलिए वहांसे मुक्ति नही है। मुक्ति वहांसे है

जहाँ वियोग होता रहता है। आज हम आपने मनुष्यभव पाया है तो यहा कुछ विवेक और बढाकर चलना चाहिये। विषय कषायोमें तो सारा जीवन खोया, ऐसी संगति बनाये ऐसी स्वाध्यायकी परम्परा चलायें, ऐसी तत्त्वज्ञानकी गोष्ठी बनाये कि बराबर ऐसी प्रेरणा मिलती रहे और विषय कषायोसे दूर होते रहे, यह रहा सहा थोडा सा जो जीवन है वह इस ढगसे गुजरे तो यही एकमात्र असली बात है। बाकी तो सब बेकार बात है। तो हमने ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव पाया और उसमें भी अगर हम लब्ध अपर्याप्त मनुष्य होते तो वह तो निगोद जैसी बेकार स्थिति थी। वह नही हुए। मानो खोटी जातिमे, खोटे क्षेत्रमे, खोटे धर्मशासनमे पैदा हो गए होते तब भी हमारा क्या उठता? तो इतनी बातें जो आज हम आपको मिली हैं अच्छी जाति, अच्छा कुल, अच्छा धर्मका वातावरण अच्छी सगति, इन्द्रियां भी पुष्ट, आयु भी पर्याप्त, तो यह हम आपका एक बहुत बडा उत्थान है। मान लो कदाचित् आज तक जीवित न रहते, गर्भमे ही मर गए होते तो क्या ऐसा हो नही सकता था? पर आज तक जीवित है तो समझो कि यह देखनेके लिए जीवित है कि कैसे मेरी धर्म आराधना बने और कैसे मैं मुक्तिमें अपनेको ले जाऊँ। ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाया तो इसमे हम आपका कर्तव्य क्या है? वह कर्तव्य होना चाहिए जो दुर्लभ हो। इसे कहते है बोधिदुर्लभ।

(८९) मिथ्यात्वविनाशकी दुर्लभता—यहा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका लाभ बने तो यह हमारी उत्कृष्टता है। सम्यग्दर्शन क्या? जाननेके लिए तो अनेक कथन है, लेकिन सीधी सादी बात थोडी सी जान लें सम्यक्त्वके लिए। आखिर मेढक, गाय भैंस, बैल आदि भी सम्यग्दृष्टि हो सकते, तो वे कहाँ व्याकरण पढ़ें? कहां बहुत बहुत बातें समझें? वे तो ७ तत्त्वोके नाम भी नही बोल सकते, फिर भी सम्यक्त्व होता। तो सम्यक्त्व उत्पन्न करनेके लिए यद्यपि बहुतसे ज्ञानकी आवश्यकता नही, फिर भी पशुपक्षियोकी अपेक्षा से कुछ विशेषताकी आवश्यकता है। हम अपना पहिले ऐसा व्यावहारिक जीवन बनायें, किसी पर अन्याय न करें, अभक्ष्य पदार्थ न खायें, कभी कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुकी उपासना न करें, अपनेको एक सुरक्षित बनायें और अन्दरमे क्या देखें? उससे पहिले हम क्या चिन्तन करें कि सुदेव क्या, सद्शास्त्र क्या और सद्गुरु क्या? तो जो आत्मा रागद्वेष रहित, जन्म मरण रहित हो गया है उस आत्माको कहते है देव। देवके मायने आदर्श। मुझे क्या बनना चाहिए? ऐसा आदर्श जो चित्तमे आये उसे कहते है देव। ऐसा विशुद्ध आत्मतत्त्व। देखो जो चीज है वह चीज अकेली रह सकती है। जैसे चौकीपर कूडा जम गया तो यह कूडा अलग हो जाय और चौकी खालिस रह जाय, यह बात सम्भव है ना? तो जब मेरी सत्ता है, मै स्वयं कुछ हूं तो मेरे पर जो कूड़ा जमा है, पर सम्पर्क लगा है, यह परसम्पर्क हट

जाय और मैं केवल आत्मा ही रह जाऊँ, यह बात तो सम्भव है ना, ऐसी स्थिति कभी हो तो उसे कहते हैं देव। उसका विश्वास हो कि मुझे तो यह बनना है और ज्ञान और आनन्द की स्वच्छता यहा ही है, अन्य किसी भी पदमे, सांसारिक स्थितियोमे कोई सार नही है। इसही बातको बताने वाले शास्त्र सत्‌शास्त्र कहलाते हैं और इस ही विधि पर चलने वाले जन सद्‌गुरु कहलाते हैं उनकी सेवा उपासना हो और अपने आपमे क्या विचार हो ? सो भी सुनिये।

(८७) **अन्तः ज्ञानज्योतिविकासकी दुर्लभता**—देखो यह तो सभी जानते है कि यह देह सदा साथ न देगी। इस देहको छोडकर जाना होगा। तो यह मान लीजिये कि देह जुदी चीज है और मैं जुदी चीज हूं। यदि देह और मैं एक होता तो यह देह मुझसे कभी अलग न हो सकता था। ये भिन्न-भिन्न चीजें है, जरा सी बात देखकर ही समझ सकते हैं कि मैं इस देहसे निराला हू। अब आगे और देखो कि जो मेरेमे क्रोध, मान आदिक कषाये जगती हैं तो इन भावोके समयमे मैं कितना हैरान हो जाता हूं और कुछ समय बाद ये कषायें रहती भी नही है। तो जिन भावोसे हैरानी हुई, जो भाव रहे नही, उन भावोंको मत समझें कि ये मेरे है जो चीज विनाशीक है, वह मेरी नही, वह तो किसी की छाया है। मैं तो हू उस शुद्ध परमात्माकी तरह स्वभाव वाला। इतनी बात समझमे आये बिना सम्यक्त्व नही होता और जिन गाय, भैसा, बैल, मेढक मछली आदिकको सम्यक्त्व हो गया हो तो उनको यह स्वभाव तो समझमे आ ही गया था तब सम्यक्त्व हुआ, पर इतनी चर्चा करते नही थे, वह तो एक दृष्टिकी बात है। उनकी दृष्टिमे आत्मस्वभाव आया और उसमे ही उन्हे अहका अनुभव हुआ तब उन्हे सम्यग्दर्शन हुआ। सम्यग्दर्शनकी विधि तिर्यंचोमे और हो, मनुष्योमे और हो सो बात नही, लेकिन तिर्यञ्चोको बाहरी अटपट साधन ज्यादह नही लगे इसलिए वे पढे लिखे नही। अभक्ष्यका बोध नही होता, ऐसी स्थितिमे भी वे पार पा लेंगे, पर मनुष्य पार न पा सकेंगे। एक उस योग्य आचरण चाहिये। आखिर हमको समझना है अपना आत्मस्वभाव। मैं सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप हू। जरा सी ही तो बात बोला है, इतनी बारबार भावना बनायें घरमे या और जगह कि मैं देहसे निराला, कर्मसे न्यारा, कषायोसे न्यारा मैं एक ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ। जब ऐसा कुछ भीतरमे मनन करें तो अपने आप यह बात समझमे आयगी कि मेरा दुनियामे क्या है ? कुछ नही। तब अकिञ्चनता पूरी तरह समझमे आयगी और समझमे आयगा कि मैं किसीको पुत्र मान रहा, स्त्री, पति आदिक मान रहा, अन्य कुछ अपना समझ रहा, उस समझमे कितनी विडम्बना थी, कितना अज्ञान बसा था ? ओह इस ज्ञानमूर्ति मुझ आत्मतत्त्वका दुनियामे अणुमात्र

भी नहीं है। यह बात उसकी समझमें स्पष्ट आ गयी। पर वह जब तक गृहस्थीमे है तब तक सद्व्यवहार करता है। तो दुर्लभ क्या चीज हुई ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उससे भी दुर्लभ है सम्यक्चारित्र। याने ऐसे सहज आत्मस्वभावमें बसने के लिए इतना विरक्त हो जायें कि जिससे सहज जब चाहे बसा ही रहा करे तो उसे कहते है सम्यक्चारित्र। जिसको सम्यक्चारित्रका उदय हुआ है उसे ममता नही जगती, बाह्यवस्तुवोका संग्रह नही करता। बाह्य वस्तुवोका संग्रह करना ही यह सिद्ध करता है कि इसको उसमे ममता है। तो ऐसी एक निर्ग्रन्थ अकिञ्चन स्थितिमें रहते हुए केवल ज्ञानमात्र अतस्तत्वकी ही भावना बनी रहे ऐसी स्थिति होती है सम्यक्चारित्रमें। सम्यक्चारित्र हम परिपूर्ण नही पा सकते तो दृष्टि दें कि हम अपनी शक्तिको न छुपाकर इस चारित्र और संयमकी आराधनामें लगें। तो यह बोधिभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये दुर्लभ है।

**(८८) जीवकी सर्वोत्कृष्ट आदर्श एवं अनुकरणीय अवस्था**—अब रत्नत्रयकी उत्कृष्टता में और ऊपरकी स्थिति सोचिये—जिस भव्य पुरुषको रत्नत्रयका लाभ हुआ है उसको अधिक उत्कृष्ट स्थिति आजके कालमें तो न मिलेगी, लेकिन वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले बड़े तगड़े हृष्ट पुष्ट वलिष्ट शरीर वाले, जो बड़े बड़े परीषहोंका कुछ भान ही नही करते, यो ही सहज सहते जाते है, उनमें ऐसी क्षमता है कि बाधायें कैसी ही आयें पर वे अपनी ज्ञान आराधनासे च्युत नही होते। यहां तो एक मच्छर भी काटे तो ये सब चर्चायें एक तरफ हो जायेंगी। उसी पर ध्यान जायगा। कदाचित् न जाय और बाधाये आयेंगी तो उससे चिग जाते है। क्यों तपस्या करना बताया है ? तो समाधितंत्रमे कहा है कि बड़े आरामसे, बिना कष्ट भोगे कुछ ज्ञान पा लिया तो कोई कष्ट आनेपर वह सब ज्ञान बिदा हो जायगा। इसलिए कष्ट भोगनेका अभ्यास करना चाहिए तपश्चरण करना चाहिए कि कभी कष्ट आये तो उस कष्टके समयमे भी मैं अपने आनन्दसे विचलित न हो सकूँ। उसके लिए ये बाहरी तपश्चरण बताये गए है। तो अब इन बाहरी तपश्चरणोको करके वे मुनिराज अपने आपमे ज्ञानस्वरूपकी आराधना करके और ऊँची श्रेणी मारकर जहां विकल्प भी नही रहता, बडी समाधि रहती है, ऐसी स्थिति मे आकर वह एक शुद्ध आनन्दका भोग करता है और उसको आकुलता नही रहती है। सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव बनाये रहता है, ऐसी स्थिति उनके कुछ काल रहे तो उनका मोह मूल से क्षीण हो जाता है, फिर चारित्र मोह भी रच नही रहता। उन्हे कहते हैं क्षीण मोह। मोह मिटा कि नियमसे अन्तर्मुहूर्तमे केवलज्ञान हो जाता है, फिर वे केवली हो गए, जिनकी हम पूजा करते है ये अरहत जिनेश्वर देव सिद्ध भगवान ये इस तरहसे उत्थान पा पाकर एक परमात्मस्वरूप हुए हैं। जब तक इन सारी बातोका परिचय न होगा तो भगवानकी महत्ता भी

विदित नही हो सकती। ऐसे भगवान जिनेन्द्र यह ही उत्कृष्ट स्थिति है और जब इनके बाकी अघातिया कर्म दूर होते, शरीर भी जुदा हो जाता है, जब इसकी और उत्कृष्ट स्थिति सिद्ध भगवंतकी हो जाती है। तो हमको सिद्ध भगवत तक पहुचना है, ऐसी स्थिति पाना है, यह ध्येय इस मनुष्यभवमे बना लिया जाय तो काम बन जायगा। हम पूर्वमे निगोदमें थे, वहांसे हटकर बहुत यात्रा कर चुके है। अब कोई ऐसा दुष्कर्म न हो कि फिर बड़ी खोटी दुर्गतियोमे जाना पडे। इन सब दुर्गतियोके जाननेसे यह शिक्षा मिली।

(८९) **क्लेशका कारण विरुद्ध परिणमन**—हम आप सब लोग जब कभी संकट और दुःखकी चर्चा करते हैं तो बहुत संकट, बहुत क्लेश बताया करते हैं। जितने पुरुष हैं उतने ही मुह, उतनी ही बातें कष्टकी कही जाती हैं, किन्तु निर्णय करके आप समझ सकेंगे कि हम आपपर कोई कष्ट है मूलका तो वह है जन्ममरणका। जन्म लेते है, मरते है, फिर जन्म लेते हैं, फिर मरते हैं, यह जो हमारी परिपाटी है, उससे हम आप दुःखी हो रहे है। जन्मके समय दुःख, मरणके समय दुःख। जन्म मरणके बीच जितनी सारी जिन्दगी है उस जिन्दगीमे भी दुःख। फिर मरे, फिर जन्मे याने दुःखकी परम्परा निरन्तर बनी ही रहती है। यही हम आपके सामने बडी समस्या है। यहां तो लोग ये समस्यायें रख देते होगे कि हमारा व्यापार नही चलता, हमारी आय अच्छी नही है, हमारे घरके लोग प्रतिकूल बने हैं अथवा पुत्र कुपूत निकल गया है या और और कुछ बातें, लेकिन सत्य समझिये कि ये सारीकी सारी बातें मेरे लिए कोई समस्या नही हैं। जो होता है हो, उससे मेरेमे क्या नुक्सान होता, अच्छा चलेंगे कोई लोग तो वे अपने लिए चलेंगे, बुरे चलेगे तो वे अपने लिए चलेंगे, उनसे मेरेको क्या होता है? यह कोई समस्या नही है। समस्या है तो यही है कि जन्ममरणके हम दुःख भोगते हैं। अनेक कुयोनियोमे जन्म लेते हैं और कल्पनायें करके दुःखी होते हैं। यही सकट है हम आपपर। जैसे लोग सोचते हैं कि मेरा यह संकट मिट जाय, इसके लिए मैं सारी सम्पदा खर्च कर दूंगा मानो तबियत खराब हो गई तो सोचते हैं कि यह हमपर बडा संकट है, मै इसके लिए सारी सम्पदा लगा दूंगा। बच्चेको कोई काम कराना है, सारी सम्पत्ति लगा देंगे, यों सारी समस्या बना डालते है, लेकिन जन्ममरणका संकट ऐसा है कि इसके लिए तो ये प्राण भी देने पडें और अगर जन्ममरणका सकट मिटता है तो समझो कि मैंने बडे सस्तेमे यह संकट दूर कर दिया। अब जरा विचार करो कि ये जन्ममरणके सकट किस विधिसे मिट सकते है? तो पहिले यह समझें कि ये जन्ममरणके संकट क्यो आ रहे है? इसका कारण है उल्टा चलना। हम सीधे चलते नही, चलते है उल्टा तो बस संकट आ जाते हैं। लोग यह भी तो कहते है कि वह उल्टा उल्टा ही चलता है। माता कैसे पायें, आराम

कैसे मिले, तरक्की कैसे हो ? वह तो उल्टा ही चलता है। तो यही बात यहाँ समझिये कि मेरे जन्ममरणके संकट कैसे मिटें ? मै तो उल्टा चल रहा हू। क्या उल्टा चल रहा हूँ कि मेरा स्वरूप कुछ है, हम मानते कुछ है। जगतके पदार्थोंका स्वरूप कुछ है, हम मानते कुछ है। हमे सहज अपने स्वरूपके अनुसार रहना चाहिए, पर रहते हम उल्टे है, इसी बातको संक्षेपमे इन तीन विभागोमें बताया है—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। इन तीनोके वश होकर संसारमें जन्ममरणका दुःख उठाया जा रहा है।

(६०) **मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्रका प्रभाव**—अब मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र इन तीनोंपर विचार करे। मिथ्यादर्शन क्या है ? मिथ्यादर्शनका अर्थ है—झूठा श्रद्धान करना, अपने आपके बारेमे झूठा विश्वास बनाना। मैं हू कुछ और मानते अपनेको कुछ, बस यह ही मिथ्या श्रद्धान है। मैं हू चैतन्यस्वरूप, अन्य समस्त पदार्थों से निराला, पर माना जाता है क्या कि मैं हू यह देह। जो कुछ पोजीशन है, जो कुछ बाहरी परिस्थिति है उसरूप अपनेको माना जाता है। यह हू मै। यही हुआ मिथ्या विश्वास। देखो भ्रम बनाकर मिथ्या विश्वास बनाकर कोई लोकमे भी तरक्की नही कर सकता। आत्माकी उन्नति तो पायगा कैसे ? अपने बारेमे कैसा मिथ्या विश्वास लगा है कि मैं अमुक गाँवका हूं, अमुक परिवार वाला हूं, अमुक जातिका हूँ, अमुक पोजीशनका हूं, व्यापारी हू, सर्विस वाला हूं, और और प्रकारकी कितनी ही बातें मानते—मैं पुत्रो वाला हूं, मै बलवान हूं, दुर्बल हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, निर्धन हूं, धनी हूं, काला हूँ, गोरा हू आदिक कितनी ही तरहकी अपने आपमे यह कल्पनायें उठाता है यह है एक शुद्ध ज्ञानमात्र, केवल जानन, यही स्वभाव है, पर लोग मान रहे अपनेको कितना उल्टा। बस इस मिथ्यात्वके कारण हम ससारमे रुलते है। एक बात और भी सोच लो—आखिर हम सब लोग भगवतस्वरूप है। भगवान जैसा स्वभाव रखते है, इसीलिए ऐश्वर्यरूप है। कोई हँसी ठट्ठा नही है। जब हम इतने बडे है, ईश्वर स्वरूप है तो जो हम चाहे वैसा न हो ऐसा नही हो सकता। जो चाहते हैं सो होता है। आप सोच रहे होगे कि बडी अच्छी बात है कि हम बडे है, ईश्वरस्वरूप है, हम जो चाहते सो होता है, ठीक है। देखो हम देह चाहते है तो देह मिलते रहते हैं। है ना खूबी। हम शरीर चाहते है, शरीरमे प्रीति करते है, शरीरमे मोह बसाते है, शरीरको मैं हू ऐसा मानते है तो फिर ये शरीर दनादन मिलते चले जायेंगे। देखिये जैसे लोग कहते है कि एक बड़े बर्तनकी खुर्चन भी एक दो आदमियोका पेट भर देती है, तो मैं बडे ऐश्वर्य वाला हू तो देखो यहाँ भी ऐश्वर्य चमक रहा है। जो देहको मानता हो कि यह मै हू, तो देह बराबर मिलते रहते हैं। हाँ विवेक यह करना है कि यह देहका मिलना भला नही है, वह तो जन्ममरणको

बात है। यह तो संकट है। जब यह देह न चाहे, देहसे उपेक्षा करें तो वैसा भी हो जायगा। तो विवेक करना है, कठिनाई कुछ नही है। कैसे उद्धार होगा ? इसमे मुश्किल जरा भी नही है। एक अपनी दृष्टि पलटनेकी जरूरत है। जैसा हम चाहेगे, जैसी हमारी दृष्टि होगी वैसा काम बन जायगा, इसमे कोई संदेह नही। तो हम देहको चाहते है, देहको मैं हूं ऐसा मानते है तो ये देह मिलते रहते है। यही तो कहलायी जन्म मरणकी परिपाटी। तो यह परिपाटी क्यो बनी ? मिथ्याश्रद्धानसे, मिथ्यात्वभावसे और भी देखो कैसे कैसे मिथ्यात्व लग रहे हैं। शरीर तो भिन्न वस्तु है। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप-भिन्न वस्तु हूं। यदि शरीर उत्पन्न हुआ याने जन्म हुआ तो यह मानता है कि मैं ही उत्पन्न हो गया। शरीर न था, वे बिखरी वर्गणायें थी, शरीर बनने लगे तो यह मोही मानता है कि मैं बनने लगा हू। मैं उत्पन्न हो गया हूं और जब शरीर मिटता है तो यह मोही मानता है कि मैं मिट गया हूं। यह है इस का मिथ्या विश्वास। जहां उल्टी चाल चल रहा हो, भीतरमे श्रद्धा ही उल्टी बना रखी हो तो उसके ऊपर जो भी क्रियाकाण्ड चलेंगे वे सब मिथ्या चलेंगे। नीचे औंधी डेगची रखें तो जितनी डेगची उसपर रखी जायेंगी वे सब औंधी रखी जा सकेंगी। उस पर सीधी डेगची नहीं रखी जा सकती। जब मिथ्या विश्वास है तो हमारी जो क्रियायें होगी वे भी मिथ्या होगी। ऐसा मिथ्यात्वमे लग रहे है तो जन्म मरण मिल रहे हैं।

**(९१) सप्ततत्त्वविषयक अमिथ्याद्धान हटाकर सम्यक् श्रद्धान करनेका कर्तव्य**— देखो जब भला होनेको होगा तो ज्ञानप्रकाश तो मानना ही होगा। अधेरा तो मिटाना ही होगा। ऐसा अपना दृढ निर्णय बनाना ही होगा कि मेरे आत्माका तो मेरा चैतन्यस्वरूप मात्र है और कुछ नही है। वह बात यदि अभी बना लें इसी भवमे तो हमारा क्या बिगाड है ? अभीसे मुक्तिमार्ग मिल जायगा। अभीसे शान्ति मिलने लगेगी। अभीसे हमें सन्मार्ग मिल जायगा, इसके लिए देर करना अच्छी बात नही है। सत्य निर्णय बना लें, सत्य विश्वास बना लें, अन्यथा ससारमे जन्म मरण ही करते रहना पडेगा। इसके मिथ्यात्वकी दशायें देखो कैसा उल्टा उल्टा मान रहा है। बाहरी वस्तुवें हमे न सुख देती न दुःख देती, वे तो अपनी सत्तासे अपने आपमे पडी हुई है, लेकिन यह मोही मानता है कि मुझे अमुक सुख देता है, अमुक दुःख देता है और भीतरमे यह वासना बनाये हैं कि यह प्रेम यह राग बडा सुखदायी है। जो दुःखका कारण हैं उन्ही कषायोको यह सुखदायी मानता है। जब क्रोध आता है तो क्रोध करते हुएमे यह मौज मानता है। दुःखी थोडे ही होते हैं कि हाय क्या करें ? मेरे को क्रोध आ गया। वह तो क्रोधको अपना स्वरूप समझता है और क्रोधमे कभी कमी आये तो उसको और तेज करना चाहता है। उसको अपना जीवन समझता है।

तो जो विकार कषायें हमे दुःख देने वाली है उन ही विकार और कषायोको सुखदायी मानता है ? यह मिथ्या विश्वास है ना तो कैसे पूरा पडेगा ? इसके साथ ही यह भी देख लो कि जो वास्तवमे हितकारी है उसे दुःखदायी समझता है । जैसे गुरुजनोंका सत्सग, शास्त्र-स्वाध्याय, प्रभुभक्ति, पूजन आदिकमे शामिल होना, कुछ समय अपनेको बाहरी मोह चिन्त से हटाकर कुछ धर्मध्यानमे लगाना, यह कुछ हितकारी है । पर इसमे प्रीति नही जगती । जिनके जगती है । उनका भला हो रहा है और देखिये—भीतरमे ज्ञान और वैराग्य वास्तव मे ये ही हितकारी है, सही ज्ञान जग जाय और बाह्यपदार्थोंसे विषयोसे राग हट जाय, यह है हितकी चीज, लेकिन इसको दुःखदायी मानते हैं । तो ऐसा मिथ्या श्रद्धान है उसका फल यही है कि जन्मते है और मरते हैं । किसी पुरुषने एक बार यह शका की थी कि जैसे गेहूके दानोसे गेहू ही तो पैदा होता, ऐसा ही मनुष्य कोई मरेगा तो मनुष्य ही तो बनेगा, फिर क्या हर्ज है— अधिक धर्म करनेकी । मनुष्य है, मरेगा तो मनुष्य बन जायगा, फिर मनुष्यकी बात मिलने लगेगी । घबडाहटकी बात तो तब है जब हम कीडा बन जायें, पेड पौधे बन जायें, सो ऐसा कैसे होगा ? चनेसे चने ही तो होते है, तो मनुष्य मर गया तो मनुष्य ही तो बनेगा । एकने यह शंकाकी थी । इस सम्बन्धमें जरा विचार करें । शंकाका जो अभिप्राय है वह तो यही था था कि गेहूंसे गेहूं बनता, तो यह ही बात यहाँ भी है । मनुष्य शरीरसे, मनुष्यके रजबीर्यसे मनुष्य बनेगा, इसमे शंका नही आती लेकिन जीवकी बात क्यो लगाते कि जो जीव मनुष्यगतिमे है वह मनुष्यगतिमें पैदा होगा,

देहकी बात देहमे लगावो, उसका हम विरोध कहाँ करते । गेहूँसे गेहूँ देह बनेगा, मनुष्य से मनुष्य देह बनेगा, पर जीवकी बात बीचमे क्यों लगाया ? उसकी सृष्टि तो भावोंके अनुसार है । जैसा भाव करेगा वैसी बात पायेगा । तो एक तो जन्म मरण और फिर उसमे विश्वास भी नही कि मरकर क्या बनेंगे । तो है ना बडा भारी संकट ? अगर १०-५ वर्ष अच्छी तरह जी लिया तो इतना जीनेसे क्या पूरा पडता ? इतनी तो अनन्तकालकी यात्रा धरी है, वह यात्रा सही होनी चाहिए । मिथ्या श्रद्धान है इस कारण जीवको जन्म मरणके संकट सहने पडते है । मिथ्या विश्वासकी ही तो बात है । बताओ इच्छा करनेसे दुःख होता है कि आनन्द ? सब सोच लेते हैं कि जब इच्छायें करते हैं तब बडी बेचैनी होती है । सोच लो जरा जरासी इच्छा । आपको यह इच्छा हुई कि आज तो हमे पापड खाना चाहिए तो देखो—आप को तुरन्त आकुलता होती कि नही ? बच्चीसे कहलवाते कि मांसे कह दे कि आज पापड़ बनावे, अगर कोई सामान न हुआ तो उसे भी लाते, यो अनेक खटपट करनी पडती हैं । लगता तो यो है कि इसमे तो कोई खटपट नही करनी पड़ रही, घरमे सब प्रकारकी सुविधा है, लेकिन

किसी चीजकी इच्छा जग जाय तो नियमसे क्लेश होगा। उसी समय क्लेश होगा। क्यो क्लेश होता है? देखो—जिस समय इच्छा है उस समय वह चीज मिली हुई है क्या? अगर मिली होती तो इच्छा क्यो बनती? इतना तो निश्चित है कि जब हम जिस चीजकी इच्छा करते है उस समय वह चीज हमारे पास नही है, और जब नही है तब उसकी प्रतीक्षा करते, घूमते, तो आकुलता है कि नही? तो इच्छा प्रकट आकुलता है लेकिन लोग उन आकुलतावोसे ही अपनी महत्ता मानते हैं। अपना सुख मानते हैं। तो ऐसे मिथ्या श्रद्धान जब किये जा रहे है तो इनका मूल सकट कैसे दूर हो सकता है? एक बात और खास समझ लीजिये——हर एक कोई किसी न किसी बातको बडा समझकर उसकी बाट हेरता रहता है यह रोज की पद्धति है। जिसमे जिसने नफा समझा, जिसमे अपना हित समझा उसकी बाट जोहते कि नही? जिससे प्रीति लगी हो उसकी बाट जोहते ना? तो बाट जोहनेका सबमे माद्दा पडा हुआ है। अब सोच लो कि हम किसकी बाट जोहा करते है? फर्मकी, पुत्रकी, पुत्रीके विवाह आदिककी। तो ये सारी बाट जोहा इस जीवने, मगर एक मोक्षकी बाट नही जोहा। कब वह समय आये कि मैं कर्म और शरीरसे अलग रहकर एक केवल निज स्वरूपमात्र रहू, यह बाट नही जोहा, उल्टी बाट जोहा, तब इसके उल्टे ही तो काम होगे। तो ऐसी मिथ्या धारणा बनाया है इस जीवने।

(९२) **सम्यक्त्वकी संसारतरणमे कर्णधाररूपता**—और ऐसे ही विश्वासके साथ ज्ञान भी नच रहा है, उसके अनुकूल तो ससारके संकट आयेंगे ही। अगर सकट न चाहिए तो मिथ्या श्रद्धान छोड दीजिये। जब तक मिथ्याविश्वास लगा है तब तक हमारी जो गाडी चलेगी वह उल्टी चलेगी। देखो नाव खेने वाले मल्लाह चाहे कितने ही लोग नावको खेते रहे, मगर उन सबकी चोटी एक कर्णधारके हाथमे रहती है। कर्णधार वह कहा जाता है जो नावके पीछे एक डडेमे सूप जैसा लगा रहता है उसे घुमाता है। वह जिस दिशाकी ओर मोड देता है नाव उस ही ओर बहने लगती है। चलाने वाले लोग तो नावको तेजीसे चलाते रहते है पर नाव किस दिशामे चले यह उस कर्णधारकी करतूत पर निर्भर करता है, तो इसी तरह समझ लीजिये कि हमारा श्रद्धान जिस ढगका होगा बस वैसी ही हमारी दिशा बन जायगी फिर चाहे क्रियायें कितनी ही तेज कर डालें। तो हमे मिथ्या श्रद्धानसे हटना चाहिए जिसके बलपर मिथ्या चारित्र चलता है। सो मिथ्याचारित्र ने प्राय: सब जीवोके बिना सिखाये मिथ्याचारित्र लग रहा है। कौन कह रहा है कि हिंसा करो, झूठ बोलो, चोरी करो, व्यभिचार करो, उनमे लालसा बनाये रहो? ये कोई पाठशालामे सिखाये जाते है क्या? अरे ये सब तो अपने आप ही लोग करने लगते हैं। तो यह मिथ्याचारित्र ही तो है. कुछ सिखा सिखाया

भी मिथ्याचारित्र बनता है। जिनकी कुछ पाठशालायें है, कुदेव मानो, कुशास्त्र मानो, कुगुरु मानो बड़े बड़े शास्त्र रचे जाते है, बडा डर दिखाया जाता है कि देखो अगर तुम इसे न मानोगे तो काफिर कहलावोगे, नरकमे जावोगे। सब तरहसे अपना मोर्चा बनाया जाता है कि ये गृहीत मिथ्यात्वमे बने रहे। तो यह मिथ्या चारित्र या गृहीत श्रद्धान कैसे लगा? जब अपने आपको अपनी सुध न रही तो जिसने जैसा समझाया वैसा चल बैठते हैं। जैसे बच्चों को कहां अधिक अकल होती है? कोई कहे कि रे बच्चे देख तेरा कान कौवा ले गया तो वह बच्चा उस कौवेके पीछे भागेगा। उसे यह बुद्धि न जगेगी कि मैं जल्दी ही अपने कानोंको टटोल लूं और व्यर्थकी भाग दौड बंद कर लू। तो ठीक इसी तरह इन मोही जीवोको अपने आपमें अकल नही होती है, क्योकि उन्हे सत्यका श्रद्धान ही नही हुआ। जिसने जैसा बहका-दिया वैसा बह जाते है। तो यह जीव मिथ्यात्वी बना है, विषयोमे इसकी प्रवृत्ति है, यही कारण है कि इसके जन्म मरणके संकटकी परम्परा बराबर बनी रहती है। अगर जंच गया हो कि सत्व है, मेरे पर और कोई संकट नही है, सारे संकट तो एक कल्पनाकी बात है, मान लेनेकी बात है, है नही कोई संकट। कोई मान ले सकट तो इसका क्या इलाज जैसे कोई एक पागल किसी कुवें पर बैठा हुआ था। वहाँ सडकसे अनेक लोगोका आना जाना चल रहा था। वहां कोई मुसाफिर अपनी मोटर खडी करके पानी पीने लगे, फिर पानी पीकर वे चले गए, पर वहां बैठा हुआ वह पागल यह मानकर दुःखी होता है कि हाय मेरी मोटर चली गई। अरे कहां थी उसकी मोटर? पर उसने कल्पना ऐसी बनाया कि यह मेरी मोटर है तो उसके पीछे वह दु.खी हो गया, ठीक इसी तरह ये जगतके प्राणी अपनी सड़क से, अपने मार्गसे या अपनी-अपनी गतिसे आते हैं, एक स्थानपर कुछ समयके लिए इकट्ठे हो जाते हैं, बादमे वे अपनी-अपनी करनीके अनुसार भिन्न-भिन्न गतियोमे चले जाते है, पर वहाँ रहने वाला वह मोही, अज्ञानी, पागल प्राणी मानता है कि अरे मेरा अमुक चला गया, हाय अब क्या होगा? यो वह दुःखी होता है। तो इस दुःखका मूल कारण है झूठा श्रद्धान, झूठा विश्वास।

**(९३) आत्महितके लिये मिथ्याभावके निवारणकी अनिवार्यता**—आत्महितके लिये झूठे श्रद्धानको मेटना होगा। यह कैसे मिटेगा? एक निजदृष्टिसे ये ध्वस्त हो जायेंगे। जैसे ईंधनके बहुत बड़े ढेरको जला देनेका साधन अग्निकी एक कणिका है, इसी तरह बड़े-बड़े संकटों को, विकारोको मिटा देनेमे समर्थ एक सम्यक्त्व कणिका है। सच्चा विश्वास बने, अपने आप के स्वभावका अनुभव हो तो स्वभावमे मग्नता बनेगी। सारे संकट अपने आप दूर हो जायेंगे। तो एक बात यह ध्यानमे लाना है कि मेरे पर जन्म मरणका संकट है, और कोई सकट नही।

इतना जब मान लेंगे तो इस जिन्दगीमे आपके बहुतसे क्लेश स्वय मिट जायेंगे। नुक्सान हो गया तो होने दो, यह कोई संकट नही है। कोई गुजर गया तो यह कोई सकट नही है। क्या माना जाता है सकट दुनियामे ? सारेके सारे भी संकट दुनिया भरके आ जायें तो भी यह ज्ञानी समझ रहा है कि क्या हुआ ? हो रहा है, यह तो कोई संकट ही नही। संकट है तो एक मात्र यह ही है कि हम जन्म मरणके चक्रमे लग रहे हैं। उसके मेटनेका उपाय है 'निजको निज परको पर जान, फिर दु खका नहि लेश निदान।' देखो भाई! जैसी बात है वैसा समझनेमे कुछ नुक्सान है क्या ? नुक्सान हो या न हो। बात जैसी है वैसी समझमे तो आ ही जाती है। आना पड़ेगा ना, ठीक समझ लो– मेरा आत्मा केवल मै ही तो हूँ मैं आगे कुछ तो नही हूँ। आगेके रहने वाले पदार्थ वे सब पर ही तो हैं, वे मुझमे तो नही आये है। है ना विल्कुल सही बात। निज निज ही है, पर पर ही है। मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा निज ही हूँ। जिसे कहते हैं दो टूक हो गए। कभी जुड ही नही सकते, कभी एक नही हो सकते, ऐसे विल्कुल न्यारे है मैं और देह। मैं और यह सारा परिकर चेतन अचेतन। वह चेतन है ऐसा मान लीजिए, इसमे लाभ ही है, हानिका तो नाम ही नही है। तो यथार्थ श्रद्धान, यथार्थ ज्ञान और इस ही अनुरूप अपना आचरण हो तो ये जन्म मरणके संकट दूर कर सकेंगे। बस दो ही निर्णय बनाये रहे, संकट मेरे पर कुछ नही। जन्म मरणका संकट, इसके मेटनेका उपाय है–'निजको निज परको पर जान।' दूसरा कोई उपाय नही सकता। तो जहां तक दो ही बातें हैं, अधिक कुछ बात ही नही तो वहाँ फिर इनके करनेमे कौनसी असुविधा है ? इसके लिए चाहिए कुछ सत्संग और शास्त्राभ्यास। इनमे अपना श्रम कीजिए। थोडा समय बढ़ावो, खूब अध्ययन कीजिए तो ये ही शान्तिके कारण बन सकेंगे, बाहरी समागम हमारी शान्तिके कारण न बन सकेंगे।

(९४) **शरण्य अन्तस्तत्त्वकी अगवानी**—मेरा शरण मेरेमे अनादि अनन्त अन्तः प्रकाशमात्र चित्स्वभाव हो इसका ध्यान बनाये बिना एक क्षण भी न व्यतीत हो ऐसा अपने चित्तमे निर्णय रखना चाहिए, और अपने आपका भान करते हुए, बाह्य पदार्थोंसे उपेक्षा रखते हुए अपने आपकी दुनियामे, अपने आपके उद्यानमे बिहार करके प्रसन्न रहनेका पौरुष करना चाहिए। जहां बाहर देखा, अपने आपके स्वभावसे च्युत होकर बाहर झांका कि विपत्ति ही विपत्ति नजर आती है, जैसे सावनके महीनेमे मूसलाधार वर्षा हो रही हो, बिजली तडक रही हो, ऐसे समयमे यदि छोटी सी कोठरी मिल जाय और उसमे मनुष्य पहुंच जाये तो वह मनुष्य बाहर झांकना भी नही चाहता है। निकलनेकी बात तो दूर रही। वह अपनी उस कोठीमे रहता हुआ अपनेको सुरक्षित मानता रहता है इसी तरह इस आत्मकोठरीसे बाहर बडी-बडी विपत्तियां हैं, सकट हैं, कष्टकी वर्षायें हो रही हैं, इस ससारमे सर्वत्र कष्ट ही कष्ट

भरे पड़े है, यहाँ यदि अपने आपकी कोठरी मिल जाय, अपने आपका यह ज्ञानसे रचा हुआ ज्ञानस्वरूप, ज्ञानका ही वातावरण, ज्ञानमय इस अंतस्तत्त्वमें प्रयोग्य रहता हो, प्रतीति हो तो यह ज्ञानी जीव बाहर ढूकना नही चाहता, बाहर निकलना नही चाहता। अपने अतुल आनंद को यही भोगता हुआ रहता है। बाह्यके सत् पदार्थ सारहीन है, यह बात थोडा पढ़े लिखे भी जान सकते है, अधिक पढ़े-लिखे भी जान सकते है। सूक्ष्म अंतस्तत्त्वका जिसने भान किया वह भी जान सकता है। जाननेकी सबके अंदर जरूरत है, पर मोटे रूपमे सब कह सकते कि बाहरी पदार्थोंका संगम सारहीन है। संगम क्या सारहीन है ? बाह्य पदार्थोंके विषयमें उनका विकल्प करके जो विकल्प बनाया करते है वे है सारहीन। बाहरी पदार्थ तो जो जैसे है वे है ही, वे खुदके अपने लिए तो सारभूत है ही। कौन पदार्थ असार है ? वे अपने लिए सारसहित ही है, पर मेरे लिए सारभूत नही है। मेरे लिए सार तो मेरा यह विज्ञानैकरस यह विज्ञानघन सारभूत है। इसकी दृष्टि प्राप्त हो इसके लिए पौरुष होना चाहिए।

(९५) **स्वभावदृष्टिके लिये नयोंका सहयोग**--अब देखिये—इसकी दृष्टि प्राप्त करनेमे सभी नय मदद करते है। नयका काम है ले जाना कल्याणकी ओर, आत्मस्वभावकी ओर। जहां निश्चयदृष्टिका प्रयोग करके एक वस्तुको एकमे ही निरखकर, अन्य पदार्थोंका भान छोड़कर, केवल एकको ही देखकर एक ही आश्रय रहा, अतएव वह समतामे आता है और स्वभावकी ओर सुगमतासे उन्मुख हो जाता है, वहां व्यवहारनय यह बताता है कि ये जो विकार हुए ये पौद्गलिक हैं, पुद्गलकर्मसे निष्पन्न हैं अर्थात् पुद्गलकर्म विपाक सन्निधानमे ये विकार बनते, तो ये विकार उसके खातेमे जायेंगे। मेरे स्वरूपमें मन आयें। मेरा स्वरूप तो इन विकारोंसे निराला है। जिसे पूज्यश्री अमृतचन्द्राचार्यने खुलासा करके बताया है कि नाना प्रकारका जो यह औदयिक भाव है, उदयविकारके जितने भी भाव है वे भाव मेरे नही हैं, मैं तो एक ज्ञानस्वभावी हूँ। तो व्यवहारनयके प्रयोगसे भी उसका उपयोग स्वभावदृष्टिके अर्थ लगाया जायगा तो यह लगेगा और इसीलिए समयसारमे स्थल स्थलपर कही निश्चयनयके परिचयसे स्वभावदृष्टि कराया तो कही व्यवहारनयके माध्यमसे बोध करा कर स्वभावदृष्टि कराया। नयका उपयोग करनेकी कला चाहिए। हम स्वभावदृष्टि प्राप्त करें ऐसा हमारा दृढ सकल्प चाहिए, फिर हम किसी भी वचनप्रयोगसे अपने आपके लक्ष्यमें उतर सकते है। समयसारका दर्शन तो पक्षसे रहित होनेपर होता है, जिसे कहते हैं अनुभव। व्यवहारनयसे समझा, उससे सार क्या निकला ? यह ही स्वभावदर्शन। निश्चयनयसे समझा तो वहाँ सार निकला यही स्वभावदर्शन। विधि जुदी-जुदी है, पर प्रयोजन सब नयोका यह बनावें कि मुझे विभावो से हटकर स्वभावमे आना है। जब तक व्यवहारनयका भी विकल्प है और निश्चयनयका भी

विकल्प है तब तक समयसारके दर्शन नही होते अर्थात् अनुभव नही होता। देखो जैसे पहरेदारका काम है कि दर्शनार्थीको वहां तक ले जाय जहांसे राजाका दर्शन हो, फिर पहरेदार लौट आता है, अब आप राजाके पास जावें और मिलें स्वतन्त्रतासे। इसी तरहसे यह नय व्यवहारनय कुछ दूर तक पहुंचाये, उसके आगे निश्चयनयके पहरेदारने पहुचाया, पर कहाँ तक पहुंचाया जहांसे इस उपयोगको भगवान आत्मतत्त्वके दर्शन हो सकते हैं। वहाँ यह निश्चयनय भी कहता है कि अब आप जावो और अकेले मिलो प्रभुराजासे। हमारा काम यहां तक पहुंचानेका था सो पहुचा दिया, निश्चयनयमे एक निश्चयनयके विकल्प द्वारा एक इस स्थिति तक पहुचे कि जहां तक हमे बोध हो, प्रतिभास हो कि यह है अंतस्तत्त्व, लेकिन उससे मिलनेके लिए उसका अनुभव पानेके लिए विकल्प न जगे। उस विकल्पसे हटकर केवल एक ज्ञानपरिणतिमे ही रहकर उसका अनुभव पाया जायगा, तब वह निश्चयनय भी अलग हट गया। समयसार पाया कब ? दोनो पक्षोसे च्युत हुए तब हमने साक्षात् ज्ञानका अनुभव कर पाया, ऐसा तत्त्व प्रमाण, नय सबसे अतीत है लेकिन जब तक इसमे प्रवेश नही है तब तक प्रमाणनय निक्षेपका हम आलम्बन करते हैं, उसके सहारेसे उसकी जानकारी बनाते हैं और व्यवहारमे हम एक ऐसी विधि बनाते है कि जिससे हम पात्र रहे उस ज्ञानस्वभाव अंतस्तत्त्वके दर्शनके।

(९६) ज्ञानीका ज्ञानयात्राका मूल लक्ष्य—देखो कहां जाना है हमको ? हम मायने उपयोग। जाने वाला तो यह उपयोग है। और जो ज्ञानस्वभाव है वह जाने वाला नही है, वह तो वही स्थिर रहने वाला है। उपयोग जाने वाला है। तो इस उपयोगसे हम इस स्थायी ध्रुव तत्त्वकी ओर आयें, तो उपयोग भी स्थायी बन सकेगा, स्थायी चीजोको उपयोगमें लें तो स्थायी उपयोग रह सकता है। कभी सिद्ध होगा तो वहाँ भी उपयोग स्थायी नही रहेगा, लेकिन समान समान उपयोग बना रहेगा। भगवानका भी उपयोग प्रतिसमयमे भिन्न-भिन्न है, लेकिन समान है इस कारण उसे स्थिर कहते हैं, क्योकि इस स्थिर तत्त्वपर उपयोग हो तो उपयोगकी वर्तना समान-समान रह सकेगी। स्वभावका उपयोग करके वह उपयोग स्थिर रह सकता, परतु परपदार्थोको, परभावोको विषय करके वह उपयोग स्थिर नही रह सकता। तो अस्थायी तत्त्वोको छोड़ें। जैसे जो चलने वाला मुसाफिर है वह रास्तेके सभी वृक्षोको छोड़ने वाला है, अध्रुव है, निकल जाता है, इसी तरह हम अपने उपयोगको यात्रामे चलते नही हैं, मगर जो भिन्न तत्त्व हैं उनका समागम होता है, उनकी उपेक्षा करें, उनको न पकड़ें और अपने लक्ष्यपर जावें। जैसे किसीको बम्बई जाना है तो रास्तेमे अनेक स्टेशन मिलते है, उन स्टेशनोको देखते हैं, और प्रयोजनवश किसी स्टेशनपर उतरते भी हैं, लेकिन

समझते है कि हमको तो यहाँ जरासी देर रुकना है, वह थोडी देरको स्टेशनपर उतरता भी है और समयके भीतर फिर गाडीपर सवार हो जाना है स्टेशनोंकी शोभा भी देखता है, मगर किसी जगहकी बडी शोभा देखकर वह उतर तो नही जाता। भले ही प्रयोजनवश वह देखता है, लेकिन अपने लक्ष्यकी धुन उसे बराबर बनी हुई है। ठीक इसी तरह हमें कहाँ जाना है ? बस इस निर्विकल्प शुद्ध सहज ज्ञानस्वभावमे इस तरह जाना है कि पर्याय स्वभावके अनुरूप हो जाय। स्वभावके समान पर्याय हो इसीके मायने मोक्ष हैं। हमे उस तत्त्व तक जाना है तो उस यात्रामें जाते हुए बीचमें अनेक स्टेशन मिलते है, कुछ ऐसा है कि जिसमे कुछ प्रयोजन भी है—जैसे अन्याय न करना, अभक्ष्य भक्षण न करना, कुछ संयमसे रहना। ये बीचमे आते है, उन्हे प्रयोजनवश करना पडता है, लेकिन वह जानता है कि करें तो सही लेकिन यही न अटक जायें। तो अपनी इस ज्ञानयात्रामे विघ्न न आये, प्रयोजनवश सब करना पडता है, और इसके बिना आगे बढ़ नही पाता। जैसे कोई भूखे रहते हुए तो नहीं बम्बई जाता, वह तो रास्तेमें कुछ नाश्ता पानी करता है, खाता है और इस तरहसे वह अपने लक्ष्य पर पहुच जाता है। तो ऐसे ही यहाँ हम आपको अपनी जीवनयात्रामे प्रयोजनवश करना पड़ता है सब कुछ, पर अपनी दृष्टि रहे मूल लक्ष्यपर।

(९७) **ज्ञानद्वारा ज्ञानके ज्ञान करनेके पौरुषमें निर्विघ्नताका अवसर**— देखिये—अन्तस्तत्त्वविषयक ज्ञान करें, अपना लक्ष्य करें तो इसमे विघ्न डालने वाला कोई नही है। जैसे एक एक्सरा यंत्र होता है, वह शरीरमे पाये जाने वाले चाम, खून, मांस-मज्जा आदि किसी चीजमे न अटककर मात्र हड्डीका फोटो ले लेता है, कोई भी चीज आड़े नही पडती, ठीक इसी प्रकारसे हमारा यह ज्ञानरूपी यंत्र अगर अपने ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यमे चले तो बीच मे कितनी ही चीजें मिलती हैं, मगर अटकता कही नही। शरीर है तो वहाँ अटकेगा क्या ? नही। कषायें है वहाँ अटकेगा ? नही। इच्छायें है, विकल्प हैं, विचार हैं, वहाँ अटकेगा नही। कुछ भी परिणमन हो वहाँ न अटकेगा। वह उन सबको पार करके अन्त ज्ञायकस्वभावके दर्शन करेगा। यहाँ भी देखो—जरा किसीका ख्याल करते हो तो रास्तेमे कितने ही मकान मिलते, भीत मिलती, पहाड़ मिलते, जंगल मिलते, लेकिन वह ज्ञान कही अटकता तो नही है। व्याकरण जानने वाले लोग जानते है कि जो धातु जानेका अर्थ बताती है वही धातु जाननेका भी अर्थ बताती है। तो ज्ञानको समझनेके लिए उसमे कही जानेकी, विहारकी आवश्यकता नही होती है, फिर भी जानेका व्यवहार होता है। जिसको हम व्यापक समझते हैं। यह ज्ञान बड़ा व्यापक है, कैसे व्यापक है कि अपने ही प्रदेशमे रहते हुए लोकालोक व्यापक बन जाता है। कैसा विरोधाभास है ? कैसे लोकाकाशमे फैल जाता और कैसे अपने प्रदेशमे रहता ? ये दोनो एक साथ कैसे हो रहे हैं ? हो रहे हैं। वह व्यापकपना इसी ढगका है।

अपने आपके प्रदेशोमे रहते हुए ज्ञान सर्व व्यापक बन रहा है। समस्त लोक ज्ञेय हो रहा। ठीक है, इसी प्रयोजनका होना ही चाहिये, क्योकि दुनियामे जितने पदार्थ है उन सबसे सूक्ष्म तत्त्व है ज्ञान। इसलिए इसमे यह हो गया तो कुछ आश्चर्यकी बात नही है।

(६८) **ज्ञानकी सूक्ष्मता और सर्वव्यापकता**—ज्ञानकी व्यापकता समझनेके लिये एक प्रश्न रखते कि बताओ स्थूल अधिक व्यापक होता है कि सूक्ष्म अधिक व्यापक होता है ? तो साधारणतया लोग यह बैठेंगे कि देखो—स्थूलमे सूक्ष्म समा जायगा, इसलिए स्थूल अधिक व्यापक हुआ। लेकिन बात ऐसी नही है। सूक्ष्ममे स्थूल समा जाता है। इसे समझनेके लिए व्यावहारिक उदाहरण ले लो—यह मध्यलोककी दुनिया, यह पृथ्वी पानीसे घिरी हुई है ना ? हाँ घिरी हुई है यह तो सभी लोग जानते हैं। अब बताओ पानी पतला है कि पृथ्वी ? पानी पतला है। तो पानी व्यापक है, पृथ्वी व्यापक नही। जैनसिद्धान्तके अनुसार भी देख लो—मध्यलोककी पृथ्वी जम्बू द्वीप एक लाख योजनका है और उसे घेर कर जो लवण समुद्र है वह एक तरफ दूना फिर दूसरी तरफ दूना और फिर घेरा कितना बडा हो गया ? उस समुद्रके बाद दूसरा द्वीप दूना है, फिर उससे दूना समुद्र है। इस तरह द्वीप और समुद्र और और भी आगे बढते गए, आखिरमे सबसे अन्तमे है स्वयभूरमण समुद्र। स्वयंभूरमण समुद्रका जितना विस्तार है उतना विस्तार सब द्वीप समुद्रोको मिलाकर भी नही है। तो देखो पृथ्वीसे जल सूक्ष्म है। वह व्यापक है। और जल और हवामे व्यापक कौन है ? जलसे हवा सूक्ष्म है तो जलसे भी व्यापक हवा है। हवासे सूक्ष्म है आकाश। इस आकाशके अन्दर यह सारी हवा भरी है। अब बताओ इस आकाशसे भी बढकर और कोई व्यापक चीज है कि नही ? है। क्या ?... ज्ञान। यह ज्ञान इतना व्यापक है कि इसमे चाहे कितने ही ऐसे ऐसे लोक समा जायें फिर भी कम है। देख लो इस ज्ञानकी सूक्ष्मता। तो सूक्ष्ममे स्थूल समा जाता है अतः स्थूलसे सूक्ष्म अधिक व्यापक है। इस ज्ञानकी बडी महत्ता है। ज्ञान ही एक सारभूत तत्त्व है, लेकिन उसका उपयोग नही करते। उपयोग करते हैं रागद्वेष मोहका, विकल्पोका। सब खारा खारा ही स्वाद लेते है, अपने आपके ज्ञानामृतका पान नही करते।

(६९) **सुविधाकी दशामे भी चूक**—देखो भैया ! कैसी दयनीय दशा बन रही है कि अपना परमात्मस्वरूप अपने अन्त विराजमान है, जिसके प्रसादमे अनन्तकालके लिए संकट छूट सकेंगे, उसके लिए तो अपना जीवन नही मानते और जीवन मानते हैं विषके लिए, मैनके लिए, धनके लिए। सब कुछ अपना न्योछावर करनेको तैयार है परिजनोके लिए। अभी घरका कोई बालक बीमार हो जाय तो चाहे घरका सब जायदाद खतम करके कर्ज भी लेना पडे उसके पीछे लगानेको तैयार रहते हैं। तो लोगोने अपना जीवन किसके लिए माना ? मोह ममताके लिए, धन वैभव कमानेके लिए, तो भला बतलाओ इससे बढकर भूल

और क्या है ? सबसे बडी भूल यही है । इससे बढ़कर भूल और क्या कहे ? किसी मनुष्यके आगे एक ओर खलका टुकडा रख दिया जाय और एक ओर हीरा जवाहरात रख दिया जाय और कहा जाय कि भाई तुम इन दोनो चीजोमे से तुम्हे जो चीज पसंद हो वह उठा लो । अगर वह खलका टुकड़ा उठाता है तो क्या उसे आप विवेकी कहेगे ? अरे उसे तो आप पागल कहेगे । तो इसी तरह समझिये कि यहाँ मेरे सामने दो चीजें है विष और अमृत, विभाव और स्वभाव । यहाँ मानो कोई यह कहे कि भाई तुम क्या लेना चाहते हो ? इनमे से तुम्हे जो चीज पसद हो सो उठा लो और यह परमात्मा कह रहा है कि देख ! केवल तेरी दृष्टिमात्रमे तुझे वह चीज मिल जायगी । विष लेना चाहे तो विष मिल जायगी और अमृत लेना चाहे तो अमृत मिल जायगा । और अगर वह यह कहे कि भाई मुझे तो विष लेना है तो बताओ उसकी मूर्खतापर हंसी आयगी कि नही ? और हँसी भी किसे आयगी ? ज्ञानीको । अज्ञानी जन चाहे थोडा ठीक भी समझ लें पर ज्ञानीजन तो उनकी इस तरहकी प्रवृत्ति देखकर हँसेंगे ही । ज्ञानी जन अपने आपका भी पछतावा करते और ससारके अज्ञानी जीवोको देखकर भी पछतावा कर रहे कि देखो ये अज्ञानी प्राणी कैसा अपने उपयोगसे चिगकर बाह्यमे उपयोग लगाकर हैरान हो रहे है ? उन अज्ञानी जनोको तो इसका कुछ पता ही नही है । उन्हे तो पछतावा करने तककी भी बुद्धि नही है । ऐसी एक बात कही गई है अलकारमे कि ज्ञानीजन बडा पछतावा करते है । ज्ञानीजन कभी दुःखी नही होते । वे तो बड़े कष्टोके बीच रहकर भी अपनेको दुःखी नही मानते ।

(१००) **अलख निरञ्जन आत्मदेवका प्रसाद**—ज्ञानी जानते हैं कि मैं आत्मा एक अलख निरञ्जन हूं । यह आत्मा अलख है अर्थात् इन्द्रिय द्वारा देखनेमे नही आता और निरञ्जन है अर्थात् उसमे किसी प्रकारका अजन नही है किसी परपदार्थका लगाव नही है । जैसे गरम पानी रखा हुआ है और आपसे पूछें कि बताओ इस जलका स्वभाव ठंडा है कि गरम तो आप भले ही कहें गरम, पर उस जलका स्वभाव गरम नही है । स्वभाव तो उसका ठंडा है । आप कहेगे कि अच्छा दिखाओ कहाँ ठंडा है ? तो उसे यो आंखोंसे नही दिखाया जा सकता । उसे तो ज्ञानद्वारा ही समझाया जा सकता है । अथवा एक और उदाहरण ले लो— जैसे कहा गया कि देखो यह दो सेर दूध है, बताओ इसमे कितना घी है ? तो किसी पारखी ने बता दिया कि इसमे तो २ छटाक घी है । अब कोई कहे कि अच्छा दिखाओ तो उसे घी नही दिखाया जा सकता । अब दूधको मथकर घी निकालनेकी जो विधि है उस विधि से कोई तो घी निकले । तो इसी प्रकारसे समझ लो कि मेरे अन्दर यह परमात्मतत्त्व विराजमान है । उसे कोई कहे कि दिखाओ—तो वह यो नही दिखाया जा सकता । इसके [illegible]

विधि बतायी गई है उस विधिसे चलेंगे तो वह परमात्मतत्त्व दिखाई देगा। अब पडे तो हुए है अज्ञानमय विषकी ओर और देखना चाहे परमात्मतत्त्व, तो वह कैसे दिखेगा ? उस परमात्मतत्त्वको देखनेकी जो विधि बताई गई है ज्ञानाभ्यास करना, तत्त्वाभ्यास करना उस विधि से चलेंगे तो उस परमात्मतत्त्वके दर्शन हो सकते है। देखो जो जिस धर्म (मजहब) मे पैदा हो गया वह उसके ही गुण गाता है। ईसाई कहते कि हमारा धर्म अच्छा है। जैनी कहते कि हमारा धर्म अच्छा है। मुसलमान कहते कि हमारा धर्म अच्छा है। यो जो जिस मजहबमे पैदा हो गया वह उसकी प्रशसा करता है। यह तो एक मनुष्योकी आदत है। इससे अनेक लोग इस उलझनमे पड जाते कि देखो सभी मजहब अपनी अपनी गाते है. तथ्य क्या है, किस धर्मपर चलें ? कुछ समझमे नही आता। तो भाई अगर अपनी यह उलझन मिटाना है तो इस ख्यालको छोड दो कि हम किस मजहबमे पैदा हुए और वहां क्या बताया गया। आप तो गुप्त ही गुप्त अपने अन्तः विराजमान परमात्मतत्त्वके दर्शन कर लो और अपना कल्याण कर लो।

(१०१) **वर्तमान परिणतिका चिन्तन**—अपने आपके प्रति अपनेपर ही दया करके अपनी भलाईके लिए यह सोचें कि हम वर्तमानमे बुरी अवस्था वाले हैं या बहुत ठीक अवस्था वाले है थोडा बहुत विवेकसे विचार करनेपर मालूम होगा कि हमारी वर्तमान अवस्था भली नही है। मनुष्य हो गए, इतनी बात तो भली पा ली है, लेकिन रात दिन निरन्तर शल्य, चिन्ता, विपत्ति, मोह, विकल्प, अनेक प्रकारके भार और सबसे बडी भारी बात गल्तीकी तो यह है कि उल्टा ज्ञान कर रहे है। तो वर्तमान स्थिति हमारी भली नही है। मौज, आराम और विश्राम मानने जैसी स्थिति नही है। जैसे कि लोग थोडासा सुख पाकर, थोडोसी कुछ सुविधा पाकर अपनेको समझते कि हम बहुत मौजमे है, बहुत आराम वाली स्थितिमे हैं। इस संसारमे आराम कहा है ? जहा राजा भी मरकर कीडा बन सकता, कुत्ता भी मरकर देव बन सकता, बहुत ऊँचे बढकर नीचे दुर्गतिकी बात हो सकती ऐसे इस ससार मे भलाईकी क्या बात है ? तो वर्तमान परिस्थितिको देखो और उसमे सन्तोष न करो, मौज न मानो। भीतरमे यह विचारो कि जो मेरी बुराइया है वे कैसे दूर हो और कैसे हम उस सत्य आनदको पा सकें जो मेरा स्वभाव है, जिसे भगवन्तोने प्राप्त किया। इन सब बातोपर सक्षेपमे विचारें तो मानना होगा कि मेर विरोधका बैरी, बिगाड करने वाले, ६ शत्रु हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ। बाहरमे मेरा कोई दुश्मन नही, कोई अनिष्ट नही, कोई शत्रु नही। जीव है, उनकी जैसी भावना है जो परिणाम है वह अपनी भावनाके अनुसार अपनी परिणति बनाता है, उनकी परिणति उनके साथ है। उनकी परिणतिसे मेरा कुछ भी

बिगाड नही होता। मेरेमे ही दुर्भाव हो तो मेरा बिगाड होता है। यदि वे अपने आपमे दुर्भावना बनाये है तो उससे मेरा बिगाड नही है। ऐसा वह दुर्भाव क्या है जिससे मेरी बरबादी हो रही है ? वे हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ।

(१०२) जीवका प्रथम बैरी मोह—जीवका प्रमुख बैरी है मोह। मोहका अर्थ है बेहोश हो जाना। जरा ध्यानसे सुनो तो एक दिशा मिलेगो। मोह किसे कहते हैं ? मोहका वास्तविक अर्थ क्या है—बेहोश होना। जैसे किसी मनुष्यने शराब पो ली हो तो उसे कहते है कि यह बेहोश हो गया। कैसे समझा कि बेहोश हो गया ? सही ज्ञान नही कर पा रहे। है कुछ, जानते है कुछ बोलते हैं कुछ, तो यही तो बेहोशी कहलाती है। तो अपने आपमे भी देखो कि है तो स्वरूप कुछ, मानते कुछ हैं तो इसीको बेहोशी कहते है, इसीका नाम मिथ्यात्व है इसीका नाम मोह है। जब तक मोह रहेगा, मिथ्यात्व रहेगा, बेहोशी रहेगी तब तक जीवका कल्याण नही हो सकता। प्रभु क्या है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की मूर्ति है। यह रत्नत्रयका पूर्ण विकास उन्हें कैसे प्राप्त हुआ ? सबसे पहिले उन्होंने भ्रम को दूर किया। मोहको मिटाया और बेहोशी दूर हुई। देखिये इस प्रसगमे मोह शब्दका मतलब प्रेम मत समझो। मोहका अर्थ प्रेम नही है। किन्तु बेहोशी है। बात कुछ है जानते और कुछ है, ज्ञान हो रहा है उल्टा, इसे कहते है मोह। यह शरीर भिन्न चीज है, मैं आत्मा अपना सत्त्व रखने वाला, अपने ही प्रदेशोमे रहने वाला सबसे निराला पदार्थ हूं भिन्न भिन्न दो वस्तु है लेकिन देहको निरख कर मानना कि यह ही मैं हू, इसीसे मेरा जीवन है, इसीसे मेरी सत्ता है, देह न रहेगा तो मेरी सत्ता भी न रहेगी। ऐसा मोह बना रखा है, बेहोशी कर रखी है। होता क्या है कि बात कुछ है जानते कुछ है। शरीर भिन्न है, निराला है और मान रहे कि यह ही मैं हू, उससे अभेद समझ रहे है तो इसीको कहते है मोह और भी देखिये। बाह्य पदार्थ अणुमात्र भी मेरे नही है लेकिन मान रहे है कि यह सारा वैभव मेरा, घर मेरा, सम्पत्ति मेरी, तो है तो बात कुछ और मान रहे हैं कुछ, इसीके माने है बेहोशी, इसीको कहते है मोह। यही कहलाता है मिथ्यात्व। अब विचार करें तो ऐसा मोह, मिथ्यात्व कैसे दूर होता है ? अज्ञानसे मोह हो तो अज्ञान मिटावो तो मोह मिट जायगा। अज्ञान मिटने पर क्या प्रकाश मिलता है कि जगतमे जितने भी पदार्थ है वे सभी पदार्थ अपनी अपनी सत्ता लिए हुए है। किसी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ न कर्ता है, न भोक्ता है, न स्वामी है। प्रत्येक पदार्थ वे अपने आपके स्वामी है, अधिकारी है अपने आपके ० करने वाले है, भोगने वाले है। एक वस्तु दूसरे पदार्थका स्वामी नही, यह बात जब स्प दृष्टिमे आ जाय तो उसके मोह नही रहता। संसारमे जितने भी क्लेश है सब मोह मू

है। देखिये जब उल्टा ज्ञान चलता है तो सोचेंगे कोई लोग कि ज्ञान उल्टा कर रहे तो दुःख क्यो होता, पर स्वभाव ही यह है अगर विपरीत ज्ञान है तो नियमसे क्लेश है। देहको ही मान रहे कि यह मैं हूं, बस इस बुद्धिमे स्वभावतः क्लेश है। यह पर्याय जो मनुष्यभवमे पाया है, यह सदा रहने वाली नही है, लेकिन लोग विश्वास लिए हुए है कि सदा रहेगा, बस इस गल्तीके कारण क्लेश तो होगा ही। क्लेश तब होता है कि वस्तु हो और प्रकार और जानते, मानते हो और प्रकार, तो वहाँ नियमसे क्लेश होता है। इन सब गल्तियोका नाम मोह है, बेहोशी है, मिथ्यात्व है।

(१०३) **मोहविनाशका अपूर्व लाभ**—मोहका जहाँ विनाश होता है वहां ऐसा प्रकाश रहता है कि मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप इस देहसे भी निराला हू। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हू, कर्मों से निराला, विषय कषाय, इच्छा, तरग विचार जो कुछ भी मेरेमे चचलतायें है, जो कुछ भी अस्थिरभाव है उन सबसे निराला मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। यह प्रकाश होता है सम्यक्त्वमे, सम्यग्ज्ञानमे। तो मोह मिटे तो इस जीवकी बरबादी दूर हो सकती है। अन्यथा जन्म-मरणके संकट बराबर इसके रहे आयेंगे। एक बात देख भी लीजिए—हम आपपर अगर कोई वास्तवमे सकट है तो जन्ममरणका। यह बहुत बडी विपत्ति है हम आपपर। कुछ सोच करना चाहिए, कुछ विचार करना चाहिए कि जन्म मरण मेरे कैसे दूर हो। जन्म मरण कैसे दूर हो? बहुत बढिया उपाय समाधितन्त्रमे बताया है कि जन्म मरणका यह अर्थ है कि देहका मिलना सो जन्म और देहका दूर होना सो मरण। जो इस देहमे आत्मबुद्धि करता है, यह देह ही मैं हू ऐसा अनुभव करता है उसे देह मिलते रहेगे। इसीके मायने है कि जन्म होते रहेगे और जो अपने देहसे निराले ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वका अनुभव करता है—यह हूँ मैं ज्ञानप्रकाश मात्र, देह मैं नही, देहसे उपेक्षा होगी, देहको आपा न मानेगा तो यह बोझा न रहेगा, इसके माने है कि जन्म मरण मिट जायगा। यह सब करनेके लिए हमको बडा संयत होनेकी आवश्यकता है, और वह केन्द्रित और सयतपना अपने आपके ज्ञानमे चाहिये। तो यह मोह इस जीवका बहुत बडा दुश्मन है। बेहोशी होना, सच न जान सकना, झूठा ही ख्याल बनाना, ये इस जीव की बरबादीके कारण बन रहे है।

(१०४) **मोहकी कठोर प्रेरणा**—मोह, विभ्रमको एक दृष्टान्तसे समझिये—एक गाँव मे गांवके अन्तमे एक बढईका घर था। (यह घटना सच है जो बतला रहे है) तो मुसाफिर जब उस गांवमे जाय तो पहिले उस बढईका ही घर मिलता था। उससे ही पूछें कि भैया अमुक गांवका रास्ता कौन है? तो वह बढई उल्टा रास्ता बता देता था। जैसे रास्ता हो तो पूरबका और बता देता था पश्चिमका। और साथमे यह भी बता देता था कि देखो इन

गांवमें तुम आगे जावोगे तो गांवके सब लोग मस्खरे है। तुम जिससे रास्ता पूछोगे वह उल्टा ही बतायगा। तो देखो—एक तो जाना उसने उल्टा और इसपर भी यह जाना कि और लोग उल्टा ही बतावेंगे। तो आगे जाकर और लोगोंसे पूछता है—भाई अमुक गांवका रास्ता कौन सा है ? तो वे लोग जो सही रास्ता था, मानो पूरबकी ओरका सही रास्ता था तो पूरबको ओरका ही बताते थे। उस मुसाफिरने समझ लिया कि वास्तवमे बढई ठीक ही कह रहा था कि इस गांवके लोग सब मस्खरे है, उल्टा ही रास्ता बतावेंगे। आखिर वह उल्टा रास्ता चलनेसे हैरान ही हुआ। तो ऐसे ही समझिये कि इस मोहमे होता क्या है कि यह जीव उल्टा ज्ञान करता है और उसपर भी समझता है कि मैं बिल्कुल सही जान रहा हूं, मैं बड़ा चतुर हूं, ठीक हू, मोहकी यह दशा हैं। तो यह जीव इस मोहसे बरबाद हुआ। चाहिये यह कि मोह न करें। मोह मेटनेमे एक थोडी यह दृष्टि लगायें कि मैं जो हूं भीतर तो आखिर हूं किस प्रकारका ? हू तो मैं जरूर। जैसे बाहरमे ये चीजें हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक अनेक प्रकारकी है, ऐसे ही भीतरमे मै हूं, जिसमे होनेका प्रत्यय होता है। वह हूं क्या मैं रूप रंग वाला ? अगर रूप रंग वाला होऊँ तो उसमे ज्ञानकी बात नही आ सकती। वह है केवल एक ज्ञान ज्ञानमात्र। कैसा विलक्षण पदार्थ हू मैं कि केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप है और प्रदेश उसके बन गये हैं, उसकी अवगाहना भी हो गयी है। है केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप तो अपनेको केवलज्ञान स्वरूप निहार लेना, समझ लेना, विचारना, चिन्तन करना इस ही मे वे सब कलायें आ जाती है जो कलायें हमको मोक्षमार्गके लिए चाहिए। मैं ज्ञानमात्र हू, मेरा ज्ञानस्वरूप ही है, और कुछ नही है। मैं केवल ज्ञानको ही करता हूं, अन्य कुछ नही करता। मैं केवल ज्ञानको ही भोगता हूँ, अन्य कुछ नही भोगता। ये चार निर्णय उसके यथार्थ हो जाते है। मैं क्या हू, मेरा क्या है, मैं क्या करता हू और मैं क्या भोगता हूं ? यह ज्ञानप्रकाश जब जीवको नही होता तो मोह रहता है, मिथ्यात्व रहता है। नो बरबादीका मूल कारण है मोह। इसीको भ्रम भी बोलते है। जीवके ६ दुश्मन हैं—इसका तो बाहरमें कोई दुश्मन नही। यह बात चल रही है। लोग कभी कभी मानते है कि यह भाई मेरे बैरी है, विरोधी है, प्रतिकूल है, पर कोई मेरे प्रतिकूल नही, कोई मेरा बैरी विरोधी नही। उन भाइयोके चित्तमें स्वयं जिस तरह शान्ति मिल सकती है उस तरह वे अपनी चेष्टा करते है, उसके प्रतिकूल कुछ नही कर रहे, किन्तु उनको जैसा कहनेमे, जैसा चलनेमे, जैसा सोचनेमे वे शान्ति पा सकते है वैसा करते हैं। उनकी ऐसी दृष्टि है कि इस तरह मन, वचन, कायकी चेष्टा करनेमे मेरेको शान्ति साता सुख मिलेगा, उसके अनुसार वे अपनी प्रवृत्ति करते हैं। वे किसीकी प्रतिकूलताके कारण नही करते। वास्तविकता यह है। तो जगतमे जितने भी मनुष्य

है वे हैं, उनका उदय है, उनकी इच्छा है । अपनी इच्छाके अनुसार वे अपनी परिणति बनाते हैं, अपनी शान्तिके लिए बनाते हैं, मेरे कोई प्रतिकूल नही । मेरा कोई भी जीव विरोधी नही है । यह दिखता है ज्ञानी पुरुषको । तो पहिली बात मोह दूर करनेकी बतायी ।

(१०५) **जीवका द्वितीय बैरी काम**— दूसरी गल्ती है काम । कामका अर्थ है भीतरमे स्त्री पुरुष सम्बध विषयक जो भावना रहती है, विकार रहता है उसे कहते है काम । देखो अगर देहमे बुखार हो गया तो तकलीफ होती है, ठीक है, विकार है, तकलीफ है, खांसी है, तकलीफ है, फोडा-फुसी है, तकलीफ है, मगर कामके विचारमे इस देहको क्या तकलीफ है जो यह इतने कष्ट मानता है । इतनी तकलीफ मानता है कि उस कामके लिए भोजनपान भी छोड देता है । जैसे पुराण पुरुषोमे कितने ही उदाहरण ऐसे आये कि अमुकने अमुकका चित्र-पट देखा तो वह कामविह्वल हो गया, उसने अपने मनमे उससे मिलना ठान लिया, खाना पीना भी छोड दिया । तो इस काममे ऐसी विकट तकलीफ है, पर कौनसा ऐसा बडा कष्ट शरीरपर आया जिससे वहाँ कष्ट माना जा रहा ? अरे कोई कष्ट नही है, मगर उसके मनमे कुबुद्धि उत्पन्न हुई, मनमे विकार भाव आया, विकृत परिणाम आया कि इस तरहसे मेरेको शान्ति मिलेगी बस तकलीफमे पड गया । तो दूसरी गल्ती है जीवमे काम विषयक । जब बडे लोग होते थे, राजा लोग, जिनके पास बहुत बडा साम्राज्य होता था, उनके पास तकलीफ की कोई बात न थी । सब प्रकारके साधन थे । उनकी हुकूमत चलती थी । तो ऐसे उन राजाओके और उन राजपुत्रोके कामविषयक वासनाओका बहुत बडा कलह मचा रहता था । तो यह काम भी इस जीवका बैरी है ।

(१०६) **जीवका तृतीय बैरी क्रोध**—जीवका तीसरा बैरी है क्रोध । इस क्रोधको तो कवि जनोने चाण्डाल बताया है । उसके लिए एक कविता टूटे-फूटे शब्दोमे आयी है, वह कविता यद्यपि अशुद्ध है, पर इसी तरहसे चली आयी है । कहते है कि "पक्षीना काक चाण्डाल, पशू चाण्डाल गर्दभः । मुनीनां कोप चाण्डालः, सर्व चाण्डाल निन्दकः ।" याने पक्षियोमे चाण्डाल कौवाको बताया है । पशुओमे चाण्डाल गधेको बताया है । गधेको पहिले बहुत खराब माना जाता था । उसको कोई लोग नही छूते थे । वह खोटी जगहोमे रहता था इसलिए उसे चाण्डाल कहा जाता था । मुनियोमे चाण्डाल बताया है क्रोधको और सबसे अधिक चाण्डाल बताया है निन्दकको याने दूसरोकी निन्दा करने वालेको । जरा इन बातोपर दृष्टि दें— हम अपने परिणामको अगर देवदर्शनमे ही लगाये रहे । केवल परकी निन्दा निन्दामे ही अपना समय गुजरता हो, जिसे कहते हैं गप्प । हम किसीकी निन्दा करें तो निन्दा करनेकी प्रकृति करनी पडी तो इतना तो तुरन्त निश्चित है कि हमारी दोषोपर दृष्टि है, और जिस

उपयोगकी दृष्टि दोषपर है वह उपयोग दोषमय हो गया है। मेरेको दोषसे कोई स्पर्श नही करना है। दोषसे मेरेको किसी भी प्रकारका सम्बंध न बने। मेरेको दिखे तो गुण दिखे। जीव मे क्या गुण नही है, जीव भगवत् स्वरूप है, उसमे वह ही गुण है जो प्रभुमे गुण है और व्यवहार दृष्टिसे प्रत्येक जीवमे गुण कुछ न कुछ अवश्य होते है। अब उनमेंसे गुणोंपर दृष्टि न जाय और केवल एक दोषपर ही दृष्टि हो तो उस अवस्थासे इस दृष्टिसे मिलता कुछ नही है, बल्कि उपयोगमे दोष आया है, इसी प्रकार जब क्रोध आता हो तो इस क्रोधसे कोई लाभ नही मिल पाता, किन्तु सारे प्रदेश बेचैन हो जाते है। तो तीसरी गल्ती है जीवकी क्रोध। यह क्रोध कषाय इस जीवके सारे गुणोको फूंक देता है। सारे गुण हों किसीमे और क्रोध करता हो तो उसमे सुन्दरता भी नष्ट हो जाती है। कोई पुरुष अथवा महिला देखनेमें बहुत ही सुन्दर हो, रूपवान हो और उसकी क्रोध करनेकी आदत हो, मुख चढ़ा रहे, आंखें चढी रहे तो उसमे आप सुन्दरताके दर्शन नही पा सकते। तो क्रोध एक ऐसी बुरी भावना है कि जिससे सारे गुण फुक जाते है। तो तीसरा दुश्मन है क्रोध।

(१०७) **जीवका चतुर्थ बैरी मान**—चौथा दुश्मन है मान। मान कहते हैं घमंडको, मैं हूँ, देखो जब पर्यायबुद्धि हो तब ही तो अहंकार होता है। भीतरमे अगर यह दृष्टि हो कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, मेरेको तो कोई यहाँ जाननेवाला भी नही है। जो लोग जानते है वे इस देहको जानते है, वे इस पर्यायको जानते है, इस ही सकलको जानते हैं। पर मैं तो सकलसे रहित केवल ज्ञानादर्शनमात्र हू इस प्रकार अपनेको ज्ञानप्रकाशमात्र जब मान पाता है और जो प्रकाश पाया है उसमे ही अहंका अनुभव करता है तो वहाँ घमड दूर हो जाता है। तो इस तरह पर्याय बुद्धि जो जीवोमे चलती है वह तब तक है जब तक कि वस्तुकी सत्ताका सही ज्ञान न हो। जहाँ वस्तुके सत्वका सही बोध हो गया, मैं एक ज्ञानमात्र अपने ही प्रदेशोमे रहने वाला, अपने आपमे ही परिणमने वाला, अपने आपकी पर्यायमे जाता रहने वाला हू, इसके आगे मेरा कही अधिकार नही है, बाहरी पदार्थ जितने भी है वे सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए है, वे अपनेमे ही उत्पाद व्यय करते है, दूसरा अधिकारी नही है, जहाँ यह बोध हुआ कि यह देह परमाणुओका पुन्ज है, इसका परिणमन इसमे है, इससे मेरेमें कुछ नहीं आता, मेरा इस मे कुछ नही जाता। भले ही आज सम्बध है और उस सम्बध निमित्तमे हम परेशान भी हो जाते है, लेकिन यहाँ प्रयोजनको तकना होगा। आत्माकी पर्याय आत्मामे हो रही है, देहकी परिणति देहमे हो रही है। देहकी परिणति मुझ आत्मामे नही, मेरी परिणति देहमे नही, ऐसे स्वतत्र अस्तित्वका जहां भान होता है वहाँ पर्यायबुद्धि छूटती है, पर ऐसा भान करनेके लिए हमको चाहिए तत्त्वाभ्यास व वस्तुस्वरूपकी चर्चा। और ऐसे ही अभ्यासके प्रेमी दो-चार लोगों

का संग भी चाहिये कि जो समय समयपर चेत आये, समय-समयपर पर्यायबुद्धिसे दूर होनेकी प्रेरणा दे तो ऐसा वातावरण, ऐसा हमारा अभ्यास, ऐसा हमारा संस्कार, सत्संग ये सब हमारी पर्यायबुद्धिको दूर करनेमे समर्थ हो सकते है। तो पर्यायबुद्धि जहाँ है वहाँ मान कषाय भी है।

**(१०८) जीवका पञ्चम बैरी कपट**—माया कषाय क्या? छल कपट। छल कपट का अर्थ है- वस्तुकी प्राप्तिकी इतनी उत्सुकता होती है कि न्याय अन्याय कुछ न गिनकर धन वैभव इज्जत पोजीशनकी प्राप्ति करनेकी भावना बनी रहती है सो किसी भी परभावके सम्बन्धमे मायाचारकी बात लगाना। जैसे कभी बडप्पन भी चाहा हो तो उस बडप्पनको कायम रखनेके लिए अनेक प्रकारके मायाचार करने पडते, यश बनानेके लिए भी मायाचार करते हैं। मायाचारका अर्थ है—मनमे कुछ है, वचनमे कुछ है और शरीरसे चेष्टा कुछ और करते है। यही एक मायाचारकी मुद्रा है, लेकिन ज्ञानी पुरुष जिन्होने यह जाना है कि मेरा काम तो केवल ज्ञानदर्शनकी सिद्धि करना है, मैं ज्ञानमात्र हूं यही मेरे ज्ञानमे रहे और उस ज्ञानके अनुकूल ही मेरा बर्ताव हो, ज्ञाता दृष्टा रहू, बेहोशी न रहे, ऐसी ही भावना और उत्सुकता ज्ञानी पुरुषकी होती है। उसमे मायाचार नही होता। मायाचार एक ऐसी वस्तु है, ऐसा परभाव है कि यह चाहता है छुपाना लेकिन यह मायाचार छुपानेसे छुपता नही है। भले ही कुछ समयके लिए मायाचारसे अपनी बातको छुपा लें, लेकिन बहुत समय तक यह बात नही चलती। सगमे प्रसगमे, ससर्गमे रहने वाले लोग ताड जाते हैं कि इसका तो यह मायाचार है। यह तो एक छल कपटकी बात है। तो जो छलकपट हमे तुरन्त भी दु:खी करे, भविष्यमे भी दु:खी करे, लोगोसे भी जिसके कारण चित्त हट जाय, ऐसे छल कपटसे लाभ क्या है? तो जीवके बैरियोमे एक बैरी है छल कपट।

**(१०९) जीवका छठा बैरी लोभ**—छठवां बैरी है लोभ। लोभ कहते है—बाह्य वस्तुओसे इतनी ममता होना कि उनके विना अपना जीवन न समझ सकना और कभी किसी प्रसगमे योग्य कार्यमे, दीन दुखियोके उपकारकी कोई घटना सामने हो तब तक भी उसके त्यागकी बुद्धि नहीं आना। इसे कहते है लोभ कषाय। यो तो लोभकषायका रग १० वें गुणस्थान तक रहता है। करणानुयोगमें बताया है कि द्वेष पहिले मिटता है और राग बादमे मिटता है। द्वेष तो मिटता है ९वें गुणस्थानमे और राग मिटता है १० वें गुणस्थानमे। इससे समझिये कि रागका रंग जीवमे ऐसा गहरा होता है, न जाने किस रूपमे उभर जाय। यशका राग बनाना, सम्पदाका राग बनाना। जिस किसीका भी राज हुआ बस यह राग विरानि है। तो इस जीवके ये ६ बैरी हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ।

(११०) **सम्यक् ज्ञानसे अहिंसाका मेल**—देखिये—जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा जान लो—इसमे आपको क्या कष्ट आया ? और वैसा जानना ही पडेगा, वैसा जानकर रहेगा ही जब कि एक सही बुद्धि रहेगी । कल्याणकी भावना यदि होगी तो नियमसे पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होना ही पडेगा सो ज्ञानमें बस यह श्रद्धा बनावें कि जगतके सब जीव स्वतंत्र है । यहाँ जिन-जिनका-सम्बन्ध हुआ है वे सब जीव अपना-अपना भाग्य लिए हुए हैं । उनके भाग्यसे काम होता है जिस जिसके उपभोगमे सम्पदा आती है उन-उन सबका पुण्य ही उस कमाईका कारण होता है । मैं धन नही कमा सकता । मै बाह्यवस्तुको कमानेका अधिकारी नही । वे तो पुण्यके उदयमे प्राप्त हो जाते है । जिसका जैसा पुण्यका उदय है उसके अनुमार ये बाह्यपदार्थ आयेगे । ऐसा ही सहज मेल होता है कि उन सबके पुण्ययोग से वह सब कमाई होती चली जाती है, मैं तो केवल कल्पनायें भर करता हूं, उपयोगकी वृत्ति भर करता हूं, कैसा ही उपयोग बन रहा हो, कैसा ही विकल्प कर रहे हों, केवल मैं ज्ञानकी परिणतिको करता हूं । बाहरी पदार्थोंको नहीं करता । देखिये जब यह ज्ञान जगेगा बस अहिसाका प्रादुर्भाव वहांसे है । अहिंसाका अर्थ है उपयोगमे (आत्मामे) विकार भावों का न आने देना । अविकार भाव होना इसका नाम अहिंसा है । जैसे लोग कहते है कि दूसरेको मारना हिंसा है । तो दूसरेको मार कब डाला ? जब मैंने पहिले अपना भाव बिगाडा तो वास्तवमें अपने भाव बिगाडनेका नाम हिंसा है, दूसरे जीवके प्राण हन गए तो इसका नाम वास्तवमे हिंसा नही है, वह तो हिंसाका एक परिणाम हुआ है इस प्रकारसे हिंसा कोई जीव कर सकता है तो वह अपनी कर सकता है, दूसरेकी हिंसा नही करता । निश्चय से यह जीव अपनेमे ही विकार करता है तो अपनी ही हिंसा करता है, दूसरे जीवोका तो उनके उदयानुसार वैसा निमित्त जुडता है, बात बनती है पर इस जीवने स्वय पहिले अपना भाव बिगाडा तो इसने अपनी हिंसा कर ली । तो अपने भावोमे विकार न आनेका नाम अहिंसा है विकार आनेका नाम हिंसा है । हिसासे हम अपने आपको बरबाद किए जा रहे हैं । ये मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या आदिक जितने दुर्भाव है यह सब अपनी हिंसा ही तो है हम अपने आपमे हिंसा करते जा रहे, अपने आपकी हत्या कर रहे है, अपने आत्माके जो गुण हैं उनका घात हो रहा है, हम वासनाओकी ओर बढ़ते चले जा रहे है यह है हमारी हिंसा । तो हम सम्यग्ज्ञान जगायें, मोह भावको मिटायें और अपना यह निर्णय बनायें कि जगतके सब जीव भगवत् स्वरूप है । सबका स्वरूप एक समान है । कोई भी जीव मेरा बैरी नही है, कोई भी जीव मेरा विरोधी नही है । उन जीवोंके स्वयं भाव लगा है अपने भावोके अनुसार वे अपना कार्य किया करते हैं । तो किसी भी जीवको विरोधी मत

मानो, किसी भी जीवको प्रतिकूल मत मानो। प्रतिकूलता हो रही है इसलिए कि हम चाहते हैं विषयोको, पर वह बन रहा है उनमे बाधक। वह भी प्रतिकूल नही है किंतु वह स्वयं अपने आपके अनुकूल बनना चाह रहा है, वह भी सुख शान्ति चाहता है, इसलिए वह अपनी उस ढगकी प्रवृत्ति करता है। वह मेरेसे विरोध नही करता। ऐसी जगतके सब जीवोपर समताकी दृष्टि हो, अपने आपको भगवानके स्वभावकी तरह अनुभव करें, सभी जीवोका स्वरूप भगवान के स्वरूपकी तरह निरखें, और फिर जो कुछ कर रहे हैं अधेर वह सब कर्मोंकी लीला है, प्रकृति का बिकार है। जीव तो ध्रुव सहज स्वभावमे निरपराध है, यह बात अगर चित्तमे आयगी तो कभी यह निरपराध हो जायगा और यह परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो जायगा।

( १११ ) **वास्तविक अहिंसाका आनन्दजनकत्व**—हम सबकी एक ही भावना है कि सुख शान्ति आनन्द मिलो। परन्तु इसके स्वरूप और उपायपर सही विचार नही बनाते। अच्छा सोचिये विचारिये, जरा बताओ आनन्द कहाँ है—जहाँ आकुलता न हो। आकुलता कहाँ न होगी जहाँ आकुलता आनेके साधन न हो। आकुलताके साधन क्या है? शरीरका सम्बध, धन सम्पदा आदिकका मौज, परका सम्बध, जन्म मरणका होना, अज्ञान होना, ये सब आकुलताके अन्तरङ्ग बहिरङ्ग साधन है। अब आप ध्यान दीजिए कि देह न रहे, कषाय न रहे, बाह्य चीजोका लगाव न रहे तो क्या रहेगा? केवल एक वही आत्मस्वरूप। तो जहाँ केवल यह आत्मा ही रह जाय, शुद्ध आत्मा हो जाय, परम आत्मा हो जाय, बस ऐसी ही स्थिति मे परम कल्याण है, यही शांतिकी चीज है। तब जिनको शांतिकी इच्छा है उनका यह ही तो कर्तव्य है कि वे ऐसा उपाय बनावें कि जिससे आकुलताके सारे कारण समाप्त हो जायें। इस उपायको बताया महावीर भगवानने। इसी कारणसे हम आप अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवानकी उपासनामे लगते हैं। भगवान महावीरने क्या उपाय बताया कि जिससे आकुलता दूर हो? तो देखिये—इन सब उपायोको अगर सक्षेपमे कहा जाय, जो आजकलके व्यवहारमे आकुलताके ही साधन बन रहे हैं उनसे भी हटनेकी दृष्टिसे देखा जाय तो आप ३ विभागोमें उन्हे बना लीजिए—अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह इन तीन बातोके व्यावहारिक नातेसे भी अधिक आवश्यकता हो गई और इन तीन उपायोपर जो कोई चलेगा वह नियमसे परम शान्ति पायगा। पहिली चीज है अहिंसा। अहिंसाका अर्थ क्या है? हिंसा नही। हिंसा न होना सो अहिंसा है मगर हिंसा क्या और किसकी? हिंसा वह जीव स्वय अपने आपकी कर रहा है, निश्चयसे यह मानव अपने आपके आत्माकी हिंसा कर रहा है। कैसे? आत्माका प्राण है चैतन्य शुद्ध ज्ञान। ज्ञान ज्ञानमात्र रहे, ज्ञाता रहे, रागद्वेष न हो, विकार न हो, यह तो है आत्माकी परम स्थिति, दया, स्वरक्षा और आत्मामे विकार आना यह है आत्माकी हिंसा।

जब यह जीव क्रोध करता है तो बडा बेचैन हो जाता है। तो वह अपने आत्माका घात ही तो हुआ। कोई घमड करता है, दूसरेको तुच्छ समझता है, अपनेको महान समझता है तो इस स्थितिमें वह कितनी तरहके विकल्प मचाता है। परमात्मस्वरूप पर तो उसकी दृष्टि ही नही रहती। बाहर बाहर ही उसका उपयोग फंसा रहता है। तो यह आत्माका घात है। मायाचार तो प्रत्यक्ष घात मालूम होता है। भीतरमे यहाँ कितनी छल कपटकी नीतियां बनायी जाती है। कैसा कैसा दूसरोंके प्रति सोचा जाता है। इस मायाचारसे तो यह जीव अत्यन्त परेशान रहता है। लोभ कषाय लालच यह भी आकुलताकी जननी है और लोभको तो लोग पापका बाप कहा करते है। इसमें भी आत्माका घात है। तो आत्माका घात न होना सो अहिंसा है।

(११२) **वास्तविक अहिंसाभाव आनेपर व्यवहारशुद्धिकी सुगमता**—जो वास्तविक अहिंसा पालेगा उसका वैसा व्यवहार इतना स्वच्छ होगा कि दूसरे जीवोके प्राणोका घात न करेगा, दूसरोका दिल न दुखायगा। सबके प्रति अच्छा व्यवहार रखेगा। तो यह तो हुई व्यवहार अहिंसा। आज प्रत्येक जीव परेशान है घरके बाहरके झगडोसे। सो सारा विश्व शान्तिकी चाह करता है, लेकिन चल रहा है यह सब विश्वनीतिसे, पर उन्हे शान्ति तब मिलेगी जब शुद्धज्ञान बनायें और दृष्टिनिर्णय बनायें। अहिंसा साधनेके लिए सम्यग्ज्ञानकी बहुत आवश्यकता है। सम्यग्ज्ञान न हो तो अहिंसा नही बन सकती, क्योकि अहिंसाका मौलिक रूप तो यह है कि अपने अन्दर किसी प्रकारका विकार ही न आये, किसी जीवके सतानेका अपना संकल्प ही न आये, विचार ही न बने। मैं किसी दूसरे जीवका दिल दु:खा दूँ या उसे बरबाद कर दूँ इस प्रकारका खोटा विचार तक न आ सके। यह बात बन सकती है सम्यग्ज्ञान द्वारा। जहां यह समझ आ गई कि मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप हू, अन्य कुछ नही हूं, और ऐसे ही ज्ञानस्वरूप इस लोकमे सभी आत्मा है, जहां सब जीवोका स्वरूप और अपना स्वरूप समझमे आ गया, समानता भी ज्ञात हो गई कि सब मनुष्य एक समान है, सब जीव एक समान है। स्वरूपसे देखो तो सब जीवोमे जब समानताकी बुद्धि की गई और अपने आप मे अपने आपका परिचय बनाया गया कि मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हू, अपनेमे रहते हुए अपनी परिणति बनाता हू, मेरा कर्ता कोई दूसरा नही, दूसरेका कर्ता मैं नही। सब स्वतंत्र जीव हैं, जहाँ यह ज्ञान हो गया वहाँ दूसरेके सतानेके भाव उत्पन्न नही होते। तो आज आवश्यकता है इस अहिंसाकी। कितनी अधेर मच रही है कि लोग पशु पक्षियोकी तो कुछ जान ही नही समझते, जिस चाहे पशु पक्षीको मार देते हैं। उन्हे मारना एक कौतूहल सा बना लिया है। जहाँ हिंसाका ताण्डव नृत्य हो रहा हो इस बीचमे ये विश्वके प्राणी सुख शान्तिकी आशा

करें, तो यह बात कैसे बन सकेगी। जहां एक जीव दूसरे जीवको दुःखी करनेकी चेष्टा करता है वहां कोई सुखी कैसे हो सकेगा ? क्योंकि सुख कहीं बाहरसे नहीं आता है। सुख तो अपने आपके अन्दरसे अपने सद्विचारसे प्रकट किया जाता है। तो पहिली बात महावीर भगवानने दुनियाको दी अहिंसाका सिद्धान्त। अहिंसक बनो। जो देश अहिंसक होगा वह शान्त और समृद्ध बनेगा, जो घर अहिंसक होगा वह शांत और समृद्ध बनेगा, निश्चयतः इस अहिंसाके बिना आत्माका उद्धार नहीं हो सकता।

**(११३) अपने शाश्वत हितके प्रोग्रामका विवेक**—एक बात और भी सोचिये लोग इन १०–५ वर्षोंकी तो चिन्ता करते हैं जिनका कि यह ख्याल है कि इतने वर्षों तक हम जिन्दा रहेंगे, लेकिन इस थोडेसे जीवनके बाद जो अनन्तकाल और सामने पडा हुआ है उसकी कुछ भी फिकर नहीं है। अरे जितने जीवनकी फिकर कर रहे उतने जीवनका भी तो कुछ भरोसा नहीं है कि कब तक चलेगा, पता नहीं अभी खतम हो जायें। ऐसी घटनायें अनेक देखनेको भी रोज रोज मिलती रहती हैं। कभी कोई जा रहा था, रास्तेमे ही एक्सीडेन्ट होनेसे मर गया, या हार्ट फैल हो गया, यो कितनी ही बातें प्रतिदिन सुननेको मिलती रहती हैं। तो क्या ऐसा हम आपको नहीं हो सकता ? अरे किसीके भी जीवनका कुछ विश्वास नहीं कि कब तक चले। जिस जीवनका कुछ विश्वास ही नहीं है उसकी तो इतनी चिन्ता करते और जो आगेका अनन्तकाल सामने पडा हुआ है उसकी कुछ परवाह ही नहीं करते। अगर कोई अपने भविष्यकालकी बातको सोचे, अपने आपमे अपने आपपर करुणा करके यह बात चित्तमे लाये कि मुझे तो ऐसा बनना है कि इस भवमे भी शान्ति रहे और आगे भी अनन्तकाल तक शान्ति रहे, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ न चाहिए। कभी ऐसा विचार बन जाय तो उसे मार्ग मिल जायगा जिस तरह कि यह शान्त हो सकता है। तो पहिला काम है सम्यग्ज्ञान जिसके बलसे आत्मामे अहिंसा तत्त्व प्रकट होगा। सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना बनेगी। सीधी बात सुनना चाहो तो इसमे ही पहिले अपनी बातको परिपूर्ण बना लोगे कि मैं सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना करूँ। जैसा मेरा जीव है वैसा ही संसारके समस्त जीवोंका प्राण है। सब जीवोंके प्राण मेरे ही प्राणके समान हैं। जैसा मेरा चेतन वैसा ही सबका चेतन। जैसे मेरेको दुःख होता वैसे ही सबको दुःख होता। उसके अतिरिक्त यह भी बात जानें कि मैं किसीको दुःखी नहीं करता, कोई मुझे दुःखी नहीं करता, जब ऐसी स्थिति है तो मैं दूसरेको दुःखी करनेकी भावना ही क्यो बनाऊँ ? जो सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना करता है वह अपने आपको सुखी कर सकता है। यह बात अगर विश्व के सब मानवोंमे आये, सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना करें तो फिर विश्वमे शान्ति उत्पन्न

होनेमे रंच भी बिलम्ब न हो, लेकिन खेदकी बात तो यह है कि जो आज नेता कहलाते है वे स्वयं इस प्रकारकी भावनामें रहा करते कि मेरे धन बढ़े, मेरी प्रभुता बढे। जो स्वय अपने मनमे इस प्रकारकी भावना बनाये है, वे सब जीवोके सुखी होनेकी भावनाको नही बना सकते। तो सबसे पहिली आवश्यकता है अहिंसाकी।

( ११४ ) **अनेकान्तपरिचयकी अहिंसासाधकता**—अहिंसामें बाधक, एक बात और आती है कि लोग अपने अपने धर्मपर झंझट करते है और उस धर्मके आधारपर सम्प्रदाय बन जाते है। जब तक यह सम्प्रदायकी भावना न हटे, जब तक यह संकुचित वृत्ति न दूर हो तब तक शान्तिका साम्राज्य नही बन सकता। वह भावना कैसे दूर हो ? उसके लिए चाहिए ज्ञान। और उसका प्रकाश देनेके लिए भगवान महावीरने सिद्धान्त बताया है अनेकान्त। देखो—जैसे हम अपने आपको कुछ बुद्धिमान समझते हैं—मैं जानता हूँ, मुझमे तर्क पैदा होता है, युक्तियाँ समझता हूं, परीक्षा करता हू, तो हूँ मैं, जीव हू, वैसे ही और भी तो जीव है, वे भी तो अपनी युक्ति और तर्कणासे परीक्षा किया करते है। जो मैंने सोचा वह मुझे सही जच रहा। तो जो दूसरोने सोचा वह उन्हे सही जच रहा। हम यहाँ वस्तुस्वरूपके विषयके धर्मकी बात कर रहे है। जैसे कोई लोग हिंसा करते है, बलि चढानेमे धर्म मानते हैं इसकी बात यहाँ नही कह रहे उसका निराकरण तो अहिंसाने कर दिया। हम तो एक धर्मके नामपर जो साम्प्रदायिक झगड़े बढ़ रहे हैं उसकी चर्चा करते है। प्रत्येक सम्प्रदाय वाला जो कुछ भी वस्तुस्वरूपके प्रति कह रहा है उस सबकी बात सच है। जरा उनकी दृष्टिका प्रयोग कर अपेक्षावादका प्रयोग करके आप सुन रहे है तो आपको विदित हो जायगा कि इस दृष्टिसे इनकी बात सच है। फिर एक बात यह भी समझ लेना चाहिए कि मैं किसी सम्प्रदायका बनकर नही जिन्दा रहना चाहता, मैं अपने आतमाका आत्मा बनकर जिन्दा रहना चाहता हूं। जब तक यह मनुष्यभव है तब तक मै आत्माका ही शिशा मानूँ। मुझ आत्माको तो वह उपाय चाहिए कि जिससे शाश्वत दृष्टि मिले। केवल एक यह स्थिति बनावें। यह स्थिति तो अयुक्त है कि मैं हिन्दू हूं, मुसलमान हूं, जैन हूं, अमुक जातिका हूं। भले ही नाम जिनेन्द्रदेवने प्रणीत किया है मगर लोगोने कहा इसलिए नाम लें यह बात ख्यालमे न रखें। मेरे आत्मामे क्या उपाय ऐसा है कि जो मेरेको शान्त करे ? वह उपाय है धर्म। उस धर्मको जिनेन्द्र देवने कहा तो उसका नाम है जैनधर्म। ऐसा धर्म तो अनन्तकाल तक चलता रहेगा, क्योकि वस्तुका स्वभाव कभी मिटता नही है, धर्मका नाम रखनेमें कोई आपत्ति नही, कुछ भी नाम रखलो मगर इसे जान लीजिए कि धर्म नाम किसका है ? 'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तुका जो स्वभाव है वह वस्तुका धर्म है। अब वस्तुका स्वभाव पहिचानने की तरकीब है अपेक्षा। जैसे कोई पुरुष कहते है कि

जीव अनित्य है, क्षण क्षणमे मिटता रहता है, नया-नया आत्मा उत्पन्न होता रहता है। ऐसा कहते हैं बौद्धजन। तो आप देख लीजिए वस्तु सत्स्वरूप होता है, अब कोई उत्पादव्ययसे ही कहे कि आत्मा क्षण-क्षणमें मरता है और क्षण क्षणमे उत्पन्न होता है तो पर्यायकी अपेक्षासे उनका यह सिद्धान्त सत्य उतरता है। जीव हो या पुद्गल हो या कुछ भी हो—क्षण क्षणमें नया-नया बनता चला जाता है। इसमे कौन आपत्ति आयी ? तो पर्यायदृष्टिसे बौद्ध धर्मकी बात सत्य उतरती है। वेदान्ती जन कहते हैं कि आत्मा अपरिणामी है, रंचमात्र भी आत्माका परिणमन नही होता। तो जरा आप द्रव्यदृष्टिसे देखें कि पदार्थ सत् होता है, वह त्रिकालवर्ती स्वभावतः होता है। तो देखो द्रव्यदृष्टिसे यह आत्मा अपरिणामी है, द्रव्यदृष्टिसे सच तो उन्हे वह ही देते हैं। वस्तुस्वरूपके बारेमे जो कोई जो कुछ कहे तो वह सब किसी न किसी नयसे सच उतरता है। यह जैनशासन, भगवान महावीरका सिद्धात यह घोषित करता है कि भाई परस्परमे लडो मत, तुम्हारा भी कहना सत्य है, तुम्हरा भी कहना सत्य है। प्रमाण कर लो और प्रमाण करके इस विकल्पको भी छोडकर इस शुद्ध आत्मामे विश्राम लो। यह बात बताया है महावीर भगवानने। जिसे एक दृष्टात द्वारा समझिये—एक बार कोई चार अधे पुरुष कही जा रहे थे। रास्तेमे उन्हे एक हाथी मिला। एकके हाथमे पेट पड़ा तो उसने कहा—ओह हाथी तो ढोल जैसा होता है, दूसरेके हाथमे पैर पडे तो वह बोला—अरे हाथी तो खम्भा जैसा होता है, तीसरेके हाथमे कान पडे तो वह बोला—अरे हाथी तो सूप जैसा होता है, चौथेके हाथमे सूढ पडी तो वह बोला—अरे हाथी तो मूसल जैसा होता है। वे परस्परमे झगड़ गए वे सब अपनी अपनी बातकी पुष्टि कर रहे थे। वहांसे कोई सूझता पुरुष निकला—पूछा कि भाई तुम लोग आपसमे क्यो झगड रहे हो ? तो उन्होने अपनी अपनी बात कही। तो वह सूझता पुरुष बोला कि भाई तुम लोग झगडो मत। बात तुम सबकी ठीक है। देखो—जिसने हाथीका पेट पकडा उसने समझा कि हाथी ढोल जैसा होता है, तो पेटकी अपेक्षासे इनकी बात ठीक है, तुमने हाथीके पैर पकडे सो ठीक है—हाथी पैरोकी अपेक्षासे खम्भा जैसा है। और तुमने हाथीके कान पकडे सो ठीक है—कानकी अपेक्षासे हाथी सूप जैसा है, और तुमने हाथी की सूढ पकडी तो ठीक है—सूढकी अपेक्षासे हाथी मूसल जैसा है। लो अनेकान्त पद्धतिसे उन चारोकी समस्या सुलझ गई, झगडा खतम हो गया, तो इसी प्रकार वस्तुस्वरूपके बारेमे अनेकान्त द्वारा समस्यायें सुलझ जाती है। यह जैन शासन समस्त मानवोका द्वेष मिटा देने वाला है। धर्म तो एक वस्तुका स्वरूप है। उसका प्रतिपादन करने वाले अनेक नय है। उन नयों से अलग अलग बात कही जाती है। उन नयोसे जो देखा जाता है वह बात सत्य है। उन नयोको समझ लें और समस्त सत्योका प्रमाण करलें, फिर प्रमाणोका भी विकल्प छोड़कर केवल

एक ज्ञाताद्रष्टाकी स्थिति रह जाय और अपने अन्त: प्रकाशमान आत्मीय आनन्दका निरन्तर अनुभव करें। भगवान महावीर स्वामीका यह अनेकान्तरूप उपदेश कितनी गडबडियोंको खतम कर देता है।

(११५) **अपरिग्रहकी आनन्दसाधकता**—भगवान महावीरकी तीसरी बात थी अपरिग्रहकी। आज तो लोगोके मस्तिष्कमे बहुत-बहुत बातें बैठी हुई है। वे समझते हैं कि यदि मैं लखपति हो जाऊँ तो मुझे सुख मिलेगा, करोडपति हो जाऊँ तो मुझे सुख मिलेगा। मगर उनका यह ख्याल गलत है। कही लाखों करोडो अरबोका धन जुड जानेसे सुख शान्ति की प्राप्ति होती हो ऐसी बात नहीं है। शान्ति तो आत्माका स्वरूप है। आत्मा अपने आपके स्वरूपको अपने ज्ञानमें ले तो शान्ति पा सकेगा। शान्ति न कही बाहरसे लाना है और न कही बाहर पायी जा सकेगी। वह तो अपने आपके अन्दरकी चीज है। लोग सुख शान्तिकी खोज कर रहे हैं बाहरमे, बाहरी पदार्थोंमे तो वहाँ सुख शान्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? भगवान महावीरने सुख-शान्तिकी प्राप्तिके लिए अपरिग्रहवादको बताया है। उन्होने दुनिया को उपदेश दिया है कि हे आत्मन्! तुम ज्ञानस्वरूप हो, उसकी सुध लो और जगतके समस्त सकटोसे सदाके लिए छूट जावो। रही एक जीवन चलानेकी बात। तो जीवन तो थोड़ेसे धन से ही चल सकता है। रही साज शृङ्गारकी बात, प्रभुता पाने की बात तो भाई धन वैभवसे तो किसीकी प्रभुता होती नही। हाँ सदाचार हो, ज्ञान हो, वैराग्य हो तो उसकी प्रभुता है। भले ही धन वैभव वालेको उसके सामने न कुछ कह सकें, पर पीठ पीछे तो उसे बुरा ही कहेगे भले ही वह दबाव डाले, किसीको अपने विरुद्ध न बोलने दे, पर उसके भीतरी विचारों को कौन रोक सके? उसके विचारोमें तो आयगा ही कि देखो यह कैसा कृपण है, कैसा दुष्ट है…। देखिये सभी लोग अपने अपने विचार करनेमे स्वतत्र हैं। विचार करनेमे कोई बाधा नही डाल सकता। भले ही कुछ लोग ऐसा सोचें कि इस विचार स्वातंत्र्यसे देशकी हानि होती है—कहो देशकी निन्दा करा दे, कहो देशकी कोई गल्ती हो तो उसे भी अखबारोमें निकलवा दे। देखिये जो पाकिस्तान सरकार अभी थोड़े दिन पहिले अपने आपकी बुद्धिसे सारे काम करनेमे जुट गई, अन्याय नही छूटा, फल क्या हुआ कि आज पाकिस्तान टूट गया, स्वयं दुःखी हो गया। यह फल है विचारोंकी स्वतंत्रताका। सरकार भी मनमानी नही हो सकती; तो अनेकान्तका सिद्धान्त यह विश्वको शान्ति देनेमें समर्थ है। अनेकान्तके बलसे ये अपने आप का सम्यग्ज्ञान पा सकते है। उनका कर्तव्य है कि वे सम्यक्चारित्रमे लगें, सदाचारमे लगें, लोक-व्यवहार सही बनायें, इससे महिमा बढ़ेगी. अपरिग्रहता बढेगी, धनके अधिक बढ़ा लेनेसे प्रभुता

न बढ़ेगी। अगर धन आता है तो आने दो। उसे हटाया न जायगा। जब पुण्यका उदय है तो आयगा ही, पर ऐसा मुग्ध न होना चाहिए कि चाहे दूसरे लोग दुःखी रहे, दूसरोको कष्ट बना रहे और स्वयं धनको जोड़-जोडकर उसे देख-देखकर खुश रहे। उससे कही आपको सुख नही मिल सकता। सुख मिलता है आकिञ्चन्य भावसे। सो यह आकिञ्चन्य भावना बनाइये— दसलक्षणधर्मोंमे आकिञ्चन्य भी एक धर्म बताया गया है। जहाँ यह भाव बनाया जाता है कि मैं अकिञ्चन हू अर्थात् ज्ञानस्वरूपमात्र हू, कोई बाहरी पदार्थ मेरेमे कुछ नही लगा है। मैं सबसे निराला, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ विश्वके समस्त प्राणी भी मेरे ही स्वरूपके समान है कोई मेरा शत्रु नही, इस प्रकारकी भावना बने तो विश्वमे शान्तिकी स्थापना सुगमतासे हो सकती है। नही तो विश्वमे शान्तिकी स्थापना नही की जा सकती। अरे सबके साथ कर्म लगे है। जिसका जैसा उदय होगा उसका वैसा होगा ही। कोई धनिक होगा तो कोई गरीब होगा, कोई मालिक होगा तो कोई नौकर होगा। अरे कर्म तो अपना फल देंगे ही। जो जैसे कर्म करेगा उसे वैसा फल मिलेगा ही? भला हो कि अध्यात्मकी कोई ऐसी बात मिल जाय जिससे पापकर्म काटे जा सकें। इसलिए हमे इतना सावधान रहना चाहिए कि हम पापकी बात न करें। पाप होता है मोहमे, किसी वस्तुमे ऐसा मोह बनाना कि इस बाह्य वस्तुसे ही मेरा गुजारा है, इससे ही मेरा जीवन है। इससे ही मेरा महत्त्व है, और उन चीजोको खूब जोड जोडकर ही रखें, उनका सदुपयोग न करें, उचित वितरण न करें, अगर ऐसा कोई करता है तो उसमे बहुत बडा पापका बध होता है। अपरिग्रहवाद हो, इनका दुरुपयोग तो न हो। दुरुपयोग यही कहलाता है कि सबको फक्कड़ बना दिया। इस तरह क्या साम्यवाद हो जायगा? अरे सब जीवोके साथ अपने-अपने पुण्य पापके उदय है। भले ही कोई एक रास्ता बनाया जाय कि देखो तुम अधिक रोटियाँ न खावो, सब लोग बराबर बराबर खावो पर वहां यह साम्यवाद कैसे चल सकेगा? सबके साथ लगे हैं अपने-अपने कर्म। तभी तो कोई चपरासी होता है तो कोई बडा अफसर, कोई मालिक होता है तो कोई मजदूर। क्या किसीने देखा है अभी तक जो समान बन सके हो? अरे ये सब जीव हैं, इनका जुदा जुदा भाग्य है, जुदा जुदा काम है। जिस जीवका जैसा उदय है वैसा काम होगा। इस साम्यवादको कोई कानूनके ढगसे या कोई जबरदस्ती करवाना चाहे तो वह होना कठिन है और अगर सम्यग्ज्ञानके बलसे यह जीव अपने अन्दर समता धारण करले तो वहाँ साम्यवादकी बात बन सकती है। इस परिग्रहमे आत्मीयताकी भावना न रखें, अपना ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व अपनी दृष्टिमे रखें तो उससे सम्यग्ज्ञानका प्रसार होगा, जगतमे अपरिग्रहकी बात आयगी, विश्वमे सुख शान्तिकी स्थापना हो सकेगी। इसके लिए चाहिए सम्यग्ज्ञान, सच्चा ज्ञान।

(११६) **आत्मज्ञानमें सम्यग्ज्ञानकी पूरकता**—सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमे संक्षेपमे अगर समझना चाहे तो यह समझिये कि जहाँ अपने आपके आत्माके सहजस्वरूपका निर्णय हो वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। बाहरी बातोंका कोई ज्ञान बनाया तो उसका नाम सम्यग्ज्ञान नही। सम्यग्ज्ञानके लिए अभिप्राय विशुद्ध होना चाहिए, कलुषित अभिप्राय न होना चाहिए। सम्यग्ज्ञान हो गया, अब आप निर्णय कीजिए कि मैं क्या हूं, बाहरमे बहुतसे निर्णय बनाते है वैज्ञानिक लोग कि यह चीज ऐसी है यह रसायन ऐसा है। इसको इसमें मिलानेका यह प्रभाव होता है। मगर जो स्वयं जाननहार है, जो स्वयं उसकी व्यवस्था बनाता है वह मैं आत्मा क्या हूं, इसके बारेमें ज्ञान न हो तो वह ज्ञान क्या कहलायगा? इसको तो यो समझिये कि जैसे किसी इन्स्पेक्टरने स्कूलमे खबर भेजा कि हम अमुक तारीखको इतने बजे बच्चोकी परीक्षा लेने आयेंगे। तो इधर मास्टरोने क्या किया कि सभी बच्चोंको दुनियाकी सारी चीजोंका खूब ज्ञान करा दिया। अमेरिका, रूस, जापान आदिमे कहाँ कौनसा पहाड है, कौन सी नदी है, कहाँ क्या प्रसिद्ध है ...., मगर जब इन्स्पेक्टर आया तो बच्चोंसे पूछा कि बताओ बच्चो तुम्हारे गाँवमे से जो नाला निकलता है वह कहाँसे निकला है? तो सभी बच्चे चुप रह गए। उन्हे यह बात पढ़ाई ही न गई थी तो कैसे उत्तर दे दें, तो इसी तरह समझिये कि ये वैज्ञानिक लोग दुनियाकी बाहरी बाहरी बातोका तो खूब ज्ञान करते है, अनेक प्रकारके आविष्कार करते रहते है, पर जो स्वयं जाननहार है उसका कुछ भी ज्ञान नही करते। वे वैज्ञानिक लोग बाहरी कितने-कितने ही ज्ञान करलें, कितने ही आविष्कार करलें, पर उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है। लोग कहते है कि इन आविष्कारोमे तो बड़ी बुद्धिमानी का काम है। तो ठीक है, पर मानो आज ये विज्ञानकी चीजें एक भी न होती तो क्या अपना काम न चलता? अभी १००-५० वर्ष पहिले जब ये वैज्ञानिक आविष्कार इतने नही थे तो क्या उससे लोगोको कोई कष्ट था? वैज्ञानिक लोग ये सब आविष्कार कर रहे हैं, ठीक है करें, उसका निषेध नही किया जा रहा, उसमे खूब तरक्की करें, लेकिन साथ ही साथ अपने आत्माके ज्ञानकी भी तरक्की करें। मैं क्या हू इसका सही निर्णय बनावें। जरा भी विवेक करें, कभी इन्द्रियोको नियंत्रित कर दें, न कुछ देखनेसे मतलब, न कुछ सुननेसे मतलब, न कुछ सूंघनेसे मतलब, न कुछ भी कल्पनायें करनेसे मतलब, न नहीं आने जानेसे मतलब। बस एक सच्चा आग्रह करके बैठ जावें कि मुझे तो समझना है कि मैं क्या हूं? किससे समझना है? क्या किसी गुरुसे, क्या किसी शास्त्रसे? अरे इस समय ये भी प्रयोग छोड दो। यह तो अपने आपको समझायगा, हमे दूसरेसे नही समझना है। इसके लिए क्या करना होगा कि सब प्रकारके बाहरी विकल्प समाप्त करना होगा। यह अपने आपके अन्दर विद्य-

मान भगवान स्वय अनुभव करा देगा कि यह मैं क्या हू ? उसका अनुभव करके जो बात समझमे आती है उसका अनुभव अलौकिक होता है।

(११७) **सानुभव ज्ञानकी विलक्षणता**— मिश्री न खाने वालेसे पूछो—भैया क्या तुमने मिश्री कभी खाया ? तो वह कहेगा कि मैंने तो कभी नही खाया। ··· अच्छा, तो तुम्हें मिश्री के स्वादका भी पता न होगा ? ··· हाँ पता तो नहीं है, बताओ। ··· देखो तुमने गन्नेका रस तो चखा होगा ? ···· हाँ चखा तो है। ··· तो उस गन्नेके रसको जब खूब अग्निमे पकाया जाता है, उसका सारा मैल निकाल दिया जाता है, उससे सीरा तैयार किया जाता है, तो उस सीराका स्वाद तो उस रससे विलक्षण होता होगा ना ? ··· हाँ होता तो होगा। युक्ति तो यही बताती है। ·· फिर उस सीरेको अग्निमे खूब पकाकर उसका सारा मैल निकाल दिया जाता है, उससे शक्कर बन जाती है। उस शक्करका स्वाद तो उस सीरेसे विलक्षण होता होगा ना ? ···· हाँ होता तो होगा। युक्ति तो यही बताती है। ··· फिर उस शक्करको खूब अग्नि मे पकाकर उसका सारा मैल निकालकर मिश्री तैयार की जाती है। तो उस मिश्रीका स्वाद तो और भी विलक्षण होता होगा ? ·· हाँ होता तो जरूर होगा। ··· तो क्या अब समझ मे आया कि मिश्रीका स्वाद कैसा होता है ? भले ही वह कह दे कि हाँ समझ गए, पर उस को अभी सही पता नही पडा। उसको मिश्रीका सही ज्ञान इन शब्दो द्वारा बताया जानेसे न होगा। अरे मिश्रीका एक डला लेकर उसके मुखमे धर दो, उसे खाकर वह झट समझ जायगा कि हाँ मिश्रीका स्वाद ऐसा होता है। तो एक तो हुआ शब्दात्मक ज्ञान, और एक हुआ अनुभवात्मक ज्ञान। यह अनुभवात्मक ज्ञान एक विलक्षण ज्ञान होता है। इसी तरह यह ज्ञान एक तो इन बाहरी पदार्थोंमे दौड दौडकर, उनका विकल्प बना बनाकर, उनमे राग द्वेषकी बुद्धि करके उनका ज्ञान करता है, और एक ऐसा भी ज्ञान होता कि जहाँ कोई भी परपदार्थ ध्यान मे नही रहता, सबका विकल्प छूट जाता, शुद्ध ज्ञाता द्रष्टाकी स्थितिमे रह जाता, सब कुछ उस के ज्ञानमे झलक जाता, तो यो इन दोनो प्रकारके ज्ञानोंमे महान अन्तर है। समस्त पदार्थों का विकल्प छोडकर शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहकर जो ज्ञान किया जाता है वह एक विलक्षण ज्ञान होता है। बाहरी पदार्थोंमे दृष्टि डाल डालकर उनका ज्ञान करने मे तो अनेक सकट ही आते है। अभी आप इन धार्मिक समारोहोमे ही देखलो जिसकी दृष्टि बाहर बाहर ही दौडती रहती है वह कितना संकटमे रहता है और वह सारी धार्मिक क्रियायें करके भी शान्तिका मार्ग नहा पाता। और एक व्यक्ति ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करता हुआ धार्मिक क्रिया सम्पन्न करता है तो वह शान्तिका मार्ग प्राप्त करता है। शान्तिका मार्ग मिलेगा तो एक आत्मज्ञानमे ही मिलेगा, ऐसी प्रेरणा वीर प्रभुने सारे विश्वको दी है। जिसे शान्ति चाहिए

हो उसे अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रहके माध्यमसे चलना चाहिये ।

(११८) **आत्मबोध बिना शान्तिलाभकी असंभवता**—हम आप सब लोग समय-समयपर सुख और दुःखका अनुभव किया करते है और उसमें यह छटनी चाहते हैं कि मुझे सुख तो हो दुःख न हो। इस सम्बन्धमें पहिले यही विचार करें कि ये सुख और दुःख आते किस ढंगसे है ? देखिये—जितना भी हम आपका अनुभव है वह ज्ञानके अनुसार चलता है। हम ज्ञानकी जैसी वृत्ति बनायें ज्ञानको हम जिस ढालमें ढालें उसके अनुसार हमे अनुभव होता है और उस अनुभवके अनुसार सुख दुःखकी प्राप्ति हो रही है। पहिले इस बातका ही सभी लोग निर्णय करलें। देखिये—संसारमे अनन्त काल जन्ममरण व अन्य दुःखोमे व्यतीत कर दिया। अब सुयोगसे आज श्रेष्ठ नरजन्म मिला है और पवित्र जैन शासन प्राप्त हुआ है, इस जैन शासनका यदि लाभ न उठा सके तो मनुष्यभवका पाना न पाना बराबर रहा। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि फिर तो सभी बराबर हो गए। इस भवमे कोई धनसमृद्ध बन जानेसे इस आत्माको लाभ नही हो गया। आत्माका लाभ तो इसमें है कि दुःख न हो, क्लेश न रहे और शान्तिका अनुभव करें। आत्माको प्राप्त तो यह करना है। यह चीज धनसे न प्राप्त होगी, बाहरी इज्जतसे न प्राप्त होगी। वास्तविकता तो यह है कि जब तक कुछ अपने आपके ज्ञानको शुद्ध न कर सकेंगे तब तक हम शान्तिके पात्र नही हो सकते। देखो—आपका कोई काम धंधा, व्यापार लदनमे है और वहाँसे खबर आये कि ४ लाखका टोटा पड़ गया, मानो तार गलत पढ़नेमे आ गया हो, और यह समझ जायें कि चार लाख का फायदा हो गया तो देखो उस समय आप सुखी हो रहे कि नही ? देखो पड़ा तो नुकसान और कर रहे सुखका अनुभव। तो वह सुखका अनुभव हुआ कल्पनाके आधारसे। और मानो वहां हुआ तो हो लाभ और खबर ऐसी मिल जाये कि इतनेका टोटा पड़ गया, नुकसान हो गया तो यहाँ आप दुःखी हो जाते है। तो आपका यह दुःख भी आपकी कल्पनासे आया यहाँके ये सुख दुःख कल्पनासे होते है।

(११९) **ज्ञानकी समीचीनतामें संकटोंकी समाप्ति**—भाई हम आपको यदि इन सुख दुःखोंसे निवृत्त होकर सुख शान्तिमे आना है तो कर्तव्य एक यह करनेको पड़ा है कि ज्ञानका ऐसा सुधार बनायें कि दुःख न हों, सुख हो और हममे पूर्ण सहज शान्ति प्रकट हो। यह बात किसी बाहरी चेष्टासे नही की जा सकती है। शरीरकी चेष्टासे शान्ति न मिलेगी, धन की वृद्धिसे शान्ति न मिलेगी। बाहरी पदार्थोसे शान्ति न मिलेगी। शान्ति वहाँ ही मिलेगी जहाँ शुद्ध ज्ञान हो कि यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा सबसे निराला हू, केवल ज्ञान स्वभावका अधिकारी हूं, यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा केवल ज्ञानकी वृत्तिको ही करता रहता हू और ज्ञान

की परिणतियोंको ही भोगता रहता हू। इस भोगनेका सम्बन्ध किसी बाहरी पदार्थसे नही है। जो बाहरी पदार्थसे सम्बन्ध माने वह अज्ञानी है। परवस्तुके सम्बन्धमे जो भोगनेकी कल्पना करता है वह अज्ञानी है। परवस्तु कैसे भोगा जा सकता है ? प्रत्येक पदार्थकी सत्ता जुदी जुदी होती है। और सत्ता वही कहलाती है जो अपने आपमे उत्पाद-व्यय ध्रौव्यकी कला रख रहा है। यह सत्का स्वरूप है। तो प्रत्येक सत् अपने आपमे ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कर सकता है, पुद्गल अपने आपमे उत्पाद-व्यय करेगा। जो दु.खी होता है वह अपने आपमे उत्पाद व्यय करता है। जो कहता है कि मैने धनको भोगा तो उसने धनको नही भोगा, पर वह अपने अन्दर ऐसी कल्पना बना लेता है कि मैने धनको भोगा। मैं किसी भी परपदार्थको नही करता हू। मैं ऐसा सबसे निराला हू जिसे कहते हैं एकत्वविभक्त। हम अपने स्वरूपमे तो हैं तन्मय और परस्वरूपसे निराले, ऐसे इस अकेले ज्ञानस्वरूप निज तत्त्व का बोध न हो, इस ओर दृष्टि न हो, मैं क्या करता हू, क्या भोगता हूँ, इसका निर्णय न हो तब तक यह शान्तिका पात्र नही हो सकता।

( १२० ) **ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको समा देनेकी कलामें संकटमुक्तिका अवसर**—शान्ति लाभ लेनेके लिए हमें क्या करना चाहिए ? अपने आपके ज्ञान परिणतिमे कोई परिवर्तन करना है। जिस ढगसे अपने ज्ञानको प्रवर्ताते आये हैं उसमे सुधार करना होगा। कितना किस ढंग से प्रवर्ताते आये है ? इसके निर्णयमे सक्षेपमे दो बातें हैं—देखो यह उपयोग जब परकी ओर उन्मुख होता है तो इसकी सब कलायें अज्ञानरूप चलती है और जब यह उपयोग स्वकी ओर उन्मुख होता है तो इसकी सब कलायें ज्ञानरूप चलती हैं। जैसे एक उदाहरण ले लो—पानीके अन्दर तैरने वाला कोई कछुआ जब कभी पानीके बाहर अपनी चोचको निकालकर यत्र तत्र घूमता है तो उसकी चोचको चोंटनेके लिए सैकड़ो पक्षी उसपर मंडराते हैं। वह बेचारा कछुवा हैरान होकर यत्र तत्र भागता फिरता है, दु.खी होता फिरता है। और, कोई मानो उस कछुवेको समझा दे कि रे कछुवे तू क्यो व्यर्थमे दु.खी होता फिरता है। अरे तेरे अदर तो एक ऐसी कला पडी भई है कि यदि तू उसका उपयोग करे तो फिर हजारो लाखों पक्षी भी तेरा कुछ नही कर सकते।...क्या कला है वह ? अरे एक वेथा पानीमे तू डूब तो जा, बस तेरे सारे संकट समाप्त हो जायेंगे। ठीक ऐसे ही यह जीव व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है। इसने अपने उपयोगकी चोचको बाहर निकाल रखा है। इसकी दृष्टि बाहर बाहर ही रहा करती है। बाह्य पदार्थोंमे ही यह अपना लगाव रखता है, यही कारण है कि इसपर अनेक संकट छाये है। पर ये ज्ञानी पुरुष संत जन समझाते है कि रे प्राणी तू क्यो व्यर्थमे दु.खी हो रहा है ? अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि यदि तू उसका उपयोग कर ले तो तेरे सारे सकट समाप्त हो

जाये ? वह कौन सी कला है ? वह कला यही है कि तू अपने ज्ञानस्वरूपमे जरा डूब तो जा, बस तेरे ऊपर आने वाले सारे संकट तुरन्त समाप्त हो जायेंगे। तू बाहर बाहर ही अपने उपयोगकी चोंचको निकालकर अभी तक भटकता रहा, बाह्य पदार्थोंको ही अपना शरण, सार सर्वस्व समझा। तेरा उपयोग बाहर बाहर ही भटकता रहा, जिससे कभी अपने अन्त विराजमान परमात्मस्वरूपका भान ही नही किया, कभी अपने ज्ञानसागरमे डुबकी ही नही लगाया यही कारण है कि तू अभी तक हैरान होता रहा, दु:खी होता रहा। जैसे फुटबाल खेलने वाले लड़के क्या करते है ? वे फुटबालको गोदमे लेकर कही चूमते नही, अरे फुटबाल तो जिधर जाता है उधर ही पैरोकी ठोकर पाता है, ठीक इसी प्रकार तेरा यह उपयोग बाहर बाहर ही दौडता रहा, बाह्य पदार्थोंको शरण मानकर उनके पीछे दौड लगाता रहा पर तुझे कही शरण तो न मिली। सर्वत्र तुझे ठोकर ही मिली, धोखा ही मिला।

(१२१) **ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपके ज्ञेय होनेपर कृतार्थता**—हे आत्मन् ! तू अपने ज्ञानमें यह ज्ञानस्वरूप ला तो सही, कभी ऐसी स्थिति बना तो सही, क्षण भरको ही बना, फिर तेरी यह स्थिति तुझे जीवन भर लाभ देगी। एक क्षण भरको ही सही, कभी भी एक ऐसी दृष्टि बने कि मै अपने ज्ञानमे निज ज्ञानस्वरूपको ही लेता रहू, यदि ऐसा कर सके तो इसके संकट तुरन्त दूर होगे नही तो संकट दूर नही हो सकते। धर्म भी यही है। इस धर्मको गृहस्थजन थोडा पाल सकेंगे, साधुजन अधिक पाल सकेंगे, मगर धर्म तो एक ही प्रकारका है मूलमे, केवल एक साधनभेदसे व्यवहारधर्मकी विधिमे भेद है, मगर धर्म तो वह है कि जिससे शान्ति मिले। शान्ति मिलती है ज्ञानमे ज्ञानको समा लेनेके कारण।

(१२२) **सहज स्वभावकी दृष्टिका उपाय**—यह आत्मज्ञानकी कला, यह स्वभावदृष्टि कैसे मिलती है ? तो इसके लिए बहुत कुछ विवेचन है, बहुत-बहुत समझानेकी बातें है। प्रत्येक नयसे हम स्वभावदृष्टिपर आ सकते हैं। आजकल लोग कहते हैं कि निश्चयनय ही हमको कल्याणमे ले जायगा, व्यवहारनय ही हमको कल्याणमे ले जायगा। अरे भाई कल्याण मे तो स्वभावदृष्टि ले जायगी। स्वभावदृष्टि व्यवहारनयके माध्यमसे भी कर सकते, निश्चयनयके माध्यमसे भी कर सकते। वह क्या पद्धति है यह सब स्पष्ट हो जायगा थोड़ा बहुत विवेचन करनेसे, मगर स्वभाव दृष्टिसे हम कल्याण प्राप्त कर सकते है। वह प्राप्त हो सकता है ज्ञानसे, इसके लिए उत्सुकता बनानी चाहिए। जो कुछ हम पर बीतती है वह इन्ही पद्धतिसे बीतती है कि हमारे ज्ञानमे कुछ ज्ञेय आते है और जिस ढंगसे हम ज्ञान करते हैं उस ढगसे हमपर सुख दुःख अथवा आनन्द आया करते है। अब इसमे यह छटनी कर ले कि हम कैसा ज्ञान बनाते हैं कि सुख होता है और कैसा ज्ञान बनाते है कि दुःख होता है

और कैसा ज्ञान बनायें कि आनन्द होगा ? पहिले तो सुख दुःख और आनन्द इन तीनोका विरोध समझिये––दुःख उसे कहते है जो इन्द्रियोको असुहावना लगे, सुख उसे कहते हैं जो इन्द्रियोको असुहावना लगे, ये सुख दु ख दोनो ही क्षोभसे भरे हुए हैं, दोनोमे आकुलता बडी है, पर यह जीव सुखमे समझता है कि आनन्द है और दु खमे समझता है कि कष्ट है, कष्ट दोनोमे है। जरा विवेक बुद्धिसे विचारें तो दु खमे जैसा कष्ट होता है उस ही प्रकार इन्द्रिय विषयोके सुख भोगनेमे भी कष्ट रहता है, मगर इस झंझटपर दृष्टि नही है मोही जीवोको तो वे उसमे मौज मानते हैं। दु ख और सुखसे परे जो आनन्दकी स्थिति है, वहां केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थिति है। कुछ जान लिया, आगे न राग है न द्वेष है, न इष्ट अनिष्टकी बुद्धि है, ऐसा ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थितिमे होता है आनन्द।

(१२३) **ज्ञानकी विपरिणतिमें काल्पनिकता**—देखो जब ज्ञानमे हमारी वैसी कल्पना जगती है कि यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, वह हट जाय, वह इष्ट क्यो नही मिल रहा ? इसीके मायने विकार है। इस प्रकारकी ज्ञानमे जब हम कल्पना बनाते हैं तब हमे कष्ट होता है। यह मेरा गिर गया, मेरा नुकसान हो गया, इससे मेरी बरबादी है, आदिक रूपसे जो नाना कल्पनायें उठती है उन कल्पनाओंसे कष्ट होता है––और जहां ज्ञानमे ऐसी कल्पना जगती है कि यह मेरा हितू है, यह मेरा इष्ट है, यह मुझे सुख देता है, कुछ धन सम्पदा आये, अथवा स्त्री पुत्रादिक आज्ञाकारी हुए, कुछसे कुछ ज्ञेय बने, उसमे यह जीव सुख मानता है। किन्तु ज्ञानमे जब ज्ञानस्वरूप ही समाया रहता है, जैसे प्राणी जानता है बाहरी चौकी फर्स आदिक, सो इनको इनको न जानकर, यह न जानकर यह जाने कि जो जान रहा है वह क्या है ? मैं जो ज्ञानमय अंतस्तत्त्व हू, उसका स्वरूप तो है ना, कुछ न कुछ। इस जाननकी स्थितिको, प्रतिभासमात्र ज्ञानज्योति इस जाननस्वरूपको ज्ञानमे लें तो वहां आनंद प्रकट होता है। तो इसका भाव यह हुआ कि जब हम स्वभावदृष्टि करते हैं तब आनन्द मिलता। तब ही कर्म कटते हैं, इससे मुक्तिकी प्राप्ति होगी। अन्य मन, वचन, कायकी चेष्टावोसे मुक्तिकी प्राप्ति नही होती। तब ध्यानमे लावो कि मेरेको तो स्वभावदृष्टि चाहिए। जैसे लोगोके चित्तमे कुछ न कुछ लक्ष्य रहता है ना, मेरेको मकान चाहिए, मेरेको सम्पदा चाहिए, मेरेको परिजन चाहिए भले मित्र चाहिए आदि, [पर ज्ञानी पुरुष तो यह लक्ष्य बनाता है कि मुझे तो स्व-भावदृष्टि चाहिए। मेरे ज्ञानमे मेरा ज्ञानस्वरूप समाया रहे। मुझे तो केवल यह ही चाहिए। इसे कहते है ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति पानेकी उत्सुकता।

(१२४) **वस्तुस्वातन्त्र्यपरिचय व निमित्तनैमित्तिक भावके निर्णयकी उपयोगिता**—अब स्वभावदृष्टिकी बात कैसे प्राप्त हो ? इसपर जरा विचार करो हमे चाहिए क्या ? स्वभा-

वदृष्टि। याने मैं स्वय सहज जैसा ज्ञानस्वरूप हूं, वह मेरे ज्ञानमे रहे, यही तो चाहिये ना? इसकी पुष्टि कैसे होगी? तो देखिये—इस पौरुषमें सहायक है निमित्तनैमित्तिक भावका और वस्तुस्वातंत्र्यका सच्चा परिचय। मैं एक आत्मा हूं, इसी प्रकार जगत्के जितने भी जीव है वे सब भी एक-एक आत्मा है। यह देह है और इस देहके साथ कर्म भी लगे है। हम आप जो बैठे है वह इन तीन चीजोंका पिण्ड हैं, लगता यह है कि एक ही तो यह बैठा है, मगर वह एक नही है। वह तो तीन चीजोंका पिण्ड है। वे कौन सी तीन चीजें है? कर्म, देह और जीव। एक आदमीने किसीका निमंत्रण किया कि देखो भाई आप कल हमारे यहाँ भोजन करेंगे। हमारी अधिक हिम्मत नहीं है, इसलिए कृपा करके आप अकेले ही आना। और देखो हमारे यहां बुलाने वाला भी कोई नही है इसलिए आप १० बजे स्वयं ही आ जाना। अच्छी बात। अब दूसरे दिन वह १० बजे पहुंच गया भोजन करने तो वह निमत्रण करने वाला कहता है कि भाई साहब आ गए? हाँ आ गए। देखिये हमने आपसे कहा था कि आप अकेले आना, पर आप अकेले क्यों नही आये? अरे भाई अकेले ही तो आये है। कहाँ अकेले आये? आप अपने साथमे इस शरीरको क्यों लाये है? अब भला बतलावो वह अकेले कैसे आवें? देह तो साथ जायगा ही। तो इस जीवके साथ तीन चीजें लगी है—देह कर्म और जीव। इन तीनोंका पिण्ड है यह जीव। अब देखना यह है कि जो कुछ बीत रहा है वह इन तीनके प्रसंगमें बीत रहा है। बाहरमे यह चाहे जीव हो चाहे अजीव हो, उनकी चेष्टासे यहां कोई फर्क नही आता। हम कल्पनायें कर लेते है कि देखो उसने मेरे लिए बुरा किया तो ऐसी ऐसी जो भीतरमे कल्पना की उससे बुरा हुआ नही, उसकी चेष्टासे मेरेको दुःख नही हुआ। वह चाहे हजारो कुछ भी क्रियायें करे, पर उससे मेरेमें कोई फर्क नही आता। बाहरी वस्तुके विषयमें कल्पना बनाते है तो चूंकि हमने यहाँ ही कुछ कर डाला इसलिए उसका प्रभाव पडता है, बाहरमें कोई कुछ करे तो उसका कोई प्रभाव नही पड़ता। बाहरी वस्तु है। उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसमें ही है, मेरे पर उसका क्या प्रभाव?

(१२५) **निमित्त नैमित्तिक परिज्ञान द्वारा देह, कर्म व विकारसे विविक्त अन्तस्तत्त्व की दृष्टि**—अब यहां भीतरमे देखो—देह, कर्म, और मैं। तो ये तीनो अलग अलग चीजे है। देहकी सत्ता देहमे है, जीवकी सत्ता जीवमे है और कर्मकी सत्ता कर्ममे है, और परिणमन भी इन तीनोका अपने आपमे अलग-अलग है, किन्तु निमित्त नैमित्तिक भाव यह पाया जा रहा है कि कर्मोदय आये तो जीवमे रागद्वेषकी कल्पना जगती है, बस दुःख तो हुआ रागद्वेषके उठने से, उसमे निमित्त हुआ कर्मका उदय, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है, पर वस्तुस्वातंत्र्य क्या है कि कर्म भले ही उदयमे आ रहे मगर वे कर्म अपने आपमे उदित हो रहे हैं, मुझमे उदित

नही होते है और जो इस कर्मका विधान है उसमे उपयोग लगाते है तो ऐसा उपयोग लगाने की चेष्टा मुझमे है, वह कर्ममे नही है। कर्मकी बात कर्ममे है, मेरे आत्माकी बात मेरे आत्मा मे है, परन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बध अवश्य है। अब इन दोनो बातोके सम्बधमे थोडा समझियेगा। निमित्तनैमित्तिक सम्बध माननेके माध्यमसे भी हम स्वभावदृष्टि तक पहुच जाते है और वस्तुस्वातंत्र्य माननेके माध्यमसे भी हम अपने स्वभाव तक पहुच जाते है। निमित्त नैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्यका होना, उसमे कोई विरोधकी बात नही। निमित्त नैमित्तिक भाव होनेपर भी कर्ता कर्म नही रहता, यह बात बराबर पायी जाती है। भूल यहाँ होती है कि लोग निमित्तको निमित्त न मानकर कर्ता मान लेते है। एक वस्तु दूसरे वस्तुका नही है। पर निमित्तनैमित्तिक भाव अवश्य है। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी कर्ता कर्म भाव एक वस्तुका दूसरेमे त्रिकाल नही है। कही कर्मने मुझमे कोई बात नही किया और न मैंने कर्ममे कुछ किया, किन्तु निमित्तनैमित्तिक भाव ऐसा अवश्य है कि रागद्वेष भाव यदि है तो वहाँ कर्म बन्धन होता, कर्मका उदय हुआ तो ये रागादिक भाव बने, अब देखिये दोनों बातें कि कैसे अपना ज्ञान भोगा जाता है ? ये रागद्वेष भाव मेरे स्वरूप नही है, ये कर्मका निमित्त पाकर आये हैं। जिस प्रकारके कर्मका उदय हुआ उस ही प्रकारसे इस उपयोगने अपने आपमे इस ढगका चेतनभाव पैदा किया। ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव है कि मुझमे भी रागद्वेष आये है, जो मेरे स्वरूपसे, मेरी सत्तासे बिना निमित्तके अपने आप मेरेमे नही आये, इसलिए राग-द्वेष मेरी चीज नही है। उस निमित्तनैमित्तिक भावकी विधिसे हम विभावसे हटकर स्वभाव दृष्टिमे आ गए।

(१२६) **वस्तुस्वातन्त्र्यदृष्टिसे स्वभावकी अभिमुखताका विधान**—अच्छा वस्तुस्वातंत्र्यकी दृष्टिसे कैसे हम स्वभावमें आते ? मैं एक उपयोगमय पदार्थ हू और मैं अपने उपयोग का ही परिणमन करता हू। किसी अन्य वस्तुको नही करता हू, किसी अन्यसे मेरा कोई सम्बन्ध नही है। मै तो उपयोग मात्र हू, अपने आपका उत्पाद व्यय करता रहता हू। तो ऐसा वस्तुस्वातत्र्यको जिसने निरखा उसकी परमें दृष्टि न होनेके कारण वह अपने स्वभावकी ओर आ जाता है। तो वस्तुस्वातत्र्यका ठीक परिचय करना भी मेरे हितमें है और निमित्त नैमित्तिक भावका भाव परिचय करना भी मेरे हितमें है। कोई लोग वस्तुस्वातंत्र्य न मिट जाय इस कारण निमित्तनैमित्तिक भावका खण्डन करते हैं कि निमित्तनैमित्तिक भाव कुछ है हो नही। आत्मामें जिस समय जो परिणमन होता है उस समय जो सामने हो उसको निमित्त कहा जाता है। यद्यपि बात ऐसी है कि आत्मामें जिस समय जो भाव पैदा होनेको है वह होता है, मगर वह होता इसही विधानसे कि कर्मका विपाक हुआ और यहाँ इस जीव

ने स्वतंत्रतासे अपनेमें रागादिक पैदा किया। जिस विधानसे जो चीज होनी है वह टलती नहीं है, वही सर्वज्ञने जाना, अवधिज्ञानीने जाना, इससे सिद्ध है कि जब जो होना होता है वह अवश्य होता है, मगर ऐसा माननेमें विधान नही चलता। जिस देशमें, जिस कालमें जो कुछ होने को है उस देशमें उस कालमें वह होता ही है, इस तरहका निर्णय रखना चाहिए। अब इस विधानको तो हटा दिया, विधानके मायने निमित्तनैमित्तिक भाव। और, एकान्त कर लिया कि जब जो होना है सो होता है, अपने आप जो चीज सामने हाजिर हो उसे लोग निमित्त कह देते हैं, यद्यपि कर्ताकर्मभाव एक ही होनेके कारण ऐसा भी कहा जाता है और उशमे कोई बाधाकी बात नही है, पर वस्तु सामने हो वह निमित्त है, यों अटपट निमित्तव्यवस्था प्रतिनियत है। सर्वतोमुखी निर्णय करें और उसमे जैसी जो प्रतीति हो उस माध्यमसे आप अपना प्रमाण रखें। वस्तुस्वातंत्र्य न मिट जाय, इस कारण निमित्तनैमित्तिक भावके खण्डन करनेमे कोई बुद्धिमानी नही है। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्य रहता है।

**(१२७) निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयका कुछ दृष्टान्त—** देखो एक दृष्टान्त लो— तबला बजाने वाले ने तबला बजाया, तो उसने क्या किया? उसने तो हाथका थप्पड मारा। तबलेपर हाथका थप्पड़ लगनेपर वहाँ भाषावर्गणाके शब्द स्वय शब्दरूप परिणाम रहे है। तो हाथके उस थप्पडने भाषावर्गणाके परमाणुवोको शब्दरूप नही परिणमाया. वह वस्तु अलग है, यह अलग है। उसने हाथका स्पर्श किया तब भाषावर्गणाके शब्द निकले, लेकिन उसमें अपना विधान अवश्य है, जब उसने हाथ लगाया उस विधान पूर्वक भाषावर्गणाके शब्द शब्दरूप परिणमे, तो वस्तुस्वातंत्र्य नही मिट गया। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्य है, किन्तु कुछ लोग कही निमित्तनैमित्तिक भाव न मिट जाय सो वस्तुस्वातंत्र्यका ही खण्डन करते हैं। जैसे कुछ लोग कहते है कि कर्मविपाक निमित्तने किया रागद्वेष। आत्मा कुछ नही करता। कुम्हारने ही बनाया घडा। तो इस तरह निमित्त को कर्ता मानकर और उपादानमे कुछ बनना मानकर वे वस्तुस्वातंत्र्यको मिटाते हैं इसलिए कि निमित्तनैमित्तिक भाव पुष्ट हो जाय, मगर इस उदाहरणमे भी देखिये—कुम्हार कितना है? जितना कि उसके हाथ पैर आदिक वाला शरीर है। तो कुम्हारने क्या किया? उसने तो अपने आपमे अपनी क्रिया की। उसने मिट्टीमे भी कुछ कर डाला क्या? वह मिट्टी रूप परिणम गया क्या? कुम्हारने तो अपने हाथमे अपने हाथकी चेष्टा की। अपनी चेष्टा करते हुए कुम्हारका निमित्त पाकर मिट्टी अपने आपमें अपनी परिणतिसे फैलकर उस ही अनुरूप अपने आपकी परिणति बनाकर घडा रूपमे बन गई। कही वह कुम्हार घडा नहीं बन गया।

तो देखो उस दृष्टान्तमे भी मिट्टी स्वतन्त्रतासे घडारूप बनती है, कही कुम्हारका हाथ लेकर नही बनती। तो निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी वस्तु स्वतत्र है। होता क्या है? कर्मका उदय हुआ तो जैसे कर्ममें अनुभाग रहता है ना क्रोध, मान, माया, लोभ तो वह कर्म भी क्रोध दशाको प्राप्त हो जाता है, मान, माया, लाभ दशाको प्राप्त हो जाता है, मगर उसकी दशा भी अचेतन है, अनुभवकी बात नही है। जैसे स्फटिक पाषाण सामने है और सामने लाल कपडा कर दिया तो स्फटिकमे लालिमा आ गई तो वह कपडा स्वय लाल है। स्वयं लाल रगको प्राप्त जो कपडा है उस कपडेकी सन्निधिमे यह स्फटिक भी लाल बन गया। तो इसी तरह वह कर्म भी स्वयं क्रोध है, स्वय मान है, स्वयं माया है, स्वय लोभ है तो ऐसा क्रोधभावापन्न उस कर्मविपाकका निमित्त पाकर उसके सन्निधानमे ये अशुद्ध जीव भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक रूप परिणम गए है। आत्माका क्रोधरूप परिणमन तो चेतनाभासके ढगका है और कर्म भी क्रोधरूप परिणमे उसके अनुभागके ढगका है, तो निमित्त नैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्य रहता है। तो इसका जो भली प्रकार निर्णय कर लेता है उसको कल्याण मार्गमे विलम्ब नही लगता।

**(१२८) आश्रयभूत कारण व निमित्तकारणके परिचयका लाभ**—तीसरी बात यह है कि जिसे लोग दृष्टान्त देकर कुछसे कुछ सिद्ध करना चाहते है। जैसे ये बाहरी पदार्थ होते तो आश्रयभूत हैं, पर ऐसा उदाहरण देने लगते कि निमित्तसे क्रोध नही होता। देखो नौकर ने यह काम बिगाडा, निमित्त तो मिला मगर कोई क्रोध नही करता। देखो एक वेश्या मरी उसे लोग जलानेके लिए लिए जा रहे थे तो उसे देखकर कोई कामी पुरुष सोचता है कि अगर यह वेश्या कुछ दिन और जीवित रहती तो मैं इसके साथ और मौज मानता। कुत्ता स्याल आदिक सोचते हैं कि यह व्यर्थ ही जलाई जा रही है. अगर ये इसे यो ही छोड़ जाते तो मेरा कुछ दिनोका भोजन बनता। वहाँ बैठे हुए कोई मुनि महाराज इस तरह विचारने लगे कि देखो कैसा दुर्लभ मानव जीवन पाकर इसने व्यर्थ खो दिया। तो अगर निमित्तसे काम होता तो फिर उन सबका एक जैसा भाव होना चाहिये था, लेकिन अलग-अलग काम हुए, इसमे निमित्त कुछ नही है ऐसा लोग कहते है। उनकी बात ठीक है, मगर वह वेश्या शरीर बाह्य पदार्थ निमित्त नही कहलाता, वह तो आश्रयभूत है। निमित्त तो कर्मकी दशा है। मुनि महाराजके कर्म मन्द है इसलिए उनका वैसा भाव हुआ। कामी पुरुषके कर्म तीव्र है इसलिए उनका ऐसा भाव हुआ, इसी प्रकार उन कुत्ता स्याल आदिकके भी कर्म तीव्र हैं इसलिए उनका वैसा भाव हुआ। तो निमित्त बाह्यवस्तु नही होती। बाह्यवस्तु तो आश्रयभूत है, इन बाहरी पदार्थोंको देखकर उनमे कोई राग करे तो वह उसकी मर्जी है, मगर जैसा

कर्मोदय जैसा आगया वैसा झलक गया, लेकिन यदि ज्ञानबल आ गया तो वह उसकी उपेक्षा कर सकता है और अपने आपके स्वभावमें आ सकता है, उस समय अन्य कोई बाधा नहीं पड़ सकती। तो कमसे कम यह निर्णय बनायें कि जो बाह्यवस्तुयें हैं उनका जो समागम मिला है वे मेरे सुख दुःखके कारण नही है। मेरे सुख दुःखके कारण मेरी कल्पना है, इस लिए बाहरमे कुछ भी बिगड जाय क्रोध न लावें, बाहरमें कुछ भी बात बन जाय पर हर्ष न मानें। इन बाहरी बातोके कुछ होनेसे मेरे आत्माका हित अहित नही होनेका, मेरा हित अहित तो मेरे अपने आपकी ज्ञानपरिणतिसे है, इसलिए शान्ति अगर पाना है तो बाह्य-पदार्थोमे संग्रह विग्रह न करना, सुधार बिगाडकी चिन्ता न करना, किन्तु अपने आपमें ही मेरे ज्ञानमें सुधार बने जिससे कि मैं निकट कालमें ही मुक्त हो जाऊं।

(१२९) **आत्मपोषणके लिये स्वाध्यायकी महती आवश्यकता**—एक बात और सक्षेप मे समझें कि मानो यह जीवन १० ५ वर्षोके साधन जुटाकर अपनी कल्पनाके अनुसार कुछ मोज मान लिया तो इससे तुम्हारा क्या पूरा पड़ेगा? मरण होगा, आगे जन्म लेना होगा, आगे की यात्रा करनी पड़ेगी, अनन्त काल पड़ा है। इन १०-५ वर्षोकी मोजसे कुछ भी लाभ नहीं होनेका। तो इन १०-५ वर्षोके लिए अपनी सब कल्पनायें न बनाइये, ऐसा उपाय करें जो सदाके लिए, अनन्त काल तकके लिए मेरी सब आकुलतायें समाप्त होवें। इसका उपाय बन सकेगा भेद विज्ञानसे, आत्मज्ञानसे, आत्मचर्चासे। इसके लिए अपने जीवनमे एक काम नित्य-प्रति करें—क्या? स्वाध्याय और स्वाध्यायके लिए गृहस्थोको उपयुक्त होता है रात्रिको सोने से पहिले और रात्रिमें जगनेसे बाद। ये दो समय इतने उपयुक्त है गृहस्थोके लिए कि वे निर्वि-घ्न स्वाध्याय कर सकते हैं? स्वाध्याय ऐसे ग्रन्थोका करें कि जो सरल हो, जो तत्त्वज्ञानकी बात बतायें। देखो—कोई भी काम तब बनता है जब उसको विधिसे किया जाय। जैसे एक भोजनका ही काम ले लो, वह भी अगर विधिसे किया जायगा तो भोजन करनेको मिल सकेगा। यही बात व्यापारके सम्बंधमे है। आत्मज्ञानका भी ऐसा ही काम है। उसकी भी विधि है। आप उपयुक्त ग्रन्थोका स्वाध्याय कीजिए, विधिवत् तत्त्वज्ञानका मनन कीजिए। कुछ वर्ष तक लगातार विधिवत् स्वाध्याय करने पर आप स्वयं ही उसका अनुभव कर लेगे। आप स्वय अपने आत्माका प्रकाश पायेंगे। उसमे आपको वह आनन्द प्राप्त होगा जो तीन लोककी सम्पदा इकट्ठी हो जानेपर भी नही प्राप्त हो सकता।

(१३०) **हमारा वर्तमान जीवन**—जब हम अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि देते है तो विदित होता है कि मैं ज्ञानमात्र हू, उपयोगस्वरूप हू। ज्ञान प्रकाश ज्ञानप्रकाश ही मेरा सर्व-स्व है, ऐसा जान लेनेके बाद एक यह शका होती है। यह समस्या सामने आती है कि यह

मैं उपयोग मात्र, स्वच्छतामात्र, ज्ञानप्रकाशस्वरूप एक आज क्लेशमयी स्थितिको कैसे और क्यो प्राप्त होता हूं ? आजकी स्थिति बडी भयकर स्थिति है। जन्म मरणके बीचमे थोडासा जीवन मिलता है तो तीन बातें है ना जन्म, जीवन और मरण। उसके बाद फिर भी जन्म, जीवन और मरण यह परम्परा चलती रहती है। जन्ममे भी क्लेश, जीवनमे भी क्लेश और मरणमे भी क्लेश, निरन्तर क्लेश ही क्लेश चले आ रहे हैं। जैसे बांसकी पोरमे कोई कीडा फस जाय और उस बांसके दोनो ओर छोरमे आग लग जाय तो जैसे उस कीडेकी कुशल नही है इसी प्रकार जन्म और मरण ये दोनो ओर छोर हैं, इनमे आग लगी है, बीचमे है जीवन, तो उस जीवनकी कहां कुशल है ? ऐसा जीवन हम आपको क्यो प्राप्त हुआ है इस विषयमे कुछ विचार करना है। इतना तो निश्चित है कि यह स्थिति मेरे मेरेमे अपने आप केवल मेरे सत्त्वकी ओरसे नही हुई है, क्योकि किसी भी पदार्थका सत्त्व उस पदार्थके विवाद के लिए नही होना। तो मेरा सत्त्व मेरे बिगाडके लिए नही हो सकता। तो मैं अपने आपकी ओरसे, अपनी सत्ताकी ओरसे सहज निरपेक्ष होकर स्वय ऐसी विपत्तियोमे पड रहा हू सो बात तो है नही। तब यह निश्चित होता है कि मेरे साथ कोई विरुद्ध उपाधि लगी है, जिसके सन्निधानमे मेरी ये विकार दशायें होती है। किसी भी वस्तुमे अगर स्वभावसे विपरीत कोई विकार दशा बनती हो तो वह किसी विपरीत उपाधिके सन्निधानमे ही बन पाती है। खोजना यह है कि वह बाहरी उपाधि क्या हो सकती है। मैं हू चैतन्यस्वरूप तो बाहरी उपाधि चैतन्यस्वरूप न होगी, मुझसे विरुद्ध होना चाहिए वह उपाधि। तब ही उस सन्निधानसे इस मुझमे विकार आ सकते है। वह समान उपाधि न होगी मैं चेतन हू तो उपाधि अचेतन है। मैं अमूर्त हू तो वह उपाधि मूर्त है लेकिन मूर्त होनेपर अगर इतना मूर्त हो, इतना स्थूल हो कि जिसमे आकार प्रकार दृष्टि गोचर हो, जिसको पकड सकते हो, ऐसा कोई मूर्त पदार्थ हो तो वह भी मेरे लिए उपाधिभूत नही बन सकता है, क्योकि अमूर्तका स्थूलमूर्तिके साथ उपाधिभाव न बन सकेगा। सम्बन्ध ही नही बन सकता। तो वह मूर्त है, अचेतन है तिस पर भी सूक्ष्म है। ऐसी कोई बाहरी उपाधि लगी है जिसे कर्म नामसे कहो, प्रकृति नामसे कहो, दोनो नाम सही हैं क्योकि कर्मका अर्थ है—'क्रियते इति कर्म,' जो किया जाय सो कर्म। यद्यपि किया जाता है आत्माके द्वारा अपना उपयोग याने भाव ही किया जाता है, मगर उन भावोका निमित्त पाकर जो बात बनती है उसे भी कर्म कह सकते हैं। तो वह कर्म स्थूल नही किन्तु सूक्ष्म, अमूर्त नही किन्तु मूर्त, चेतन नही किन्तु अचेतन, ऐसी कोई एक विलक्षण योग्यताको लिए हुए पौद्गलिक कर्मउपाधि साथमे है, जिस सन्निधानमे हम आपको ऐसी विभिन्न दशायें होती है।

**(१३१) नवीन कर्मोंके आस्रवणकी पद्धति**—अब जरा कर्मके सम्बन्धमे दो बातों पर दृष्टि देना है कि ये कर्म बनते कैसे है, आते कैसे है ? और उन कर्मोंके उदयमे इसको रागद्वेष होते कैसे है ? इन दो उपायों पर विचार करना है, कुछ युक्तिसे, कुछ आगमसे, कुछ अनुभवसे सभी आधारोसे इस पर विचार करना है। कर्म आते कैसे है ? तो एक बात सामने आती है कि कर्म आयें और कर्म बंधें तो कर्मका बन्धन अमूर्तके साथ नही हो सकता क्योकि वे मूर्त हैं। मूर्तका मूर्तके साथ बन्धन बनेगा, मूर्तका अमूर्तके साथ बन्धन न बनेगा। बन्धनके मायने है फंस जाना। जैसे रस्सीका एक छोर दूसरे छोरसे गाँठमे किया जाता है इस तरहकी गांठ हो जाना यह न सम्भव हो सकेगा। क्योकि कर्म मूर्त है, आत्मा अमूर्त है, लेकिन हाँ निमित्तनैमित्तिक भाव तो हो सकता है, जैसे कि लोग पुत्रको देखकर बन्धनमें बँध जाते है, मुग्ध हो जाते है, परतन्त्र हो जाते है तो वह पुत्र इतना स्थूल, इतना मूर्त, उसके साथ देखो एक परतन्त्रताका बन्धन बन गया, मगर गठजोरी नही हो सकती। किसी पिताके शरीरमे पुत्रका शरीर गठबन्धको प्राप्त हो जाय सो तो नही है। ऐसे आत्माके साथ पौद्गलिक कर्म गठबंधको प्राप्त हो जाय, ऐसा बन्धन तो नही हो सकता किन्तु मूर्तकर्मका आत्माके साथ, निमित्तनैमित्तिक भाव हो सकता है। हम बाहरी गठबन्धनकी बात कह रहे हैं कि कर्मका बन्धन जीवके साथ नही हो सकता, किन्तु कर्मका बन्धन कर्मके साथ हो सकता है। याने जो अभी सत्तामे पड़े है पहिलेसे बंधे हुए कर्म उनमें नये कर्म आते है और उनसे कर्मों का बन्धन होता है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव ऐसा है कि आत्मामे बन्धन, क्लेश, परायत्तता हो जाती है। यहाँ बहुत तर्क करनेकी आवश्यकता नही, सामने ही विदित होता है कि यह जीव परतन्त्र होता है लेकिन बन्धन है कर्मका कर्मके साथ अब देखिये वे कर्म किस किस तरह है, कार्माण वर्गणायें अब भी जीवमे अनन्त पडी है, जो कि विस्रसोपचय कहलाती है। उनमे कर्म आते है इसके मायने हैं कर्मका आस्रव हुआ। ऐसे कर्मोंका आस्रव होनेमे निमित्त क्या है ? तो देखो प्रसिद्ध बात यह है कि जीवका रागद्वेष, मोहका निमित्त पाकर कर्ममे कर्मपना होता है यह बात यद्यपि सही है फिर भी और जाननेके लिए एक बात और सुनें। नये कर्मके आस्रव होनेमे निमित्त जीवका रागद्वेष मोहभाव नही है, किन्तु उदयमे आ रहे कर्म नवीन कर्मके आस्रवके निमित्त होते है। तब इस उदयमे आये हुए कर्ममे ऐसा निमित्तपना आया कि वे नवीन कर्मके आस्रवके निमित्त बन जायें, ऐसा निमित्तपना होनेमे निमित्त जीवका रागद्वेष मोह भाव है तो नवीन कर्मके आस्रवके निमित्तके निमित्तपनेका निमित्त है रागद्वेष मोह, न कि नवीन कर्मोंके आस्रवका साक्षात् निमित्त है। इतनी टेढ़ी बातको बहुत घुमा फिरा कर कहनेकी आवश्यकता न होना चाहिए, क्योकि आखिर बन्धनका मूल तो जीवका

रागद्वेष हुआ। जीवमे रागद्वेषभाव न हो तो उदयागतकर्ममे निमित्तपनेकी बात नही बनती। जब तक उसमे निमित्तत्वकी बात नही बनती तब तक कर्मका बन्धन नही होता। तब सीधी बात यह है कि जीवमे कर्म रागद्वेष है इसीको सीधा नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्त कहा गया है, ऐसा कुछ समझ लेनेमे उसको अपने हितके लिए बहुतसी प्रेरणाये प्राप्त होती हैं।

**(१३२) उदाहरणपूर्वक नव्यकर्मास्रवणकी विधिका विवरण**—कर्मास्रवके विधानको ठीक समझनेके लिए जरा एक दो दृष्टान्त लीजिए। जैसे सडक पर जो उजेला है अभी प्रकाश है तो यह बतलावो कि यह प्रकाश किसका है ? आम लोग तो यह कहेगे कि यह प्रकाश सूर्यका है, लेकिन एक यह नियम है कि जिस वस्तुमे जो चीज है वह चीज उस वस्तुके प्रदेश में ही रहेगी, उससे बाहर न रहेगी तो सूर्यका अगर वह प्रकाश है तो या तो यह मानो कि सूर्य यहां तक है, बहुत बडा है, पर ऐसा नही है। सूर्य तो करीब पौने दो हजार कोसका है इसलिए सूर्यका रूप, रस, गंध, स्पर्श, प्रकाश आदिक जो कुछ भी होगा वह सब सूर्यका सूर्य मे होगा। उससे बाहर सूर्यकी चीज नही आ सकती। तब फिर सूर्यका वह प्रकाश यहां कैसे आ गया ? यहां तो इस बातको सभी लोग यो समझ रहे है कि सब सूर्यका प्रकाश है और यहां कहा जा रहा कि यह प्रकाश सूर्यका नही है तो फिर किसका है और कहांसे आया ? तो सुनो यह प्रकाश जो जमीनपर है वह इस जमीनका ही प्रकाश है। भीत पर अगर धूप आयी है तो वह प्रकाश उस भीतका ही है। लेकिन वह प्रकाश सूर्यका निमित्त पाये बिना नही हो सकता, इसलिए निमित्त दृष्टिसे एकदम यह कहा जाता कि सूर्यका प्रकाश है। कहने मे गल्ती नही है। लेकिन उसके लिए उसका मंतव्य समझना चाहिए। अच्छा तो यह संदेह होता कि हम कैसे जानें कि यह प्रकाश सूर्यका नही है, यह प्रकाश भीतका है ? तो सुनो—सूर्यका प्रकाश होता तो उसका प्रकाश तो एक सा ही होगा, लेकिन दर्पणपर सूर्यका प्रकाश बडा तेज चमकता है और जमीनपर कम पडता है तो यह भेद क्यो आया ? अगर यह प्रकाश सूर्यका है तो वह तो हर जगह एक समान रहना चाहिए। चाहे भीत पर पडे, चाहे पृथ्वीपर पडे, चाहे दर्पण पर पडे, लेकिन यह भेद क्यो हुआ ? उसका कारण यह है कि यह प्रकाश सूर्यका नही है। दर्पण पर पडने वाला प्रकाश दर्पणका है, भूमिपर पडने वाला प्रकाश भूमिका है, भीतपर पडने वाला प्रकाश भीतका है। सूर्य सामने हो तो ऐसी स्थिति बनती है। दर्पण सामने हो तो सूर्यका निमित्त पाकर इस रूप झलक गया। ये सब उपादानकी विशेषतायें हैं। इस वर्णनसे आप इतना समझ लेंगे कि वस्तुका स्वरूप कैसे स्वतन्त्र होता है ? प्रत्येक पदार्थ स्वय सत् है, अपने आपमे अपना उत्पाद व्यय करता रहता है। यह वस्तु का एकस्वरूप है, ऐसा जाने बिना, स्वतन्त्रताका कुछ बोध हुए बिना लोगोको शान्तिका मार्ग

न मिल पायगा। तो साथ ही साथ इसपर भी दृष्टिपात करते जायें। प्रकृत बात कह रहे थे कि भूमिपर जो प्रकाश है वह भूमिका है, सूर्य भी प्रकाशमान पदार्थ है, स्वय प्रकाशित है और परके प्रकाशमें निमित्तभूत है। भूमि ऐसा पदार्थ है कि वह स्वयं प्रकाशित नही है, किन्तु सूर्यका निमित्त पाकर प्रकाशित हो जाय, इतना उसमे माद्दा है।

(१३३) **निमित्तमें निमित्तत्वके निमित्तकी मौलिकता**—दर्पण पर जो प्रकाश आया है वह दर्पणका प्रकाश है और उसमे सूर्य निमित्त है, और कदाचित् उस दर्पणको सडक पर खडे खडे ही इस हालकी तरफ कर दिया जाय तो प्रकाश हालमे आ जाता है, बच्चे लोग अपने खेलमें ऐसा किया भी करते हैं। अब बतलाओ उस हालमे जो दर्पण द्वारा प्रकाश आया उस प्रकाशका निमित्त कौन है ? उस प्रकाशका तो दर्पण निमित्त है सूर्य नही। और दर्पण पर जो प्रकाश आया है उसका निमित्त सूर्य है, लेकिन दर्पणमे ऐसा निमित्तपना आया उसमे सूर्य सन्निधान निमित्त है जब कि यह दर्पण कमरेके अन्दरके प्रकाशका निमित्त बना। इसके लिए निमित्त है सूर्य। इसलिए एकदम यहांके प्रकाशको भी सूर्यका प्रकाश कहा जाता है, पर गहरी दृष्टिसे अगर देखा जाय तो कमरेके अन्दर आने वाले प्रकाशका निमित्त है दर्पण और दर्पणमे प्रकाश आनेका निमित्त है सूर्य। इसी तरह यहां देखें कि नवीन कर्मोंके आश्रवका निमित्त है उदयमे आये हुए पुद्गल कर्म और उन पुद्गल कर्मोंमें ऐसा निमित्तपना आ जाय कि वे नवीन कर्म निमित्तके आश्रव बनें इसमे निमित्त है ये रागद्वेष मोह भाव। यह सब समझ लीजिये कर्मबन्धनकी तरकीब।

(१३४) **आस्रवकी मुद्रा**—अब देखिये—ये आश्रव कैसे क्या हुआ करते है। तो आश्रव के मायने आना और बधके मायने बँधना। बंधन कब होता है जब कमसे कम दो समय तक ठहरे। स्थिति पड़ी, उसके साथ बध होना पडता है। स्थिति तो सागरो पर्यन्त चलती रहती है। इस समय बहुत पहिलेके बांधे हुए कर्म भी इस आत्माके साथ बँधे है। देखो—हम आप लोगोकी वर्तमान स्थिति कुशलताकी नही है। अगर ऐसा वैभव समागम आज पाया है तो इसमे मौज न मानें और अपनी शान्तिके लिए अपने को सुखी बनानेके लिए ऐसा विचार करें कि मेरेको जो वैभव मिला है वह मेरी जरूरतसे कई गुना अधिक है। इतने की जरूरत न थी। कैसे जाना कि जरूरतसे अधिक है ? देखो—इससे भी कई गुना कम मिलता तो भी गुजारा होता कि नही ? और लोगोंका भी गुजारा हो रहा कि नही ? तो ऐसा ही जान कर सतोष करना चाहिए। तृष्णा न करें और दूसरोका देख देखकर मनमे मोहभाव न लायें। जो हो रहा है ये सब कर्मके ठाठ है। इनसे मेरे आत्माका उद्धार नही है। यहांकी मौजमें न आयें। यह सब पूर्वबद्ध कर्मका विपाक है जो नाना स्थितियां बन रही हैं और

कभी कोई क्लेश आये तो उसमें खेद न मानें और यहां तक कि प्रभुसे प्रार्थना करें तो यह प्रार्थना न करें कि हे भगवन मुझे विपत्ति न आये। हे भगवन मेरे पर कोई उपसर्ग न आये, निर्धनता न हो, अरे मांगना ही है तो यह मांगो कि हे प्रभो! मेरेमे ऐसा ज्ञानबल प्रकट हो कि चाहे कितने ही कष्ट आ जायें, मैं उनको समतासे सह लूं, याने मुझे कष्टसहिष्णुता प्राप्त हो। देखो—भगवानसे मांननेसे कुछ मिलता नही और मांगनेकी कोई हद भी नही होती। एक सहनशीलता (कष्टसहिष्णुता) आ गई तो फिर किसी भी प्रकारका दु ख हो तो चलो उन दु.खोसे निवृत्त तो हो गए। तो यह सब जितना जो कुछ हो रहा है, विकल्प होते है, अज्ञान होता है, रागद्वेष होते है, कल्पनायें उठती हैं, लगाव बनता है। यह सब कर्मविपाक है। ये भावास्रव व द्रव्यास्रवकी द्विविधामे पडे रहते है।

(१३५) **कर्मविपाक व जीवविभावका परस्पर योग**—अब दूसरी बात इसी सम्बन्ध मे कहना है कि ये कर्मविपाक कैसे होते है ? कर्मफल कैसे मिलता है ? तो ग्रन्थोमे लिखा है, सतजनोका उपदेश है कि कर्म जब उदयमे आते हैं तब इस जीवके रागद्वेष मोह होता है। पर एक बात विचारिये जो कर्म बधे हैं उन कर्मोंमे स्थिति भी पडी थी कि ये कर्म इतने वर्ष तक जीवके साथ रहेगे और उनमे अनुभाग पडा था कि जब ये कर्म उदयमे आयेंगे तो उसमें इतनी शक्ति वाले रागद्वेष इसमे पैदा होगे। तो आप समझिये कि जिस जीवमे रागद्वेष पैदा होते है यह तो बादकी बात समझिये लेकिन जो कर्म बधे है उन कर्मोंमे रागद्वेष पहिलेसे ही भरे हैं। जब कर्मका उदय आयगा तब जीवमे रागद्वेष होगे लेकिन कर्म जबसे बंधे है तबसे लेकर लगातार अब तक उसमे रागद्वेषके अनुभाग पडे हैं, जिन्हे अनुभाग कहते है। ग्रन्थोमे करणानुयोगमे बताया गया है कि इसमे इतने अनुभागका राग है इतने अनुभागका द्वेष है। क्रोधप्रकृति नाम क्यो धरा कि इसमे क्रोधन दशाकी प्रकृति पडी हुई है; मानमे मानकी प्रकृति पडी है, उसी पर तो नाम है। बँधते के साथ ही उसमे अनुभाग आ गया था। तो ध्यान हम आपका इस ओर दिलाते है कि जो आपको सरल पडेगा। बीचमे जो थोडासा कुछ कठिन प्रकरण आ गया है उसको सुनकर अधीर न हो जाना। बात यह बतला रहे हैं कि जो प्रकृति पडी उसमे क्रोध, मान, माया, लोभकी प्रकृति पडी है और उसमे उस प्रकार का अनुभाग पडा है और जब उदयमे आता है तो क्रोधप्रकृतिमे क्रोध प्रकट होता है, लेकिन यहां यह बात जाननेकी है कि वह अचेतन प्रकृति है। आप उसको महसूस करना चाहेगे अपने ढगसे तो वह स्वरूप न मिलेगा। उस क्रोधमे क्रोध न होता है मगर वह अचेतन क्रोध न है। जैसे समयसारमे अनेक जगह बताया है कि क्रोध, रागद्वेष, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति ये दो दो प्रकारके है—चेतन और अचेतन। अचेतन क्रोध है तो कुछ बात तो होगी या

जिस चाहे कर्मका नाम क्रोध धरो या उसमें मान माया आदि नाम न रखो, इसका कारण क्या है। एक विलक्षणता है। विलक्षणता क्या है कि क्रोधमे क्रोधनदशा प्रकट होती है। बात यहाँ तक कुछ कठिन थी, आगे आप समझेंगे कि जिस समय कर्म उदयमे आते है उस समय तो उस कर्ममे क्रोधकर्ममे एक क्रोधन दशा हुई। वह क्रोधन दशा तत्काल हुई, उस ही समय इस उपयोगस्वरूप जीवमे अनेक बातें एक साथ पैदा हो गई। क्या ? चेतना, प्रतिभासना, उसका क्षोभ होना, उसका लगाव होना, उसको अहंरूपसे अगीकार करना, और वह होता है चेतन-रूपसे। जैसे एक स्फटिक स्वच्छ पत्थर है, स्फटिक पाषाण स्वयं ही लाल, काला, पीला आदिक रूप नही होता, वह तो स्वयं स्वच्छ होता है, किन्तु उसमे लाल, काला, पीला जो कागज अथवा कपडेकी उपाधि लग जाती है उससे वह स्फटिक उस रंगका हो जाता है। मगर वहाँ यह भेद अवश्य है कि उस स्फटिकमें लाल पीला आदिक रूप परिणमन और ढगका है और कपडा अथवा कागज और ढंगका है। तो उसी प्रकारसे अचेतन क्रोध प्रकृतिमे जो क्रोधन अवस्था है वह अचेतन है, वह उसके ढगकी चीज है, जैसा अनुभाग बांधा था उसका निमित्त पाकर इस जीवमे चूंकि यह उपयोगमय है, स्वच्छस्वरूप है, तो इसकी स्वच्छतामे विकार आया है, वह विकार किस तरहका आया है ? जिस जिस तरहकी प्रकृतिका उदय है। अब जो इन विकारो को अपनाते है उन्हे तो कहते है मोही अज्ञानी, मैं क्रोधी हूं, मानी हू, इस तरह अपने आपको मान लेते है वे कहलाते है अज्ञानी। और जो यह जानते है कि यह सब कर्मकी लीला है, कर्म का परिणाम है, इसे आत्मा नही करता है उसे कहते हैं ज्ञानी, इसका सकेत समयसारकी ७५ वी गाथामे दिया हुआ है। 'मोहरागद्वेषसुखदु:खादिरूपेणातः उत्प्लवमान कर्मण. परिणाम' कर्मों के परिणाम मोह रागद्वेष सुख दु:ख आदिक रूपसे अंतरगमे उठ रहे है. उनका व्याप्य व्यापक सम्बंध कर्मके साथ है। ये सब बाते इस बातको पुष्ट करती है कि उन प्रकृतियोमे ऐसी अव-स्था होती है और यह उपयोगस्वरूप आत्मा उस क्रोधादिभावायन्न कर्मविपाकका निमित्त पा कर यह स्वय रागद्वेषरूप चेतन रागद्वेषरूप परिणमता है, यही इसके साथ क्लेश है।

(१३६) **क्लेश भी एक और क्लेश मेटनेका उपाय भी एक**——जीवके चिदाभासरूप क्लेशको मेटनेका एक उपाय है। पहिले तो यह जानें कि हम आपको क्लेश कितने है, लोग तो बतायेंगे कि हमारा लडका यो नही बन सका, इसका क्लेश है। यो लोग पचासो तरहके क्लेश बतावेंगे, पर वास्तवमे क्लेश सिर्फ एक है——क्या ? परको निज मानना, उस परमे स्व का विकल्प करना, बस इतना ही क्लेश है। बाकी कितने ही क्लेशोके नाम लेकर कहा जा रहा हो लेकिन वे सब क्लेश उठे किस तरह है, उनकी पद्धति क्या है ? तो बताना यह चाहिये कि परको निज जान लिया, परमे लगाव लगा लिया, परकी ओर उपयोग बना लिया, बस

यही मात्र एक क्लेश है। तो इस क्लेशको दूर करनेके उपाय कितने होंगे? नाना नही हो सकते। वह भी उपाय एक है, परसे विमुख हो जाय और निजके सम्मुख हो जाय। स्वमे स्व का अनुभव करना, परको पर जानना। 'निजको निज परको पर जान, फिर दु:खका नहि लेश निदान।' इन दु:खोसे मुक्त होनेका उपाय है जिसे सरल भाषामे कहो—भेदविज्ञान। भेदविज्ञानका अर्थ है—परको अपनेसे भिन्न समझना। देखिये– मकान, वैभव, सोना, चाँदी आदिक अपनेसे निराले है ना, और जो घरमे परिजन है, कुटुम्बीजन हैं वे भी हमसे निराले है ना, और यह शरीर यह भी निराला है, कमसे कम कहते तो जावो (हसी) अच्छा, और जो भीतरमें कर्म बँधे है वे भी निराले है और इन कर्मोंके उदयसे जो रागद्वेष मोह पैदा हुआ वह भी निराला है। वह कैसे निराला है कि जीव सदा रहता है। रागद्वेषभाव सदा नही रहते। मैं मिटने वाला नही हू। ये रागद्वेष कर्मके उदयमे होते और फिर मिट जाते, इससे जाना कि ये रागद्वेष मुझमे न्यारे हैं और मनमे जो विचार उठता है कल्पनाये उठती है, ये भी निराली है कि नही? ये भी निराली है, क्योकि ये सब उपाधि की वजहसे विचार उत्पन्न होते है।

(१३७) **आत्मनिर्णय**—मैं क्या हू? मैं हू एक ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मवस्तु ज्ञायक भाव, ज्ञानमात्र। एक अपने को समझना हो तो ज्ञानमे एक बात लावो कि मैं सिर्फ जानकारी मात्र हू, ज्ञानमात्र हू, ज्ञानसे अतिरिक्त और मैं कुछ नही हू, ऐसा अपने आपमें भाव लावें तो ऐसा ज्ञानमात्र भाव जब चित्तमे आयगा तो ज्ञानमे ज्ञान जब समा गया, ज्ञानमें जब ज्ञानस्वरूप ज्ञेय बन गया तो और विकल्प न रहनेके कारण ज्ञानका अनुभव होगा और उस ज्ञानानुभवमे जो अनुपम आनन्द है वह आनन्द हमारे भव भवके कर्मोंको काट देगा। जन्म मरणके सकटोसे छूट जायेंगे। तो हमे आनन्द पानेके लिए बाहरमे करनेको कुछ नही पड़ा है। यह निर्णय बना लें तो अपने पर बडी दया होगी। शान्ति पानेके लिए बाहरमे कुछ करनेको नही पडा है। किन्तु भीतरमे करनेको पडा है। क्या करनेको पडा है? अज्ञान हटे और ज्ञान ज्ञानके प्रकाशमें आवे—जैसे बोलते हैं 'तमसोमाज्योतिर्गमय,' याने अधकारसे हटाकर मुझको ज्ञानज्योतिमे ले जाओ। फर्क क्या पडा कि अन्य लोग ऊपर नीचे आँखें गडा कर कहते है कि हे भगवन् मुझे अधकारसे उठाकर ज्योतिमे लावो, और यहाँ ज्ञानी अपने आपमे अपने स्वरूपको ज्ञानमे लेकर अपने स्वरूपमे कह रहा है, अपने अतरंगमे पुकार रहा है कि 'तमसोमाज्योतिर्गमय' अर्थात् मेरे अन्दर बसा हुआ अज्ञान अंधकार दूर हो जावे और अपना वास्तविक ज्ञानप्रकाश प्रकट हो जावे। मेरा अज्ञान हटे और ज्ञानप्रकाश मेरेमे आवे तो मेरा भला हो सकता है।

(१३८) **सरस्वती माताका प्यार**—हमारे पूर्व ऋषीसतोने यह स्पष्ट घोषणाकी है

कि यह संसारी प्राणी सुख चाहता है और दुःखसे डरता है। तो मैं तेरे मनके मुताबिक कुछ उपदेश करूँगा। तू घबड़ा नही। लेकिन जैसे किसी बच्चेको किसी विपरीत कामकी धुन लग जाय तो वह उसमें हित मानता और उसकी ही हठ करता है। उसकी माँ उसे कितना ही समझाये, पर उसके मनमे नही आता। क्या माँ कभी उस बच्चेके विरुद्ध भी कुछ कर सकती है ? वह तो उसके हितके लिए ही सारी बातें किया करती है तिसपर भी उस हठी अज्ञानी बालकको जो चित्तमे आया उस ओर ही वह बढता है इसी प्रकार अज्ञानी जीवोको जो कुछ मनमें आया, विपरीत आया है तो वह विपरीत मार्गकी ओर ही चलता है, यह जिनवाणी माँ कितना ही समझाती है लेकिन इसके चित्तमें नही उतरता। क्या यह श्रुत-देवता कभी मेरे अहितके लिए भी बोल सकता है ? जितना जो कुछ यह जिनवाणी बतलाती है, इस शारदा, सरस्वती माँ का सारा प्रयास यही है कि ये संसारी प्राणी दुःखसे हटकर सुखमें आयें। मगर इन अज्ञानियोंकी समझमें नही आता।

(१३९) **सर्वाधिक वस्तुसे प्यारका कर्तव्य**—एक बात यही देखलो लोग यह चाहते है कि मैं अधिकसे अधिक राग बनाये रहूं, प्रेम बनाये रहूं और किससे प्रेम बनाना चाहते हैं जो इनको प्रेमके लायक जँचते है। तो संत भी यह उपदेश करते हैं कि तू सही है, ठीक मार्ग पर है, तू प्यार कर मगर उससे अपना प्यार बना जो सर्वाधिक प्यारकी चीज हो। तुझे प्यार करनेको हम नही मना करते, खूब प्यार कर, डटकर प्यार कर लेकिन प्यार उससे कर जो जगतमे सर्वाधिक प्रिय चीज हो, ऐसी चीजसे प्यार करनेसे क्या लाभ कि जिसका प्यार टिकता नही। अभी प्यार किया कुछ समय बाद वह प्यार छूट गया, दूसरी चीजसे प्यार करने लगा, तो ऐसी चीजसे प्यार करनेसे फायदा क्या ? प्यार कर उस तत्त्वसे, उस वस्तुसे, उस तथ्यसे जो लोकमे सर्वाधिक प्रिय वस्तु हो। अब विचार करें कि ऐसी कौनसी वस्तु है जो लोकमे सर्वाधिक प्रिय होती है। उससे अधिक प्रिय वस्तु नही मिला करती। तो जरा इस बातको एक घटना द्वारा समझिये किसी छोटे ४–६ माहके बच्चेको सबसे प्रिय चीज क्या होती है ? अपनी माँ की गोद। कभी उस बच्चेको कोई डराये तो वह बच्चा अपनी माँकी गोदमे छिपकर अपने को रक्षित समझता है। तो उस बच्चेको सबसे अधिक प्रिय है अपनी माँ की गोद। वही बच्चा जब कुछ बड़ा हो जाता है, ४—६ वर्षका हो जाता है तो उसे सबसे अधिक प्रिय हो जाते हैं खेल खिलौने। अब उसे माँ की गोद भी प्रिय नही रहती माँ उसे खाने पीनेको बुलाती है, पर वह बच्चा खेलमें चित्त होनेसे भाग जाता है। अब उसे सबसे अधिक प्रिय हो जाते हैं खेल खिलौने। वही बच्चा जब बढ़कर ८–१० वर्षका हो जाता है तो उसे सबसे अधिक प्रिय हो जाती है विद्या। नई नई बातें सुनता है, भूगोलकी बातें,

जोड, घटाना, भाग आदिकी बातें सुनता है तो वे बडी प्रिय लगती हैं, अब उसे खेल खिलौने प्रिय नही रहते। वही बालक जब १७, १८ वर्षका हो जाता है तो फिर उसे वह विद्या भी प्रिय नही रहती। उसे प्रिय हो जाती है डिग्री। उसको तो विद्या सीखनेसे मतलब नही, बस किसी तरहसे पास हो जाना चाहिए, डिग्री मिल जानी चाहिए। वह परीक्षा देनेके बाद पता लगाता है कि कापियां किस प्रोफेसरके पास गईं। अनेक प्रयत्न करके वह परीक्षामे पास होना चाहता है तो उसे अब वह विद्या प्रिय नही रहती। वही बालक जब कुछ और बडा हो जाता है तो उसे सर्वाधिक प्रिय स्त्री हो जाती है। अब उसे वह डिग्री भी प्रिय नही रहती। कुछ वर्ष बाद जब कुछ बच्चे हो जाते हैं तो फिर बच्चे उसे सर्वाधिक प्रिय हो जाते है। अब उसे वह स्त्री भी प्रिय नही रहती। कुछ और बडा होनेपर उसे सर्वाधिक प्रिय हो जाता है धन। क्योकि उसे बच्चोका पालन पोषण भी करना है, समाजके लोगोके बीच भी रहना है। अब उसे वे बाल बच्चे भी सर्वाधिक प्रिय नही रहते। मान लो वह किसी दफ्तर मे काम करता हो, कदाचित् टेलीफोन आ गया कि घरमे आग लग गई तो वह झट घर भगता है। वहाँ क्या देखता है कि आग बडी तेज लग गई है। बढती जा रही है तो वह झट घरका सारा सामान निकाल देता है। घरके बाल बच्चोको बाहर निकाल देता है। मान लो कोई बच्चा अभी नही निकल सका, घरके अन्दर ही रह गया तो वह सडक पर खडे हुए लोगोंसे मिन्नत करता है कि भैया मेरे बच्चेको कोई निकाल दो। हम १० हजार रुपये देंगे, अब बताओ उसे क्या प्रिय हो गया ? उसे प्रिय हो गए प्राण। अब उसे धन भी प्रिय न रहा। मान लो कदाचित् उस घटनामे वह विरक्त हो जाय, घर द्वार छोड़ कर जंगलमे पहुच जाय वहाँ पहुचकर वह ज्ञानाभ्यास करे। वहाँ मानो उसे हो गया आत्मस्वरूपका दर्शन। अद्भुत आनन्द प्राप्त कर ले, अब उसे चाहे कोई भी जीव जन्तु चीथे, खाये, मारे अथवा कोई शत्रु सताये फिर भी वह अपने प्राणोकी रंच भी परवाह नही करता। उसे वहाँ प्राण प्रिय नही रहते। वह तो अपने ज्ञानानन्द स्वरूपमे लवलीन रहता है। तो अब उसे सबसे अधिक प्रिय वस्तु हो गई ज्ञान। उसका प्यार आत्महितकारी कदम है।

**(१४०) सर्वाधिक प्रिय तत्त्वकी शरण्यता**—अब ज्ञानके बाद सर्वाधिक चीज क्या हो सकती है सो आप लोग बताओ। इसके बाद भी अगर कोई सर्वाधिक प्रिय चीज हो तो हमे मालूम नही। आप लोगोको अगर मालूम हो तो बताओ। इससे अधिक प्रिय चीज और कुछ तो नही है ना ? तो सर्वाधिक प्रिय चीज है ज्ञान। अब यह समझिये कि सर्वाधिक प्रिय वस्तु, उत्तम वस्तु, शरणभूत वस्तु है तो यह एक ज्ञान तत्त्व है, अपने ज्ञानस्वरूपसे, ज्ञानस्वभावसे इसे प्यार हो तो यह चीज तो सारभूत है और बाकी बातें तो अत्यन्त असार है। अब र।र-

हीन बातें होकर भी कुछ बातें ऐसी है कि जो गृहस्थावस्थामे रह कर करनी पडती है। ठीक है करनी पड़ती है तो करें मगर सही तत्त्व अपनी दृष्टिमें रखें कि मेरे लिए सारभूत है तो अपने अन्तः प्रकाशमान प्रभुस्वरूपकी उपासना ही सारभूत है, बाकी सब असार है। स्थिति है। कैसे समझा ? यह तो प्रकट दिख रहा कि घर मकान मेरेसे भिन्न है, मेरेसे मिले हुए नही है। इनको छोडकर जाना पड़ता है और छूटे हुए तो है ही। देखो आप लोग यहाँ मन्दिरमें बैठे हुए है तो कही आपका मकान आपके साथ चिपक कर तो नही आया। वह आपसे अत्यन्त भिन्न है, असार है, ये धन वैभव मकान महल कुछ भी सारभूत चीजें नही है। मेरे लिए सारभूत चीज है तो मेरा ज्ञान है। अगर उन बाह्य चीजोसे कुछ सुख मिलता है तो वह सुख उन बाह्य चीजोंसे नही आया, किन्तु उन बाह्य पदार्थोंके प्रति जो अपने अन्दर ज्ञान बनाया, कल्पना बनाया, ख्याल बनाया उसका सुख है। आप कदाचित दुःखी हो रहे है तो कही किसी बाह्य पदार्थसे दुःख नही आता, किन्तु आपने उन बाह्य पदार्थोंके प्रति उस ढंगका ख्याल बनाया, ज्ञान बनाया, उससे आप दुःखी हो गए। तो यहांके ये सुख दुःख तो ज्ञानकी कलापर निर्भर करते है। कही धन कम होनेसे दुःख नही होता, परिवारमे किसीके मर जानेसे दुःख नही होता। किंतु जो यह कल्पना बनाया कि हाय मेरा यह चला गया, बस इस ज्ञानकी कल्पनाने ही उसे दुःखी कर डाला। ये सुख दुःख तो कल्पनाके आधार पर चलते है। अगर अपने आपको एक सच्चा ज्ञानप्रकाश हो जाय, तो फिर ये दुःख नही पैदा हो सकते।

(१४१) **ज्ञानकी शुद्ध व अशुद्ध दशावोंके परिणामोंका अन्तर**—जो दुःखी होनेकी विधि है वह भी ज्ञानकी एक दशा है और जो सुखी होनेकी विधि है वह भी ज्ञानकी ही एक दशा है। और जो आनन्द पानेकी विधि है वह भी ज्ञानकी ही एक दशा है। जहाँ भ्रम है वहाँ क्लेश है और जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ उसे आनन्द है। देखो है तो मामूली सी बात पर वहां एक तथ्यका दर्शन होगा। जब कोई सेठ अपनी बारात ले जाता है तो पहिले दिन एक बड़ा जलूस निकालता है, जिसे कहते है चढ़क। यह चढक शब्द ठीक ही रखा गया। चढकका अर्थ है चढ़ गया। किस पर चढ गया ? लडकीके बापपर चढ गया। तभी तो देखो आजकल लडकीका बाप बहुत दु.खी हो जाता है। लोगोके आजकल शादी ब्याहमे बहुत कुछ फिजूल खर्च रख दिया है। उस फिजूल खर्चके कारण लडकीका बाप हैरान हो जाता है। तो पहिले दिन जब चढ़क गया तो उस दिन लड़केका बाप कोई एक हजार रुपयेको आतिशबाजी फूँक देता है। वह भी कोई १०-१५ मिनटमे ही फुँक जाता है। देखो १०००) का नुकसान हो गया फिर भी इस नुकसानसे लडकेका बाप रंच भी दुःखी नही होता। उसके दुःखी

न होनेका कारण यही था कि उसने उसके विषयमे सही ज्ञान पहिलेसे ही बना रखा था, क्या कि यह आतिशबाजी तो फुकनेको ही चीज है। तो इस सही ज्ञानके कारण उसे दु.ख नही होता। और कदाचित् उस सेठका कोई चार-पांच रुपयेका गिलास गुम जाय, मानो १० गिलास लाया था और रह गए ९ ही तो वह उसके पीछे बड़ा दुःखी होता है। उसको वह दुःख क्यो आया ? इसलिए कि उसने उसके विषयमे सही ज्ञान न बनाया था। उस गिलासके विषयमे उसे यह भ्रम बना था कि वह तो मेरा था, वह मेरे पास रहने वाली चीज थी। इस मिथ्या धारणाके कारण ही वह दु खी हुआ। इसी प्रकार अगर यहाँ गृहस्थावस्था मे यह ज्ञान बनाये रहे कि ये जो समागम हैं वे सब विनाशीक हैं, मिटने वाले हैं। यह बात सच है ना ? जितनी सयुक्त वस्तुयें है उनका वियोग नियमसे होगा। जो कुछ भी स्त्री पुत्र पिता वैभव घर इज्जत लोगोके द्वारा कुछ मान्यता है याने ये सब जो मायायें है ये मिटने वाली हैं, यह विश्वास बनाये रहे तो अचानक कुछ भी घटना घट जाय तो आपको क्लेश न होगा और अगर इस श्रद्धासे चिगे तो क्लेश होगा। तो सच्चा ज्ञान ही आनन्दका कारण हैं और भ्रम वाला ज्ञान ही दु.खका कारण है।

(१४२) **सुख दुःखका कारण स्वयंका परिणाम**—सुख दुःख देने वाला कोई दूसरा नही है। 'सुख दु ख दाता कोई न आन। मोह राग रुष दु खकी खान ॥' तो भाई एक निर्णय बने कि मेरेको जितने क्लेश हो रहे हैं वे सब मेरे रागद्वेष मोहसे हो रहे हैं, किसी दूसरी घटना के कारण नही होता। जब अज्ञान छाया हुआ है तो दूसरे जीवोसे यह विरोध रखता है, द्वेष करता है—इसने मुझे सताया। अरे आपका कोई सताने वाला नही है, आपका रागद्वेष मोह ही आपको सताने वाला है। दूसरा क्या कर रहा ? वह तो अपने आपमे अपनी चेष्टा कर रहा है। जैसे एक बालक २० हाथ दूर खडा हुआ किसी बालकको चिढ़ा रहा है। जीभ निकालता है, अगूठा दिखा रहा है, वह तो २० हाथ दूर खडा हुआ बालक चिढ़ता है, रोता है, दु खी होता है। अब भला बतलाओ—उस बालकने इसे दुःखी किया क्या ? अरे उसने तो अपने आपमे अपनी सब कुछ परिणतिकी। अपनी जीभ हिलायी, अपना अगूठा दिखाया। पर वह २० हाथ दूर खडा हुआ बालक दु खी होता है अपनी कल्पनासे। अगर वह यह ज्ञान करे कि इसने अपनी ही तो जीभ हिलायी, अपना ही तो अंगूठा दिखाया, मेरेमे उसने क्या किया ? इस तरहकी दृष्टि बने तो फिर क्यो चिढे ? तो जितने भी लोग दुःखी हैं वे अपने आपकी कल्पना से। जगतमे मेरा कोई दूसरा विरोधी नही है। मैं कल्पनायें करता हूं, और दुःखी होता हू। मैं कल्पनाओको छोड़ूं और सुखी हो लूं।

(१४३) **कल्पनाओकी निर्मूलता**—लो कल्पनायें छोडनेके प्रसंगकी बात सुनो—देखो

जगतके ये लौकिक वैभव मकान सोना चांदी आदिक ये प्रकट पर डले है, भिन्न है, इनसे मेरा क्या तालुक ? परिजन मित्रजन कुटुम्बीजन जितने जो कुछ है वे सब भी मेरेसे जुदे है, इनसे भी मेरा कोई सम्बंध नही। यहां तक कि देहसे भी मैं न्यारा हूं, देह भी मेरा कुछ नही है। मैं क्या हूं ? इस देहसे निराला कोई एक चैतन्यस्वरूप जीव हूं। इसके भीतर एक क्षेत्रावगाह कर्म भी पडे है वे कर्म भी मै नही हूं, क्योकि वे जड है, मै चेतन हू, और जब उन कर्मोका उदय होता है तो इस चेतनमे एक ऐसी छाया आती है जो एक रागद्वेषरूप बन जाता है। तो वह रागद्वेष भी मैं नही हूं। जैसे दर्पणके सामने कोई बच्चा बैठा हो और उसकी छाया दर्पण मे आ रही, तो दर्पणमे जो छाया आयी है क्या वह बच्चा है ? अरे बच्चा वह है जो दूर खडा है, और दर्पणमे जो छाया आयी है वह क्या दर्पणकी असली चीज है ? .... नही। क्योकि बच्चेकी छाया पड रही है। तो जैसे उस छायासे दर्पणका स्वरूप निराला है इसी प्रकार ये रागद्वेष विषय कषाय, इच्छा, विचार संस्कार, कल्पनायें इन सबसे निराला मेरा स्वरूप है। वह स्वरूप है केवल ज्ञानज्योतिमात्र। ये कुछ भी मेरे नही है। ऐसा निर्णय करके ये पदार्थ अगर उल्टे चलते हो तो ठीक, सीधे चलते हों तो ठीक। जैसे चलते हो चलें। इनसे मेरा कोई सुधार बिगाड नही है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा अपनी बनाये रहो। करें अपनी शक्तिके अनुसार। नही करनेकी शक्ति है तो श्रद्धा तो रखें, जानें तो सही कि इसका सब कुछ इसमे ही होता है। इससे निकलकर मेरेमें कुछ नही आता। मेरा सब कुछ मेरेमे ही होता है, मेरेसे निकालकर बाहरमे कुछ भी नही जाता, इस प्रकारकी सच्ची श्रद्धा तो रखे तो अवश्य ही कल्याण होगा। बेड़ा पार होगा। और अगर इस श्रद्धासे विमुख हुए तो कल्याण नही हो सकता।

(१४४) **जीवतत्त्वकी भौतिक पदार्थोंसे विविक्तता**—बात यह चल रही थी कि भाई हमे सुख मिले, दु.ख न रहे, तो ऋषी संतोके उपदेश इसीलिए है कि हमें शान्ति मिले, दुःख न मिले। थोडा विवेक करके सोचेंगे तो सब समझमे आ जायगा और एक विवेकको हटा लेंगे तो कुछ समझमे न आयगा। भीतरमे परखो, बाहरके विचार देखकर जरा अपने अन्दर कुछ निरखने चलें, भीतर जो सोच रहा है, विचार रहा है, ऐसा वह कौन पदार्थ है ? वह पदार्थ है केवल एक ज्ञानस्वरूप। आत्मा और कुछ नही। कुछ लोग कहते है कि ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु मिल गए तो जीव बन गया, मगर यह बात नही है। अगर पृथ्वी, जल, अग्नि वायुके मिलनेसे जीव मिल जाय तब तो बडा गडबड़ हो जायगा। जैसे जब कभी मिट्टीकी हांडीमे खिचडी पकाई जा रही हो तो वहां देखो मिट्टी भी है, जल तो उसमे भरा ही हुआ है, अग्नि भी खूब तेज जल रही है, और हवा भी वहां खूब भरी हुई है। हांडीके अन्दर

पानीका उबाल होता है, भाप निकलती है, तो वहा हवा भी है। अब देखो वहाँ पृथ्वी, जल अग्नि, वायु सभी मिल गए। अगर इन चारोके मिलनेसे जीव बनता होता तब तो उस हांडी मे से हाथी, घोडे, वाघ, शेर सब कुछ निकल पड़ने चाहिए था, पर ऐसा तो नही होता तो उनकी यह बात गलत है। इन चारो चीजोंके सम्बन्वसे जीव नही बनता। जीव तो एक ही सत्वान पदार्थ है, बस जब यह श्रद्धा नही रहती तब वह किसी भी कामका नहीं रहता जीव। दुखी रहता है। अपनी श्रद्धा बनावें कि मैं हू, स्वतंत्र हू अर्थात् मेरी सत्ताको किसी ने बनाया नही। ऐसा बताते ही हैं दार्शनिक लोग, वैज्ञानिक लोग भी यही कहते हैं कि जो असत् पदार्थ है उसकी उत्पत्ति नही होती जो सत् है उसका कभी विनाश नही होता। जो है नही, क्या वह बन जायगा ? जो है क्या वह मिट जायगा ? वे भी बता देंगे कि जिनकी सत्ता ही नही है वे कभी बन नही सकते। और जिनकी सत्ता है वे कभी मिट नही सकते। उसकी दशा कितनी ही बदल जाय मगर वे मिट नही सकते। तो मैं हूं, अपने आपमे हूँ इसका तो विश्वास है कि मेरी सत्ता है। जब मैं हू तो नियमसे अनादिसे हू और जब मैं हू तो नियमसे अनन्तकाल तक रहूगा। अब जो नही रहता है उसे हू न मानें। यह देह नही रहता इसे मैं मत समझें। विकल्प, विचार, ख्याल ये सब होते हैं और मिट जाते हैं, इन्हे मैं न समझें।

(१४५) ध्रुव अन्तस्तत्त्वकी अध्रुवोसे विविक्तता—मैं ज्ञानपरिणामोका आधारभूत कोई ज्ञानज्योतिस्वरूप पदार्थ हूं, उसकी श्रद्धा बनायें और जब मैं हूं तो पहिले भी तो था। यह सोचें कि मैं पहिले क्या था ? तो इस समय मैं अशुद्ध हूं, शुद्ध नहीं हूं। अशुद्ध होता है तो अशुद्धमे अशुद्ध बनता है, शुद्धके बाद अशुद्ध नही बन सकता। तो इतना निर्णय है कि मैं इस भवसे पहिले भी कोई आत्मा था। अब वह मैं अशुद्ध आत्मा क्या था ? तो उसका निर्णय बना लें जगतके जीवोको देखकर। ये पशुपक्षी कीड़ा मकोडा, पेड़ पौधे ये सब जीव जितने दिख रहे हैं बस इनमे से ही तो कोई मैं था। एक बात और संतोंने बताया है कि थे तो जरूर हम ऐसे शुद्ध मगर सबसे पहिले हम कैसे अशुद्ध थे ? जिसे कहते हैं निगोद, बहुत खोटी दशा। याने ज्ञान ऐसा दबा है कि समझो जडवत हो ; जड़ तो नही होते, हैं वे चेतन, मगर वे एकेन्द्रिय हैं और उनमे भी एक निगोद जीव हैं। एक जीवमे जितना वहाँ ज्ञान बताया है वह क्या है ? एक अक्षरके अनन्तवें भाग प्रमाण। ऐसा तो वह ज्ञान है। और जितने भी जीव हैं वे सब एक शरीरके आधीन हैं। ऐसी कठिन दशा है। वहाँसे किसी तरह निकल आये तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति आदिक हुए। फिर वहाँसे और विकास किया तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय आदि जीव हुए। फिर वहांसे भी बड़ी कठिनाईसे निकलकर हम आप आज मनुष्यकी पर्याय

में आये है । अब समझ लो—यहाँ आकर हम आपकी कितनी बडी जिम्मेदारी है । लोग तो पुण्योदयवश जो चाहते हैं सो पा भी लेते हैं, लेकिन इनको पाकर जो मुग्ध हो जाते हैं वे तो अपने आपके भगवान पर हमला कर रहे है । फल इसका क्या है कि मरनेके बाद कुयोनियोमें जाना पड़ेगा । देखो जिसमें विश्वास बनाये हुए है—घरमे, परिवारमे, सम्पदामें ये कुछ भी मदद देने वाले न होगे ! शरीर छोड़कर चले गए, अब इसका कोई साथी नही । न जाने कहाँ उत्पन्न होगे ? अब इसका यहाँ रहा क्या ? तो भाई जब मरनेके बाद कुछ मेरा रहनेका नही, जिन्दगीमे भी अगर यह श्रद्धा बनाये रहे कि ये मेरे कुछ नही हैं, इसीके मायने तो संत पुरुष है । घरमें रहकर भी संत बनें तो सुखी हो जायेंगे ।

(१४६) **सत्यसे विपरीत आचरणमें कष्टोंका समागम**—जो बात सत्य है उसे मानलो । अभी कुछ ही वर्ष बाद सब कुछ छूट जायगा । उसे अभीसे यह समझें कि यह तो मेरेसे छूटा हुआ ही है । मेरेमें कहाँ चिपका है । इससे मेरे आत्माका क्या भला होता है, यह तो तृणवत् असार है । इससे मेरे आत्माके हितका कोई सम्बन्ध नही । इस तथ्यको परख लो, सत्य बातको मान लो अगर नही मानते हो सत्य तत्त्वको तो दुःखी कौन होगा ? कोई दूसरा दुःखी होने न आयगा । जैसे कोई बच्चा रूठ गया है, बहुत रोता है, हठ पकड गया है तो उस बच्चेको बहुत-बहुत लोग समझाते है बेटा हठ न करो, रोवो मत, यहाँ बैठ जावो, कुछ खा पी लो, लेकिन उसने ऐसी हठ पकड लिया कि मुझे तो खाना ही नही है तो वह एक कोनेमे बैठकर रोता रहता है । अब भला बतलावो जब उसने ऐसी हठ पकड लिया तो फिर दुःखी कौन होगा ? उसे ही तो दुःखी होना पड़ेगा । तो भाई यहाँ व्यर्थकी हठोको छोड़ें, पर का आग्रह छोड़ें, अपने आपके स्वरूपकी ओर आयें और यहांका आनन्द लूटें । बाह्य पदार्थोंको ऐसा जानलें कि आखिर ये १०—५ वर्ष बादमे मेरेसे छूट ही जायेंगे तो अभीसे उन्हे छूटा हुआ मान लें । उसके प्रति एक सच्चा ज्ञान बनाये तो आनन्द मिलेगा । और अगर मिथ्या ज्ञान रहेगा तो कष्ट ही सहना पड़ेगा ।

(१४७) **अपने भविष्यनिर्माणका अपनेपर दायित्व**—सम्यग्ज्ञान भेद विज्ञानमे मिलेगा । मैं जुदा हूं, सबसे निराला हू । केवल अपने ज्ञानकी विधिसे सुख, दुःख, आनन्द पाता हू, मेरा जिम्मेदार केवल मै ही हूं । मैं संसारमे एक अकेला केवल अपने आपका जिम्मेदार हूं । अन्य कोई मेरा जिम्मेदार नही । ऐसी श्रद्धा बनावें और उसके अनुसार अपनी कुछ कुछ परिणति बने तो कल्याणका मार्ग मिलेगा । इसीलिए तो हम प्रभुकी भक्ति करते, प्रभुका पूजन करते । प्रभु हो गए ऐसे । प्रभुसे हमारा रिश्ता क्या ? रिश्ता यही है कि जो पुरुष किसीसे मिलता है तो उसके मिलनेका रिश्ता केवल एक यह है कि इनमे कोई बडी चीज है जिससे हमको सुख

प्राप्त होगा और वह मेरेमे आ सकता है। जैसे यहाँ किसी धनिकसे जब यह आशा होती है कि इससे मुझे कुछ धन मिल सकता है तभी तो लोग इसका मान, सम्मान करते हैं, ऐसे ही प्रभुके दर्शन पूजन भी हम इसी उद्देश्यसे करते है कि इनसे मुझे कुछ मिलेगा। उनसे क्या मिलेगा ? अरे उनके पास एक बहुत बडी निधि है। क्या ? ज्ञान और आनन्दकी उत्कृष्टता। बस उनके वैभव स्वरूपदर्शनसे अपने इस वैभवको हम भी प्राप्त कर सकते है इनके दर्शन पूजन के माध्यम द्वारा। यह ही उत्कृष्ट वैभव है। यही मेरेको चाहिये और यह मेरा वैभव मेरेमे आ सकता है। समन्तभद्राचार्य एक बहुत बडे आचार्य हुए हैं। उन्होने पहिले तो देवागम स्तोत्र बनाया, जिसमे यह परीक्षाकी कि मेरा मस्तक किसे नमना चाहिए ? कौन सा देव ऐसा है जो मेरे सिर झुकाने लायक है ? केवल इसकी परीक्षा की। परीक्षा करनेमे जो उन्होने साहित्य निर्माण किया उसमे सभी मतमतान्तरोका जिक्र आ गया है। उसमे उन्होने शुद्ध तत्त्वका जिक्रकर दिया। उसका आधार यह था कि हे भगवन एक आप ही निर्दोष है इसलिए आप के ही चरणोमे मेरा सीस झुकेगा। आप कैसे निर्दोष है सो सुनो—आपकी वाणी युक्ति और शास्त्रसे विरोध नही खाती, इससे जाना कि आप निर्दोष हो। आपकी वाणी कैसे निर्दोष है कि आपकी वाणीसे किसीको कषाय नही होता, आपकी वाणीमे पूर्वापर कोई विरोध नही होता। आपकी वाणी निष्पक्ष है, प्राणिमात्रके हितके लिए है इससे जाना कि आपकी वाणी निर्दोष है। जैसे यहा कोई पुरुष स्वस्थ है या अस्वस्थ, यह बात आप कैसे जानेंगे ? तो यह बात उसकी वाणीसे पहिचानी जा सकती है। किसीको जब सर्दी जुखाम है तो उसकी वाणी और प्रकार की निकलती है और जब बिल्कुल ठीक स्वस्थ दशा होती है तो वह वाणी और तरहकी निकलती है तो जैसे इस वाणीके द्वारा ही किसीको स्वस्थ अथवा अस्वस्थ परखा जाता है इसी प्रकार आपकी वाणीके द्वारा ही हमने परखा कि आप निर्दोष हैं। इस बातको सिद्ध करनेके लिए अनेक मत-मतान्तरोका वर्णन करना पडा। तो पहिले तो यह परीक्षाकी कि ये प्रभु मेरे नमस्कार किये जाने योग्य हैं। फिर युक्त्यनुशासन बनाया जहा भगवानका स्तवन किया और नमस्कार किया।

**(१४८) नयपरिज्ञान न होनेसे कलुषित जनगणमे जैनशासनके निरूपणकी कलिकालमे विडम्बना**—स्तवन करनेसे पहिले यह बात बतायी गई कि हे भगवन, आपका स्तवन कौन कर सकता ? किसीमे यह सामर्थ्य नही कि जो आपके गुणोका वर्णन कर सके। तब फिर तुम कुछ कहते क्यो आये हो बोलो। ··· भगवन् मैं इतना ही कह सकता हू कि हे भगवन, आप ज्ञान और आनन्दकी उत्कृष्ट दशा हैं। देखो इसमे सब बातें आ गई। याने जिसका ज्ञान ऊचसे ऊचा हो, जिसका आनन्द ऊचेसे ऊचा हो, वह है परमात्मा। फिर

एक प्रश्न उत्पन्न होता कि हे समन्तभद्र—भला बतलाओ कि जब ज्ञानानन्द निधान यह परम-ब्रह्म उत्कृष्ट है, इसका जब उपाय बताया गया है तो फिर ऐसे अलौकिक धर्मका दुनियामें प्रभाव क्यो नही फैल रहा ? क्यों नही एक अधिपत्य बन रहा है इस पवित्र जैन शासनका ? इस प्रभुकी प्रभुताका क्यों नही एकछत्र राज्य चल रहा ? तो वहां तीन उत्तर उन्होने दिये—'कलः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा ।' हे भगवन ! तुम्हारे इस पवित्र शासनका जो जगतमें एक छत्र राज्य नही है उसका कुछ कारण है । क्या कारण है सो सुनो—एक तो है कलिकाल, दूसरे—सुनने वाले श्रोनावोका आशय कलुषित है और तीसरे—बोलने वाले वक्ताओको नयोका परिज्ञान नही है । इन ही तीनो कारणोंके कारण हे भगवन, आपका पवित्र शासन एक छत्र राज्य नही कर पा रहा है । अब जरा इन तीनो बातोपर ध्यान दो—कलिकाल है ।

(१४६) **कलिकालकी जैनशासनप्रसारमें बाधकता**—कलिकालका क्या असर है ? इसे एक कथामे बताया है कि जैसे मानो कलके दिन कलिकाल लगना है तो उससे एक दिन पहिले एक आदमीने किसीके हाथ अपना टूटा फूटा मकान बेच दिया । उस मकानको खरीदने वाले ने खुदवाया तो एक अशर्फियोसे भरा हुआ हंडा मिला । सो वह मकान खरीदने वाला बेचने वालेके पास जाकर कहता है कि भैया अपना यह अशर्फियोसे भरा हंडा ले लो । यह आपके मकानमेसे निकला है, यह आपका है । तो वह बेचने वाला बोलता है—अरे अब मेरा क्यो, मैंने तो मकान बेच डाला । अब उसमें मेरा क्या अधिकार ? वह तो अब आपका हो चुका, मेरा न रहा, अतः इसे आप ही रखिये, मैं न लूंगा । तो खरीदने वाला बोला कि भाई मैंने तो आप का मकान खरीदा है, इस अशर्फियोके हंडेको नही खरीदा, अतः यह मेरा नही है, इसे आप लें । यो वे दोनो ही उसे अपने पास रखनेको तैयार न हुए । आखिर यह विवाद ऐसा बढा कि राजाके पास न्याय करवानेके लिए वे पहुंचे । जब राजाके सामने उन दोनोने अपनी-अपनी बात रखी तो राजा उन दोनोकी बात सुनकर बडा हैरान हुआ । उस समय तो कुछ निर्णय न दे सका, बोला कि इसका न्याय हम कल करेंगे । अब देखिये—एक ही रात्रिके बादमे कलिकाल लगने वाला था, लगा नही था, लगने ही वाला था, उसी रात्रिको उन तीनोके परिणाम बदल गए । मकान बेचने वाला सोचता है कि देखो मैंने कितनी वेवकूफीकी । अरे वह देने ही तो आया था, लेने तो न आया था, तो कलके दिन तो मैं उसे ले लूगा । यो ही मकान खरीद ने वाला सोचता है कि अरे मैंने कितनी बेवकूफी की । मं व्यर्थ ही अशर्फियोंका हंडा उसे देने गया था, अब कलके दिन मैं ही अपने पास उसे रख लूंगा । ऐसे ही राजाके मनमे भी ऐसा विचार हुआ कि देखो ये दोनो कैसे बेवकूफ हैं । दोनो ही उसे अपने पास रखना नही स्वी-

कार करते । अरे उसपर अब उन दोनोका क्या अधिकार ? वह तो जमीनके अन्दर निकला है, उसपर तो राजाका अधिकार है, अत कलके दिन मैं उसे ले लूगा। तो यह एक कलिकाल की बात सुनायी । देखिये जब कलिकालके प्रारम्भमे ही लोगोकी भावनायें इस ढगकी हो गई तो फिर इस कलिकालके बीचकी तो बात ही क्या कही जाय । तो हे भगवन, कलिकाल है इसलिए आपका यह पवित्र शासन एक छत्र राज्य न कर सका । देखिये—आपके इस पवित्र शासनकी बडी महिमा है। आपका धर्म एक विश्वधर्म है, आत्मधर्म है। आत्माकी बात बतायी जा रही कि रागद्वेष मोह न करो, अपने आत्माका ज्ञान करो, आपके उपदेशमे कोई पक्षकी बात नही है, कोई मजहब वाली बात नही है । तो एक कारण है कलिकाल ।

(१५०) **श्रोताओंके कलुषित आशयोंकी जैनशासनप्रसारमें बाधकता**—सुनने वालो आशय मलिन है—अजी मेरी जैसी बात कहेगे तो मेरे लिए अच्छा है और मेरी जैसी बात न कहे तो काहेके अच्छे। एक बारकी बात है कि किसी राजाके यहाँ कोई पुरोहित शास्त्र पढ़ा करता था। एक बार उस पुरोहितको कही बाहर जाना था सो वह अपने लड़केसे कह गया कि बेटे आज तुम राजाके यहाँ शास्त्र सुना आना सो जब वह पुरोहितका लडका शास्त्र पढ रहा था तो उसमे प्रकरण वश एक बात आयी कि जो तिलभर भी मांस खाये वह नरक जाता है। राजा उस बातको सुनकर बडा दंग रह गया । विचार करने लगा कि देखो आज तो पुरोहितने मुझे अपने बेटेसे गालियाँ दिलवायी है । बडा खेद हुआ उस राजाको । आखिर दूसरे दिन जब पुरोहित राजदरबारमे शास्त्र सुनाने आया तो राजाने बताया कि देखिये पुरोहित जी । कल तो आपने अपने बेटेसे मुझे गाली दिलायी। कैसे ? देखो आपका बेटा यह कह रहा था कि जो तिलभर भी मास खाये वह नरक जाये । तो पुरोहित बोला—हाँ महाराज ठीक ही उसने कहा था—जो तिल भर भी मांस खाये वह नरक जाये मगर उसने यह तो नहीं कहा कि जो बहुत ज्यादह मांस खावे वह नरक जावे । तो राजा बोला हाँ पुरोहित जी आप ठीक कह रहे हैं। तो हे भगवन इन श्रोतावोका आशय कलुषित है इस कारण आपका पवित्र शासन एक छत्र फैल न सका ।

(१५१) **वक्तावोंके नयविषयक अपरिज्ञानकी जैनशासन प्रसारमें बाधकता**—बोलने वालोका नयोका परिज्ञान नही है, वे जरा जरासी बातमे झगड जाते हैं, वादविवाद करने लगते हैं। बातको समझते नही है, तो हे भगवन् यही कारण है कि आपका शासन एक छत्र न फैल सका । तो हे प्रभो, आपकी वाणी निर्दोष है इसलिए आप ही हमारे लिए पूज्य है, आपने जिस वैभवको पाया वही वैभव मुझे भी प्राप्त करना है । आपने जिस पथसे चल कर प्रभुताको प्राप्त किया है वही पंथ मुझे भी अनुकरण करने योग्य है, मुझे वह पथ

मिलेगा आपके प्रति होनेसे, अतः आपका ही शरण मेरे लिए सच्चा शरण है ।

(१५२) **अशुभमें उपयोग होनेका दुष्परिणाम**—जैसे मोटे रूपमें कहते हैं कि उसका उपयोग यहां लगा, उसका उपयोग यहां लगा । जब जाप देते है उस समय उपयोग स्थिर नही रहता, यहां वह भटकता रहता है । बस यहा परपदार्थोंको विषय बनाना और परपदार्थों को विषय बनाकर उनकी ओर धुन रखना, इसीके मायने है उपयोगका भटकना । कही उपयोग आत्माके प्रदेशोंको छोड़कर यहां वहां नहीं भटकता लेकिन यह उपयोग यहां ही बना हुआ, यहाँ ही परविषयोंका आश्रय कर करके जो परकी ओर इसका खिचाव, लगाव और आकर्षण बना रहता है, इसीके मायने है उपयोगका भटकना । जो यह उपयोग भटकता है तो उसमे परपदार्थका विषय होता है । पर पदार्थकी ओर धुन होती है, जहां नही भटकता है, लीन होता है, वहां एक स्वआत्मा विषय रहता है और एक स्व आत्मामें लीन हो जाता है । कोई स्थिति ऐसी होती है कि जो बहुत ऊंचे गुणस्थानमे है, ११ वें १२ वें गुणस्थानमें भी है और भगवंत प्रभुके भी है कि अनायास ही बाह्यके सर्व तत्त्व इसको प्रतिबिम्बित होते है वहां उपयोग नही भटकता, लेकिन हमारी ऐसी ऐसी स्थितियां हैं कि किसी परपदार्थमें चित्त लगायेंगे तो वह हम आपके भटकनेका कारण बनेगा और जिनकी साधना ऊँची हो जाती है, जो अप्रमत्त दशाको प्राप्त होते है उनका उपयोग नही भटकता । यहां हम आपके उपयोग भटकनेकी बात बनी रहती है, तब फिर हमारा कर्तव्य क्या है ? कर्तव्य यह है कि अपने उपयोगको खराब चीजोमे न भटकने दें, अच्छी चीजोमे लगावें । बादमे फिर खराब और अच्छी सबसे निवृत्त होकर एक मात्र ज्ञाताद्रष्टा रह जाय, ऐसी एक स्थिति होती है और उसमें जब यह मन चंचल है और कही न कही जाना ही चाहता है तो हमे मनको ऐसे काम में लगा देना चाहिए कि जिससे यह बुरे कामोसे बचकर अच्छे कामोमे लगा रहे ।

(१५३) **शुभोपयोगोंसे अशुभोपयोगके आक्रमणोंकी विफलता**—एक कथानक है कि एक राजाको देवता सिद्ध हो गया । लो देवताने कहा राजन् आप हमे आज्ञा दीजिए आप जो कहेगे सो हम कर देंगे । और अगर आप हमे काम नही बतावेंगे तो आपको खा जायेंगे । राजाने कहा—अच्छा महल बना दो लो तुरन्त महल बन गया, राजन काम बताओ अच्छा एक सुन्दर तालाब बना दो—लो एक सुन्दर तालाब बन गया । राजन काम बताओ अच्छा सड़क बना दो—लो सडक बन गई । राजन काम बताओ अब तो राजाने सोचा कि यदि मैं काम नही बताता हू तो यह मुझे खा जायगा, सो एक बार उसको एक उपाय सूझा—राजा बोला—अच्छा एक ५० हाथका लम्बा लोहेका डडा गाड़ दो, लो गड़ गया ।....राजन काम बताओ, अच्छा एक ५० हाथकी लम्बी जंजीरका एक छोर उस लोहेके डंडेमे बांध दो और

एक छोर अपने कमरमे बांध लो। लो बँध गई। राजन काम बताओ अच्छा जब तक हम मना न करें तब तक इसमे चढो और उतरो। लो जब वह ऊपर चढा तो नीचे उतरनेका काम पडा है और जब नीचे उतरा तो ऊपर चढ़नेका काम पडा है। तो राजा रक्षित हो गया। तो ऐसे ही यह मन बडा चचल है, यह खाली नही रहता। अब बतलावो मनको क्या काम बतावोगे कि जिसमे अपनी रक्षा बनी रहे? तो मनको लगाता है अच्छे कामोमे तभी अपनी रक्षा है। यद्यपि आत्मतत्त्वके प्रकरणमे यह बात चरम उत्कृष्ट बात है। यह एक ऊँची स्थितिकी बात है। इस उपयोगका कार्य है केवल एक शुद्धस्वभावकी ज्ञानसाधना और आचरणकी। इन दो मे मग्न रहे। यह स्थिति बहुत ऊँची है, मगर इस स्थितिमे जो विषय वासना, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिकके सस्कार लगे है तो ऐसे सस्कार वाले जीव अपनी और जिन्दगी भरमे परिणति क्या करें? तो हमारी प्रवृत्ति ऐसी शुभ होनी चाहिए कि जिममे हमे शुद्धकी खबर रहे और अशुद्धसे हमारा छुटकारा रहे।

(१५४) शुभोपयोगकी कृपालुता—शुभोपयोगमे दो बातें बराबर एक साथ चल रही हैं—वीतरागता और सरागता। केवल राग रागसे शुभोपयोग नही बनता और केवल वीतरागतासे शुभोपयोग नही बनता। केवल वीतरागता है तो वहाँ शुद्धोपयोग बनता है। अशुद्धोपयोग तो अशुद्धमे ही ले जायगा। भला कुछ अनुभवसे भी विचारो कि जब देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिमे आते हैं तो वहाँ वीतरागताकी कितनी सुध रहती है, और जब स्त्री पुत्रादिक परिजनोको भक्तिमे रहते है तो वहा कहा वीतरागताकी सुध रहती है? जब देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिकी जाती है तो वहाँ वीतराग स्वरूपका लक्ष्य प्रधान रहता है. जिससे प्रेरित हो कर हम उनकी भक्तिमे आते हैं। देखिये—जब समवशरण रचा जाता है उस समय सारा स्वर्ग खाली हो जाता है, देव इन्द्र वहाँसे चल उठते हैं और वे बडे नाच गान तानके साथ प्रभुकी भक्तिमे विभोर होकर समवशरणमे पहुचते है। बताइये उन इन्द्रोको किस चीजकी जरूरत हैं? उनको किसी बातकी कमी है क्या? अरे उनके पास तो खूब ऋद्धि है। भूख प्यास आदिककी वेदनायें नही है। अगर कभी भूख प्यास लगी भी तो उनके कठसे अमृत झड जाता है और वे तृप्त हो जाते है। उनको किसी चीजकी जरूरत तो नहीं है, पर वे क्यो भागे जा रहे उस समवशरणको ओर? और किसके पास जा रहे? एक अकिञ्चनके पास, उन प्रभुके पास न धन वैभव रखा है, न मित्र जन है, कुछ भी तो नही रहा, वे तो अकिञ्चन हो गए। फिर क्यो वे देव उनकी ओर भगे जा रहे? और ये देखो—मनुष्योमे राजा महाराजा, चक्रवर्ती आदिक भी उनकी ओर भगे जा रहे। क्या हो गया उन्हे? यह तो एक सन्देह वाली बात है। अरे जिनके पास न कोई दूकान है न रोजिगार है, जो अकिञ्चन रह गए, ऐसे जिनेन्द्र

देवके पास ये सब लोग क्यो भगे जा रहे ? ये पशु पक्षी, बैल, मेढक, नेवला आदिक भी उन की ओर भगे चले जा रहे। तो क्या हो गया उन सबको ? अरे हो क्या गया ? वह सब चमत्कार है एक वीतरागताका, वह महत्त्व है एक शुद्ध ज्ञानका, केवल ज्ञानका कि जिसके कारण तीनो लोगोके इन्द्र नाचते गाते भागते चले आ रहे है। तो जो प्रभुभक्ति कर रहा है अगर उसके लक्ष्यमे राग है तो वह प्रभुभक्ति नही कर सकता। क्या पडी थी उन देवोको, इन्द्रको जो कि प्रभुके चरणोमें नाचते गाते दौडते आये ? यह समझिये कि हम आप इस समय करें क्या ? करना है शुद्धोपयोग। हम अपने शुद्ध स्वभावको लक्ष्यमे लेते है, जो कि हमारा कर्तव्य है उस लक्ष्यके लेने वाली जो स्थिति है वह स्थिति शुद्धोपयोग है कि शुभोपयोग है ? उस शुभोपयोगमे शुद्धोपयोग चल रहा है। एक होता है शुद्धोपयोग। जहाँ रागरहित उपयोग हो उसे कहते हैं शुद्धोपयोग। एक अर्थ है—रागरहित जो शुद्ध स्वभाव है उसके उपयोगको शुद्धोपयोग कहते हैं। तो तृतीय अर्थ वाला भी शुद्धोपयोग है वह तो हम आपके आजकल हो सकता है, मगर कर्मधारय वाला शुद्धोपयोग हम आपके नही हो सकता। जब तक कि ये राग-द्वेप न मिटें। उपयोग तीन भेदोमे पड़ा हुआ है—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। और जो तत्पुरुष वाला शुद्धोपयोग है, जो कि अनादि अनन्त अखण्ड चैतन्यस्वभावके शुद्धनय का विपयभूत है, जिसके मुकाबलेमे जीव, अजीव, आस्रव, बंघ, सवर, निर्जरा और मोक्ष आदिक ७ तत्त्व बताये हैं, ये अशुद्धनय पड़ते हैं, शुद्धनयका विषयभूत जो अखण्ड चैतन्यतत्त्व है वह विषयमे आया है तो वह तत्पुरुष वाला उपयोग है। इस समय इस शुद्धोपयोगकी चर्चा की जा रही है। इस जातिका शुद्धोपयोग जो परिणतिसे शुभोपयोग कहलाता है, वह हमारे होता है। तो हमे निरन्तर जागरूक किस ओर रहना चाहिए कि हमारा लक्ष्य शुद्ध तत्त्वकी ओर रहे, हम उससे गिर न जायें, हम उसके पात्र बने रहे, ऐसा हम आपको अपना उपयोग बनाये रहना चाहिए।

**( १५५ ) शुद्धोपयोगकी पात्रताके साधक श्रावकोके षट्आवश्यक कर्मोंमे देवपूजा व गुरूपास्तिका वर्णन**—शुद्धोपयोगकी पात्रता बनी रहे इसके लिए श्रावकोंके ६ कर्तव्य बताये गए है। देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय संयम तप और दान इन छहों प्रकारके कर्तव्योमे अगर रत्नत्रयका कोई पुट न हो तो ये कभी धर्म नही हो सकते। फिर तो वह एक तरहका व्या-याम है। आप देवपूजा करते हैं तो आपका श्रद्धान पुष्ट होता है, श्रद्धा हो, उसके स्वरूपकी चाह हो, उसके स्वरूपकी ओर आकर्षण हो तब ही तो कोई आदर कर सकेगा, तब ही तो कोई पूजा कर सकेगा। तब ही तो कोई उपासनामे आयगा। देवपूजासे हमारे सम्यक्त्वको बल मिलता है। गुरूपास्ति—गुरुवोकी सेवा कौन कर सकता है ? जब हमे नियम संयम

आचरण द्वारा सम्यक्चारित्रकी पूर्ति होती है तब ही हम मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। धन्य है यह संयम आचरण, चाहे कोइ साधु अटपट हो और जान लिया जाय कि यह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलमे लग गया है तो ऐसे साधुकी तो हम बात नही कह रहे, वह तो साधुपना ही नही है, जो पापमे लगे हो, जो अशुद्ध कार्योंमे लगे है ऐसे साधुओंकी बात क्या करना ? वे साधु है ही नही, पर जो अपनी बुद्धिके अनुसार एक सयमके कार्यमे लगे है, उनकी पहिले परीक्षा कर लें। परीक्षामे सही उतरें तो उनकी उपासना करें। उन साधुवोमे से किस साधु को सम्यक्त्व है किसको नही, इसका कुछ निर्णय नही दिया जा सकता। वहाँ कोई यह नियम नही बना सकते कि इन्हे सम्यक्त्व होगा ही। देखिये—ये मेढक, बिल्ली, गाय, बैल आदिक पशु ये तो कुछ बोलना ही नही जानते, कुछ भी तो नही बोल सकते, लेकिन उनको भी सम्यक्त्व जग सकता है। आपने देखा होगा कि ये बैल जब बड़े आरामसे बैठे होते हैं तो बैठे हुएमे जुगालिया किया करते हैं, याने उनका मुख बडे आरामके साथ चलता रहता है। मान लो कोई बैल आरामसे बैठा हुआ जुगालिया कर रहा था। कदाचित् उसका ध्यान अच्छी ओर लग जाय और शुद्ध तत्वकी ओर उसकी दृष्टि लग जाय तो उसे सम्यक्त्व हो सकता है। एक शुद्ध ज्ञानमात्र चैतन्यस्वभावका जिसने परिचय पा लिया है उसने तो सब जान लिया। बताते है कि जिसने आत्मस्वरूपको जान लिया उसने सब जैनशासनको जान लिया। तो हम जो कुछ भी निर्णय रख सकते है वह जैनधर्ममे बतायी हुई वृत्ति प्रवृत्ति आचरणके द्वारा भान कर सकते है कि हाँ यह हैं हमारे पूज्य गुरुजन। तो गुरुजनोकी उपासना कौन कर सकता है जिसे संयमकी ओर लगन हो, चारित्रकी ओर धुन हो। कब मेरेको सयम प्राप्त हो, कब चारित्र प्राप्त हो, कब मेरा उपयोग ऐसा स्वच्छ रहे कि बाह्य पदार्थोंमे रागद्वेष विरोधभाव न रहे, अपने आपमे ही रत रहा करे। कब ऐसा उपयोग हो ? ऐसी जब भावना भीतरमे बनती है तब ही गुरुवोकी उपासना सेवा बन सकती है। अगर यह भाव भीतरमे नहीं बनता है तो समझो कि वह सब बाहरी दिखावा है, दूसरोको धोखा देना है। वह उल्टा एक व्यायाम है। तो रत्नत्रय क्रियासे सम्बन्ध हो जिस क्रियामे उस क्रियामे धर्म है।

**(१५६) श्रावकोके षट् कर्तव्योंके स्वाध्याय, संयम व तपका निर्देश**—तीसरा कर्तव्य है स्वाध्याय। स्वाध्याय तो बहुतसे लोग करते हैं—पुस्तककी कोई २-४-६ लाइनें बांच ली और उसे रख दिया, लो हो गया स्वाध्याय, लो हो गया स्वाध्यायका नियम पूरा। अरे यह स्वाध्याय करनेका कोई ढग नही है। इस ऊपरी-ऊपरी स्वाध्याय करनेकी रीतिसे स्वाध्यायसे कुछ भी लाभ नही मिलनेका। स्वाध्याय इस रीतिसे हो कि जो दर्शन ज्ञान चारित्रकी रीति

से होता है। स्वाध्यायके मायने है स्वका अध्ययन। जहाँ अपने आत्माका स्वरूप चिन्तवनमें लिया जा रहा हो, जहाँ अपने आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि हो, आत्मस्वरूपका ही जहाँ अध्ययन चल रहा हो वह है वास्तविक स्वाध्याय। संयम—जीवरक्षा करना, प्राणिरक्षा करना, इन्द्रिय संयम करना, इन्द्रियको विषयोमे न लगाना आदिक संयम आचरण है। तो यह संयम कौन कर सकता है? जिसको रत्नत्रय धर्मकी प्रतीति हुई है। आत्मकल्याणकी जिसके भावना जगी है उसके ही सयम वन सकेगा। जो संयम आचरण करता है उसकी सम्यक्चारित्रपर दृष्टि रहती है। तप—इस तपका भी अगर रत्नत्रयके साथ सम्बन्ध है तब तो तप करना कार्यकारी होगा नही तो वह भी एक कोरा व्यायाम ही रहेगा। इसी तरह दान देनेमे भी रत्नत्रयके साथ उसका सम्बन्ध रहे तो वह दान देना कार्यकारी होता है।

देखिये—आचार्यजनोने हम आपपर कितनी परम करुणा करके धार्मिक कर्तव्योंको करनेके लिए बताया है। इस ही साधनामे रहकर स्वरक्षित रहना हो तो अपने भीतरकी साधनाकी कोशिश करें। जैसे किसी राजाका किला जब मजबूत है तो उसका साज-शृङ्गार, हुकूमत वन सकेगा और वह सुरक्षित रहेगा, इसी प्रकार जहाँ हमारा मन जगह-जगह भटकता है तो वहां इन वाहरी धार्मिक क्रियावोंमे रहकर अपनेको सुरक्षित रख सकेंगे क्या? और फिर अंदर ही अंदर अपने उस चैतन्यस्वभावका, उस वीतराग ज्ञानभावका, अपने आपके अंतस्तत्त्वका हम चिन्तन करें, मनन करें, खूब अपना साज शृङ्गार बनायें। अपनी सेवा, अपना शृङ्गार अपना व्यवहार सहज आनन्दस्वरूपमे मिलेगा। उस ही मे प्रवेश करें, उस ही का चिंतन करें और उसही मे खूब आनंद लूटें। खूब अपने निश्चयधर्मका पालन करें। और इस निश्चयधर्मका पालन हम तभी कर सकते हैं जब कि अपने स्वभावको हम स्वरक्षित बना सकें इन विषय कषायोके आक्रमणसे तो संक्षेपमे आप समझ लीजिए कि जैसे १ डिग्रीसे लेकर १०० डिग्री तकका जो राग है उस रागकी कोटिमें आपका शुभोपयोग किस जगहमे मिलेगा? न १ नम्बर वालेमें मिलेगा और न १०० नम्बर वालेमे मिलेगा, किन्तु जो एक वीचकी धारा है उसमें मिलेगा। उसका नाम शुभोपयोग है। वह शुभोपयोग कब होता कि जब इसमे वीतरागता हो और राग भी आया हो। तो उस वक्त जितने अशमे राग है उतने मे आस्रव है और जितने अंशमे वीतरागता है उतने अंशमें निर्जरा है। एक ही भावमे आस्रव, बध, सवर, निर्जरा ये चारो तत्त्व हुआ करते है। जैसे करणानुयोगकी परिपाटीमे छठे, सातवें गुणस्थानमे बताया कि इनमे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा हैं कि नही है और एक ही समय चल रहे है, न रहें क्या ऐसा भी है? ये चारो एक साथ चल रहे है और एक समयकी परिणति एक होती है कि दो? एक समयमे एक द्रव्यमे एक ही परिणति होती है।

एक द्रव्य दो द्रव्योकी परिणति नही कर सकता। जहाँ यह बात है वहाँ यह भी बात है कि एक द्रव्य अपने आपमे एक समयमे एक परिणति करता है, यह भेद विवक्षासे कहते हैं कि ज्ञानपरिणति कर, दर्शन परिणति कर, चारित्र परिणति कर। अगर एक अखण्ड वस्तुको देखा तो उसका जिस समय जो परिणमन है वह एक अखण्ड परिणमन है। जब अशुद्ध हो रहा हो तब भी एक समयमे एक अखण्ड परिणमन है। वह जैसा जो है सो है। तो परिणमन एक है एक समयमे, और उस ही परिणमनको निमित्त करके आश्रव, बध, संवर, निर्जरा ये चारो तत्त्व चल रहे है, विकल्प भी जगे वह स्थिति वीतरागता और सरागता दोनोके मध्य जुडी हुई है कि जितने अशमे वीतरागता है उतने अशमे निर्जरा है, और जितने अशमे राग है उतने अशमे आश्रव है। परिणाम एक है, उसका इस ढगसे निर्माण हुआ है कि जिस ढगमें दो शक्तियां पडी हुई हैं—वीतरागता और सरागता। तो लक्ष्य तो अपना एक वीतराग विज्ञान, रागद्वेषरहित सहज ज्ञानस्वभावका रहे। कहाँ हमे जाना है, कहाँ आश्रय लेना है, इसका तो निर्णय पहिले कर ही लेना चाहिए। मगर वहां तक पहुचनेके लिए हमारा कुछ पौरुष चाहिए। वह पौरुष तपश्चरणके रूपमे, व्रतोके रूपमे आचार्य महाराजने करुणा करके चरणानुयोगकी प्रक्रियामे बताया हैं।

**(१५७) चरणानुयोगकी प्रक्रियाके अनुसार प्रवर्तनेमे पात्रता व सफलताकी संभूति**—चरणानुयोगके अनुसार प्रक्रियामे रहते हुए हम अन्तः अपने आपकी उपासनामे चलें तो अपने उद्देश्यमे सफल हो सकते हैं। तब हम आपके लिए परमार्थतः कोई शरण है तो शुद्धस्वभावका दर्शन शरण है। और शुद्ध स्वभावका दर्शन करनेकी जो हम आपकी आजकी स्थिति है और उसका क्लेश विशेष करनेकी जो आजकी स्थिति है वह हमारा अशुभोपयोग कहलाता है, ऐसे अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगमे आकर हम उस शुद्ध तत्त्वका उपयोग बनायें। उसका चिन्तन करें, उसका अधिकाधिक आलम्बन लेनेकी धुन रखें, यह प्रक्रिया हम आप लोगोके कल्याणके लिए है। इसके अतिरिक्त एक व्यवहार उपासनाके सम्बंधमे हम अपनी श्रद्धाके मुताबिक बात कहते हैं कि जैसे जिनप्रतिमाको देखकर उन भगवन्तोकी स्तुति है, वह हममे उनके प्रति विनय आये बिना नही हो सकती, इसी प्रकार एक दि० जैनधर्मके अनुसार चारित्रपालन करने वालेको निरखकर उन ऋषि सतोकी स्तुतिमे जिन्होने मुक्ति पायी है उनकी याद आती है और उनका याद आनेपर उस धर्मात्मा व्यक्तिके प्रति विनय आये बिना नही रह सकता। और देखिये—स्थितिकरणके जितने अग है उन आठो अगोमे हम आज कहाँ टिक सकेंगे ? न टिक सकेंगे। हम उन ८ अगोकी प्रवृत्ति छोडकर अपना आचरण न बनायें। मान लो कोई साधु अपने पदके विरुद्ध कार्य करता है, व्यभिचार आदिकके खोटे कार्योंमे

अपनी प्रवृत्ति करता है तो ऐसे व्यक्तिको साधु मानना यह हमारा काम नही है। उसे स्पष्ट कह दें कि यह हमारे साधु नही रहे। अगर उसे साधु मानकर उसको पूजते रहे तो यह लोगोका भ्रम है। लेकिन जो साधु अपने आचरणसे ठीक है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहसे दूर है अर्थात् संयम आचरणमे रहते है, सामायिक प्रतिक्रमण, प्रोषधोपवास आदिक की क्रियावोमे रहते है, ऐसे साधुवोको साधु मानकर पूजा करना, कदाचित् कोई साधु किसी कारणसे उत्तर गुण नही पाल सकता उसे मानना कि यह साधु नही है यह तो ठीक नही। अगर साधु अपने मूल गुणसे भ्रष्ट हो, पंच पापोमे रत हो तो वह भ्रष्ट कहलाता है। और अगर साधु मूल गुण निर्दोष रूपसे पालता है और उत्तर गुण पालनेमे कुछ शिथिलता दिखती है तो ऐसे साधुके प्रति उपेक्षाका भाव न लायें।

(१५८) **साधुवोके प्रति विनम्रता व सेवाका परिणाम**—साधुवोके प्रति व्यवहारकी बात हम कह रहे हैं अपने आपकी दयाके लिए। इसी विषयको लेकर आज हम दो बातें स्पष्ट कर रहे है कि जैसे कभी कोई लोग इन साधुजनोसे चित्त हटानेके लिए कोई दलील देते हैं तो वे दो बातें कहते है, एक तो उत्तर गुणकी बात कहते है कि ये परीषह नही सहते, ये वन में नही रहते अथवा अमुक परीषह नही सहते। तो देखिये ये तो हैं उत्तर गुण, पर इन बातों की चर्चा करके लोग उनमे दोष निकालते है. मगर भाई ऐसी बात मनमे न लावो, इससे बहुत पाप लगता है, और उसकी ठीक स्थिति नही होती है, इसलिए अपने आपपर दया करके बहुत सोच समझकर बात करनी चाहिए, दूसरी बात—लोग उद्दिष्टकी कह देते हैं, अरे ये तो उद्दिष्ट आहार करते है—अरे भाई उद्दिष्टका अर्थ यह है कि आपके घरमे जैसी अशुद्ध रसोई रोज-रोज बनती है वैसी ही घरमे रसोई बने और सिर्फ साधुके लिए अलग बना लिया जाय, साधु अगर जान जाय कि यह तो सिर्फ मेरे लिए ही भोजन बना है फिर भी उसे ग्रहण करे तो यह उसके लिए उद्दिष्टका दोष है। और अगर घर वालोके लिये भोजन बनना ही है उसमे साधुको आहारदान देनेके ध्यानसे भी घरमे शुद्ध भोजन बना तो वह उद्दिष्ट नही। देखो और दिन तो अशुद्ध आहार रोज-रोज बना करता था, उस दिन साधुको आहार देनेके ध्यानसे भोजन बनाया जायगा तो वहाँ तो बड़े-विशुद्ध भाव होगे, उसमे हिंसासे बचते हुए शुद्ध विधिसे आहार बना तो बताओ यह गुणकी बात हुई कि दोषकी ? अरे जहाँ जीवहिंसासे बचाकर शुद्ध विधिसे भोजन बना तो वह तो एक गुणकी ही बात हुई, और अगर कोई अपने पूरे घरके लिए तो वैसा ही अशुद्ध भोजन बनावे जैसा कि रोज रोज बनता था और सिर्फ साधुके लिए अलग भोजन बनाया जाय और यह बात जानकर भी साधु उस आहारको ग्रहण करे तो वह उद्दिष्ट दोष है। देखिये चार शिक्षा व्रतोमे एक अतिथिसम्विभाग

व्रत भी आया है। १२ व्रत तो आप लोगोने सुने होगे— अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, व परिग्रहपरिमाणाणुव्रत, दिग्व्रत देशव्रत अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण व अतिथिसंविभागव्रत इनमे पहिला तो है अहिंसाणुव्रत और आखिरी है अतिथिसम्विभाग। देखो ऋषीजनोकी प्रणाली बडी अच्छी होती है। अच्छा आप प्रक्रिया देखिये—सबसे पहिले तो कहा अहिसा अणुव्रत और सबसे बादमे कहा—अतिथिसम्विभाग व्रत। अतिथिसम्विभाग व्रतमे किसीका ऐसा व्रत होता है कि हम अमुक दिन अतिथि सम्विभाग व्रत करेंगे, मानो इतवारके दिन करेंगे, या किसीका ऐसा व्रत होता है कि हम अमावस पूर्णिमाको अतिथिसम्विभाग व्रत करेंगे। अतिथि सम्विभागव्रतका अर्थ है— पहिले अपने यहा आये हुए अतिथि त्यागी, व्रती मुनि वगैरहको आहार देकर बादमे खुद भोजन करना। वह अगर अपने लिए तो अशुद्ध ढगका भोजन अलग बनावे और मात्र अतिथिके लिए थोडासा शुद्ध भोजन बनाकर अतिथिको दे तो वह उसके लिए उद्दिष्ट दोष है। यह तो है आहार दाताके आश्रयका दोष और अगर साधु यह जानकर भी कि इसने तो सिर्फ मेरे लिए ही शुद्ध विधिसे आहार बनाया है, उसे अगर ग्रहण करे तो वह उस साधुके आश्रयका उद्दिष्ट दोष है यह सब कहनेका हमारा प्रयोजन यही है कि जहां विषय कषाय रागद्वेष आदिक विरुद्ध कार्योमे इतना मस्त रहते है, निरन्तर कषायें बनाये रहते है, ऐसी स्थिति वाली परिस्थितिमे हम थोडा विनयभाव रखें, नम्रता रखें तो हममे पात्रता रहेगी और हम उस शुद्धस्वरूपके दर्शनके पात्र रहेगे।

(१५९) हमारा लक्ष्य व उपलक्ष्य—करने योग्य काम केवल एक यह ही है— शुद्ध चैतन्यस्वभावका दर्शन करना, उसही मे मग्न होना और उसही मे निरन्तर बने रहना। हम आप आजकल इतना बड़ा कार्य कर सकनेमे असमर्थ हो रहे हैं तो हमे कैसा व्यवहार बनाना चाहिए उसका विवेक अवश्य होना चाहिए और अपना लक्ष्य रखें एक। देखो जैसे कोई मकान बनवाता है तो उसका लक्ष्य तो रहता है मकान बनवाने का, मगर उसके लिए वह रोज रोज अनेक कार्य करता है, जैसे कभी ईंटें मगवाना, कभी सीमेन्ट मगवाना, कभी लोहा मंगवाना, कभी कारीगरोके पास जाना, कभी बालू मौरग आदि मंगवाना, ये सब काम उसे रोज रोज करने पडते हैं तो ये हुए उपलक्ष्य। अगर कोई सोचे कि लो आज तो हमने ईंटें मगवा लिया, लोहा भी मंगवा लिया, अब तो हमारा लक्ष्य पूरा हो जायगा सो कैसे पूरा हो सकेगा? अरे लक्ष्य तो उसका बना है मकान बनवानेका अब उसके लिए जो अनेक कार्य और और करने पडते हैं वे सब उपलक्ष्य हैं। वे सब उपलक्ष्य उस मूल लक्ष्यकी सिद्धि करने वाले हैं। जब तक मकान नही बन जाता तब तक उन उपलक्ष्योको करना पडता है, उनके

किए बिना उस लक्ष्यकी पूर्ति नही हो सकती। ठीक इसी प्रकार हमने उस निश्चयधर्मकी प्राप्तिके लिए जो जो भी प्रोग्राम बनाया है वे सब रोज रोज करते रहनेका हमारा कर्तव्य है। वे सब उपलक्ष्य है, अगर आप यह सोच लें कि आज हमने पूजा पाठ कर लिया, प्रभु भक्ति कर लिया, हम तो भगवान हो गए, हमारा लक्ष्य पूरा हो चुका तो ऐसा मानकर बैठ जानेसे आपका वह लक्ष्य तो न पूर्ण हो पायगा। उस लक्ष्यकी पूर्ति जब तक हो न जाये तब तक वे सारे उपलक्ष्य रोज-रोज करने होगे, तभी उस लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकेगी। जैसे मकान बनवाने वाला प्रतिदिन अनेक उपलक्ष्योंको करते हुए अपने मकान बनवानेके लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है, ठीक इसी प्रकार उस निश्चयधर्मको लक्ष्यमे लेने वाले ज्ञानी पुरुषको उसकी प्राप्तिके लिए प्रतिदिन अनेक उपलक्ष्य करने होंगे। जब तक उसे अपने वास्तविक लक्ष्यकी प्राप्ति नही हो जाती अर्थात् जब तक उसे निश्चयधर्मकी पूर्णरूपेण प्राप्ति नही हो जाती तब तक वह किन्ही भी उपलक्ष्योमे अटकता नही है। ऐसी उसकी स्थिति रहती है।

(१६०) रागादिविकारोंकी अहितकारिता—मैं रागद्वेषादिक नही हूं। जो पुरुष स्त्री पुत्रादिक परिजनोमे, धन सम्पदामें, इज्जत पोजीशन आदिमे मोह करते हैं, अर्थात् वे ही मेरे सर्वस्व है, ये ही मेरे प्राण हैं, इस तरहका अज्ञान बसाते है उन जीवोंको शान्ति कहां और और आनन्द कहां? जब भीतरमें भाव विपरीन हो गया है, मिथ्याधारणा हो गई है, पर वस्तु को अपना माननेकी बुद्धि हो गई है वहां शान्ति और आनन्द कहांसे प्राप्त हो सकते हैं? इस प्रकार जब किसी पर वस्तुमे हम राग रखते हैं, लगाव करते हैं, उसके प्रति प्रीतिका परिणाम करते हैं, जैसे कुटुम्बपर, देह पर, सम्पदापर जो लगाव होता है उस लगावमें भी शान्ति और आनन्द कहांसे हो सकता है? लेकिन मोही जीव तो जिसके कारण कष्ट है उस ही को अपनाया करते है। यही तो अज्ञानकी बात है। जैसे बालकको कुछ पता ही नही रहता, आग हो उसे भी उठा ले, कोई गंदी वस्तु हो उसे ही उठाकर मुखमें रख ले, जैसे उसे कुछ पता ही नही, इसी प्रकार मोही जीवोंको भी कोई विवेक नही रहता। जिन पर वस्तुवोसे उन्हे कष्ट होता उन्हे ही वे अपनाते है। एक ओरसे देखो तो जितने भी समागम प्राप्त हैं वे सब समागम हमारे कष्टके ही कारण बन रहे हैं—शान्तिके कारण नही बन पा रहे। इनसे विरक्ति कैसे हो? जब समझ लिया कि ये मेरे आनन्दके कारण हैं तो इनसे वैराग्य कहांसे आये? और जब ऐसी धारणा बनी है तो संयुक्त जीवका, संयुक्त पदार्थका नियमसे वियोग होता है, तो वियोग होगा और जब वियोग होगा तब इसे भय और कष्ट भोगना पड़ेगा। शान्ति कहां है परवस्तुके लगावमे? द्वेषमे भी कहां शान्ति रखी है? वहां तो हृदय जलता रहता है, अनिष्ट वस्तुको देखनेका भी मनमे परिणाम नही रहता। और उससे होता

है द्वेष। द्वेष होनेसे शान्ति कहां होती है ? शान्ति तो समतामे है और समता भावनासे पैदा होती है। बाह्य वस्तुओसे समता पैदा न होगी। कोई सोचे कि मेरे पास इतना धन जुड जाय, तो उतने धनसे समता आ जायगी क्या ? शान्ति प्राप्त हो जायगी क्या ? अरे धन समागमोका जुडना शान्तिका कारण नही है। शान्तिका कारण तो अपना विशुद्ध भाव है। जिन्हे बारह भावनाओके रूपमे बताया गया है।

( १६१ ) **अनित्यभावनाकी उपयोगिता**—बारह भावनाओका चिन्तन करें तो वह भी प्रतिदिनका काम होना चाहिये। जब जाप देते हैं सामायिक करते हैं तो उस समय ये बारह भावनायें चिन्तनमे आनी चाहिये—भावना कहते है उसे जो बारबार भायी जाय, विचारा जाय, उसका अनुसधान किया जाय अपने आपमे, ऐसे चिन्तनका नाम है भावना। इसका दूसरा नाम है अनुप्रेक्षा। अर्थात् जैसे अपने आपका शरण, अपने आपका प्रभु मिले उसे प्रकर्ष रूपसे देखना इसे कहते हैं अनुप्रेक्षा। पहिली भावना है अनित्य भावना। अनित्यभावनाका स्वरूप कहा गया है कि समस्त वस्तुओको विनाशीक देखना। राजा, राणा, छत्रपति ये सब मरणहार है, यौवन जीवन ये सब क्षणभगुर है, चपल बिजलीकी तरह हैं, सबको विनाशीक देखना यही है अनित्यभावना, लेकिन एक रहस्य और जानो कि अगर हम ऐसा ही ऐसा लखते रहेगे ये मरेंगे, वे मरेंगे, तो ऐसा ऐसा ही लखनेमे धीरता आयगी कि अधीरता ? अधीरता ही आयगी ? घबडाहट ही बनेगी। ये भी मरेंगे, मैं भी मरूंगा, सब कुछ विनाशीक है, योंघबड़ाहट पैदा हो जायगी, लेकिन अनित्य भावनामे तो यह बताया ही गया है कि देखना कि सब विनाशीक है, तो क्या भावना घबडाहट पैदा करनेके लिए होती है ? नही। उसमे एक राग है। यह निरखिये कि सब पदार्थ विनाशीक हैं, मगर यह श्रद्धा बनाये रहे कि मेरा जो आत्मस्वरूप है वह अविनाशी है। दोनो बातें दृष्टिमे रखें, नही तो विनाशीक विनाशीक ही निरखनेमे रहे तो उसमे घबडाहट हो जायगी। मैं आत्मस्वरूप, चैतन्यस्वरूप जो मैं हू सहज, स्वतत्र, निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा, याने सहजस्वरूपकी बातकी ही गई है, इस समय मैं क्या बन रहा हू ? ससारकी क्या परिणति है, इस समय मेरी क्या क्या दशायें हो रही हैं, नाना पर्यायोमे परिभ्रमण चल रहा है। यह तो जान लिया कि पर्याय है, विपरीत है, वह हटाने योग्य है। समझ लिया, पर इसमे भाव तो नहीं लगाया जाता। मनुष्य हूं, लेकिन जब मैं अपने आपकी भावना बनाता हू उस समय मैं मनुष्य हू यह भावना नही आती। उस समय यह भावना आनी चाहिये कि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। देखिये यह रहस्य कोई नया निकला हुआ नही है, इसकी सूचना कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथामे मिलती है, जो द्रव्यपर्यायोसे उत्पन्न होता है, विनाशीक होता है, उनके विनाशकी बात कही गई है।

द्रव्यदृष्टिसे विनाशीककी बात नही कही गई तो अपने आत्माको नित्य है ऐसी श्रद्धा रखते हुए जो बाहरके समागमोको ये विनाशीक हैं, मिटेंगे, ऐसी भावना करें तो उसके अनित्यभावना होती है।

(१६२) **अशरणभावनाकी उपयोगिता**—अशरणभावना मेरे लिए कोई शरण नही है, सब अशरण है, सब असार हैं, मेरे कोई सहाय नही—"दलबल देवी देवता, मातु पिता परिवार। मरती बिरिया जीवको कोई न राखनहार" अच्छा इतनी बात देखने वाले लोग दुःखी रहते हैं, घबडाहट उत्पन्न करते है—हाय मेरा कोई राखनहार नही है। सब मेरेसे किनारा काट जायेंगे। तो अशरण भावनामे जब तक अपने आपके शरणकी सुध न हुई हो तब तक अशरणभावना सही ढंगकी नही बनती। सब अशरण है, किन्तु मेरे आत्माका यह मैं आत्मा शरण हू। देखो भाई जब किसी बडे आफीसरका तबादला होता है ना तो उसको उस तबादलेमे कोई कष्ट तो नही होता। अरे उसका सामान ले जानेके लिए मालगाडीका एक डिब्बा मिलता है। बैठनेके लिए सवारी गाडीका एक डिब्बा मिलता है। इधर भी कई नौकर पहुंचाने वाले मिलते है, उधर जहाँ पहुंचेगा वहाँ भी तमाम नौकर मिलते है। स्वागत करने वाले लोग मिलते है। रहनेके लिए अच्छा मकान मिलता है। बताइये उस आफीसरको उस तबादलेमे क्या कष्ट ? कष्ट तो होता है छोटे-छोटे क्लर्कोंको, जिन्हे तबादला होनेपर बडी दिक्कत उठानी पडती है। उनको किरायेका नया मकान तलाशना पड़ता है, उनको अपने बच्चोंको स्कूलमें भर्ती करानेका सारा कष्ट करना पडता है। तो कष्ट करना पड़ता है उन छोटे लोगोंको। और आत्माकी बात देखो—जो आत्मा ज्ञानी है, सम्यक्त्वी है, अपने आपकी श्रद्धा वाला है, अपने स्वरूपका जिसको परिचय है, जो जानता है कि मेरा सब कुछ मेरेमे है। जो मेरेमे है वह नही, जो बाहर है वह मेरेमे नही। मेरेमे मेरा सर्वस्व है, इसका जिसको अभ्यास है, यहां जिसने बहुत बहुत दृष्टिकी है ऐसे बडे ज्ञानी पुरुषको मरणके समयमे वह भी तो तबादलेका सम्बध है। एक जीवका दूसरे भवमे तबादला हो रहा है तो उस तबादलाके समय इस ज्ञानी गृहस्थको क्या परेशानी ? जा रहा है आनन्दसे। अपना पूराका पूरा जो कुछ इसकी सम्पदा है, जो कुछ इसका वैभव है वह साराका सारा साथ लिए जा रहा है, वह कुछ नही छोड जा रहा है। वह जान रहा है कि मैं जहाँ जाऊँगा वहाँ तो तैयारी ही सारी है। बतलावो क्या परवाह है उस ज्ञानी पुरुषको तबादलेके समयमे अर्थात् मरणके समयमे ? तकलीफ तो अज्ञानीको है, मोहीको है, गरीबको है। मर रहा है और कह रहा है अरे भाई फलाने लडकेको दिखा दो, फलाने मुन्नेको मेरी छातीपर धर दो। यों वह मर रहा है सक्लेश पूर्वक। हाय मैने बडी मुश्किलसे जीवनभर सम्पदा जोड़ा देखो आज सारीकी सारी सम्पदा हमसे छूटी

जा रही है। आज हमारे साथ कुछ भी नही जा रहा है। कदाचित अभी वह अधमरा है, बोल बन्द है, बातें सब सुन रहा है, समझ रहा है, अब वह मरने वाला है, लोगोने उसे खाटसे उतार कर नीचे रख दिया, कपड़े उतारने लगे, जो कुछ सोनेकी अंगूठी जजीर आदि जेवर पहिने थे वे उतारने लगे। वह पडा हुआ देख रहा है और संक्लेश करके मर रहा है कि हाय मेरा सब कुछ आज मुझसे छूटा जा रहा है, यो ये अज्ञानी मोही प्राणी बड़े सक्लेश परिणाम करके मरते है, पर वह ज्ञानी पुरुष जानता है कि मेरा तो सब कुछ मेरे साथ ही जा रहा है, मुझे इस शरीरके बदलनेमे क्या कष्ट। उस ज्ञानी पुरुषने पहिलेसे ही ऐसा समझ लिया था कि ये दिखने वाले समस्त पर पदार्थ मेरे कुछ नही हैं, ये मेरे लिए शरण नही हैं। मेरा शरण, मेरा सर्वस्व तो मेरे साथ है, इसलिए उसे मरणके समयमे रच भी खेद नही होता है।

(१६३) **संसार, एकत्व व अन्यत्व विषयकी भावनाकी उपयोगिता**—तीसरी है ससार भावना। विचारते हैं ना कि जगतमे सब बेकार है, कुछ भी सार नही है। बात ठीक है, जो कुछ है सब असार है, कोई मेरे काम नही आता। ठीक है। ऐसी बात तो जिन्हे क्रोध आता है, जो रूठ जाते है वे भी कह बैठते हैं कि सब बेकार है, कोई किसीका नही है या सब बेकार है, जिन्दगी बेकार है, अरे इतनेसे संसार भावना न बनी। यह तो हुआ संसार का स्वरूप पर यह भी बात होनी चाहिए कि मेरे आत्माका जो स्वभाव है वह मेरेको सारभूत है। अपने सारका पता होनेके साथ बाहरी असारका परिचय होनेमे संसारभावना सही तौरमें बनेगी? चौथी है एकत्वभावना—इस एकत्व भावनामे कहते हैं कि अकेला ही सुख दु.ख भोगे, अकेला ही जन्म मरण पावे, अकेला ही मरे। तो यह बात ठीक है। ये सब ऊपरी ऊपरी बातें हैं, इतनी बात तो जो चाहे गरीब, देहाती, या मामूली पढ़ें लिखे लोग भी कह देते हैं—कि हां हमे अकेले ही तो मरना है। देखते ही हैं कि जो मरता है वह अकेला ही जाता है, उसके साथ कोई दूसरा नही जाता। जो लोग उस मरने वालेसे मोह करते थे, उसके भाई, पुत्र, पिता अथवा स्त्री आदिक वे मरनेके बाद थोडी देरके लिए उस मृतक शरीर से बडा प्रेम दिखाते हैं, उसे छोडते नही हैं, उसके पीछे बड़ा रुदन मचाते हैं। जब पंच लोग उसे श्मशान ले जानेके लिए उठाने चलते हैं तो वे घर वाले कहते हैं—अरे न ले जावो मेरे फलानेको। मानो पंचलोग कह बैठें कि अच्छा भाई तुम लोग कहते हो तो चलो न ले जायेंगे यही पडे रहने दो, तो शायद वे घर वाले यही कह उठेंगे कि अब तो इन्हे जल्दी यहांसे ले जावो, देर न करो। आखिर वह अकेला ही वहाँसे जाता है उसके साथ कोई दूसरा नही जाता। तो केवल इतना कह देनेसे एकत्व भावनाका सही काम नही बन पाता कि यह जीव मरकर अकेला ही जाता है। उस एकत्वके साथ साथ यह भी सोचना चाहिए कि मैं आत्मा जो कि इस शरीरसे निराला कर्मोसे निराला हू समस्त परभावोसे निराला हूं। मात्र

ज्ञानस्वरूप हूं ऐसा जो सर्वपरसे निराला मै हूं वह अकेला ही यहांसे जाऊँगा। इस मुझके भावना साथ यहांका कोई भी परपदार्थ न जायगा यह एक सही ढंगकी एकत्व भावना हुई। है अन्यत्व भावना। इस अन्यत्व भावनामे कहते हैं कि मेरेसे सब जुदे हैं, मेरा कुछ नही है। ५ वी "जहां देह अपनी नही, तहां न दूजा कोय।" सब प्रकट पर है, ऐसी बात तो हर एक कोई कह लेता है, पर उसके साथ ही साथ ऐसी भी अन्यत्वभावना होनी चाहिए कि मेरा तो एक मात्र चैतन्यस्वरूप है। इसके अलावा जो मेरेमे छाया आती है, विकार, विचार, विभाव विकार तरगें होती हैं ये मेरी नही है। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं।

(१६४) **अशुचि, आस्रव संवर व निर्जरा विषयक भावनाकी उपयोगिता**—छठवी है अशुचिभावना। इस अशुचि भावनामे कहते है कि सब अपवित्र है। यह देह बडा गंदा है, इसमें खून है, विष्टा है। यह महा मलिन है, यों गंदा गंदा देखनेसे काम न बनेगा। इसके साथ यह भी देखें कि मेरेमे जो मेरे आत्माका स्वरूप है वह पवित्र है, उस पवित्र ज्ञानस्वरूप आत्माको श्रद्धामे रखते हुए बाकी ये सब बाहरके शरीर आदिककी अशुचित्वकी भावना होगी तो वह हमारी इस अशुचिभावनामे और भी मददगार होती है। ७ वी है आस्रवभावना। इस आस्रवभावनामें कहते है कि रागद्वेष मोह करनेसे कर्म आते हैं। कर्म बंधते हैं, ठीक है, बंधते हैं। सही बात है, पर साथ ही मेरा स्वरूप तो निराश्रव है, मेरा स्वभाव तो निरास्रव है, मेरेमे तो मात्र मैं ही हू। इसकी दृष्टि न बननेसे आस्रव हो रहा है। अपने आप मे अन्तः जो स्वरूप है उस स्वरूपकी भावना हो तो यह आस्रव न हो। यह आस्रव दुःख दायी है, इससे निवृत्त होना चाहिये, ये सब बातें ठीक समझमे आयेंगी। ८ वी है संवर भावना। इस संवर भावनामे कहते है कि जब मोह नीदसे जग जाय, अपने आपके स्वरूपकी सुध हो जाय तो कर्मका संवर होता है याने जो दुःखके हेतु है, दुःखके साधन है वे समागम मेरे कैसे निवृत्त होगे? वे निवृत्त होगे जग जानेसे। सम्यक्त्वभाव, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रयके परिणाम द्वारा भी सब आस्रव बंध भाव दूर हो जाते है। ९ वी है निर्जराभावना, जो इस निर्जरा भावनाको भाता है वह ठीक ही है। जब ज्ञानका दीपक भरा हो, तपका तैल भरा हो, फिर उस दीपमे उस ज्ञानसे जो संयत है उससे अपने घरका शोधन करे तो ये कर्मचोर भगने लगते है। मेरा धाम कितना है? "जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम। राग त्यागि पहुचू निजधाम, आकुलताको फिर क्या काम॥" ये सब नाम तो इस आत्माके ही पर्यायवाची शब्द हैं—जिन—जो जाने सो जिन। वह हूं मैं शिव—जो कल्याणवान हो सो शिव, वह हू मैं, ईश्वर—जो उत्कृष्ट हो सो ईश्वर, वह हूं मैं, ब्रह्मा—जो सृष्टि करे सो ब्रह्मा—वह हूं मैं, राम—जिसमे योगीजन रमण करें सो राम, वह

हू मैं, विष्णु—जो व्यापक हो सो विष्णु वह हूँ मैं बुद्ध—जो सर्वज्ञाता हो सो बुद्ध, वह हू मैं, हरि—जो पापोको हरे सो हरि, वह हू मैं। मैं ऐसे धाममे पहुचू तो फिर वहाँ आकुलताका कोई काम नही रहता।

( १६५ ) **लोक बोधिदुर्लभ व धर्मविषयक भावनाकी उपयोगिता**—१० वी है लोक भावना—इस लोकभावनामें यह भावना करनी है कि इतना बडा है लोक, और इस लोक का कोई ऐसा प्रदेश नही बचा जहाँ इस जीवने अनेक बार जन्म मरण न किया हो। उसके साथ ही यह भी भावना बनायें कि हाय—एक इस अज्ञानसे मैंने ऐसा परिभ्रमण किया। अगर हमे अपने आत्माकी सुध हो और इस ही आत्माकी धुन बने, सारे पौरुष इसके लिए किए जायें तो एक समय वह आयगा कि लोकका सारा परिभ्रमण समाप्त हो जायगा। ११वी है बोधि-दुर्लभ भावना— इस भावनामे यह भावना बनाना है कि इस ससारमे यहाँकी सभी चीजें मिलनी सुलभ हैं किन्तु यथार्थज्ञानका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। उस यथार्थ ज्ञानकी पूर्ति कहाँ है? जहाँ ज्ञान करनेका श्रम न करना पडे। तो उसके मायने क्या है कि स्याद्वाद शैलीसे हम सब कुछ जान लें, सर्वनय विभागोसे हम परख कर लें और किसी भी नयका आश्रय न रखें, समस्त नयोसे अतीत बनें, ऐसा अपना परिणाम बने, वहाँ पहुँचना है, वहाँ है ज्ञानकी पूर्ति, जहाँ एक भी विकल्प न रहे, अनेकान्त जहाँ अनेक अन्त हो मायने धर्म हो सो अनेका-न्त। नित्य है अनित्य है, एक है अनेक है। जैसे किसी पुरुषका परिचय कराना है तो कहते है कि यह अमुकका पुत्र है, अमुकका पिता है, अमुकका बाबा है आदि, यह अनेकान्तकी पद्धति है। वस्तुका परिचय करानेकी पद्धति है अनेकान्त। अनेकान्तसे परिचय करनेके बाद क्या करना है? ये सब परिचय समाप्त हो जायें और एक निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप परिचयमे रहे। कोई कहे कि आप तो पहिले कहते कि अनेकान्तसे ये सब परिचय करो और फिर परि-चय करनेके बाद उनका परिचय छोड दो, तो जब छोडना ही है तो फिर हम पहिलेसे ही क्यो न छोडे रहे? तो भाई ऐसी बात नही है। पहिले तो पदार्थका पूरे रूपसे परिचय पावो इसके बिना वह स्थिति न मिलेगी कि उस परिचयको छोडकर ज्ञानस्वरूपमे मग्न हो जाय। जैसे किसी महलपर चढना है, तो महल पर चढनेके लिए पहिले सीढियोपर चढना पडता है। क्रम क्रममे वे सीढिया छूटती जाती है और वह महलपर पहुच जाता है। अब कोई कहे कि आखिर उन सीढियोको छोडना ही पडता है, तो हम उनको पहिलेसे ही क्यो न छोड़े रहे, हम महल पर चढ जायेंगे। तो बताओ क्या वह महलपर चढ़ पायगा? न चढ़ पायगा। अरे भाई अगर नीचे बैठे ही रहो, सीढियोपर चढो ही नही, तो ठीक है, बैठे रहो नीचे, इस तरहसे तो महलपर न चढ सकोगे। ऐसे ही समझिये कि पहिले अनेकान्त

द्वारा वस्तुका सम्पूर्णतम परिचय करो, परिचय करनेके बाद उसे छोडो और केवल एक ज्ञान-स्वभाव चैतन्यस्वभावका अनुभव हो। ये दोनों उपाय अनेकान्तमे बनते हैं। जहाँ अनेक धर्म हो सो अनेकान्त और जहाँ एक भी धर्म नही रहता है वह है अनेकान्त। एक अनेकान्त परिचय वाला है और एक अनेकान्त स्वरूपमे मग्न रखने वाला है। तो एक इस सच्चे ज्ञानके पाये बिना हम लोकमे यत्र तत्र खूब भ्रमण करते रहे। १२ वी है धर्मभावना—धर्म भी ऐसी चीज है कि जिसके फलमे बिना चिन्ता करे यहांकी सभी चीजें स्वयमेव प्राप्त होती हैं। यह तो एक व्यावहारिक बात बतायी। सभी चीजोकी प्राप्ति यही है कि जहा फिर किसी चीजकी इच्छा ही नही रहती। जहां तक इच्छा रहती है वहाँ तक समग्रता नही बनती और जहा इच्छा न रही वहां सर्वोपरि सिद्धि हो गई याने समस्त प्रयोजनोकी सिद्धि हो गई। जहाँ तक इच्छा है वहां तक सिद्धि नही है।

(१६६) **इच्छाके अभावकी सुखरूपता**—सुख मिलता है इच्छाके अभावसे। इच्छासे सुख नही मिलता। यह तो लोगोकी कल्पना है कि देखिये—हमने ऐसा किया तो सुख मिल गया, हम फलानेसे मिले तो आनन्द आ गया···। अरे इच्छाके अभावमे आनन्द आता है, न कि बाहरी वस्तुके मिलनेमे आनद आता है। हर एक चीजपर दृष्टि डालो। भोजन खाया, तृप्त हो गए, तो वह तृप्ति असलमे किसकी है? अब भोजन करनेकी इच्छा न रही उसकी तृप्ति है। किसी मित्रने आपको पत्र दिया कि हम कलके दिन सुबह सवा आठ बजेकी ट्रेनसे आपके यहां के स्टेशनसे होकर जावेंगे सो आप मिल लेना। पत्रके पाते ही आपके मनमे उस मित्रसे मिलने की इच्छा उत्पन्न हो गई। अब आप और दिन तो उठा करते थे मानो ७-८ बजेके करीबमे, पर उस दिन आप ६ बजे ही जग गए। सारे काम आप जल्दी-जल्दी निपटाने लगे, क्योकि अभी मित्रसे मिलने जाना है। अब आपकी सारी क्रियायें आकुलतापूर्ण हो रही है। जब आप स्टेशन पहुचे तो वहां पूछते कि गाडी कितनी लेट है? अगर बता दिया कि गाडी आधा घंटा लेट है तो आप कुछ चिन्तामे पड जाते और कहते—अरे आज तो बेचारी आधा घंटा लेट है। लो आज वह गाडी बेचारी बन गई। जब वह गाडी आयी तो आपने खूब दौड धूपकर अपने मित्रको किसी डिब्बेमे पा लिया, आप उससे गले मिले और बडा आनन्द आया। अब बताओ वह आनन्द उस मित्रसे मिलनेका है क्या? अरे अगर मित्रसे मिलने पर आनन्द आता है तो ठीक है, तुम्हे आनन्द ही तो चाहिए, खूब मिलते रहो उस मित्रसे और आनन्द लेते रहो। पर आप कहां उसके पास रहना चाहते। आप तो झट खिड़कीसे उधर-उधर झांकने लगते कि कहीं गार्डने सीटी तो नही दे दी, कही गाडी चल न दे। तो भाई इससे मालूम होता है कि मित्रसे मिलने पर आपको वह आनन्द नही आया किन्तु मित्रसे मिलनेका काम अब नहीं रहा,

ढगोमे हम परिचय करें। जब वे ढग हमे विदित होगे तो परिचय हमे हो जायगा और यह ढग ज्ञात हो जायगा कि इस तत्त्वका आश्रय करनेसे कल्याण है। तो हम उस तत्त्वकी ओर अभिमुख हो जायेंगे। देखिये सूत्रजीमे बताया है कि "प्रमाणनयैरधिगम:" तत्त्वका ज्ञान, वस्तुका ज्ञान प्रमाण और नयोके द्वारा होता है। प्रमाण और नयोके द्वारा सही ज्ञान होता है। मिथ्याज्ञान नही होता और सही ज्ञानके कारणभूत जो प्रमाण और नय है यह भी सही हुआ करता है। प्रमाण भी यथार्थ है, नय भी यथार्थ और प्रमाण नयोके द्वारा जो ज्ञान होता है वह भी यथार्थ। तो हम प्रमाण और नयोका कुछ प्रयोग करके अपने आपके सहजस्वरूपका परिज्ञान करे। देखिये—सब लोग अनुभव करते है अपने आपको कि यह मै हूं। अब कोई देहमे अनुभव करता कि यह मैं हू। कोई इस देहसे भिन्न ज्ञानस्वरूपको अनुभव करता कि यह मै हू, कोई कषायोको अनुभव करता कि ये मैं हू, कोई ज्ञानसे भिन्न ज्ञानस्वरूपको अनुभव करता कि यह मैं हू। इस प्रकारसे मैं का अनुभव प्रत्येक जीव करता है। तो मैं हू इसमे कोई सन्देह नही, पर मैं क्या हू इसे जानना है। जितने भी उपाय हैं प्रमाण और नय। प्रमाण तो होता है सर्वात्मविज्ञान और नय होता है प्रमाणसे जाने हुए पदार्थमे एक देश धर्मको जानना।

(१६८) नयविज्ञान—हम जरा एक देश परिचयकी ओरसे बढकर प्रमाणकी ओर पहुंचें। नय कितने प्रकारके है? तो आगममे बताया है—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय ऋजुसूत्रनय, समभिरूढनय और एवभूतनय। ये सातोके सातो नय सही परिचय देते है, उसमे ऐसा नही है कि कोई नय हमे विपरीत रास्ते पर ले जाय और कोई नय हमे सही रास्ते पर ले जाय। हां नयोसे जो परिचय किया जाता है वह भी यदि उपचार भाषामे चलेगा तो उपचार मिथ्या हो जायगा, पर नय कोई मिथ्या नही होते। यह एक नैगम, सग्रह आदिककी जो परम्परा है इसका दर्शन शास्त्रसे अधिक सम्बन्ध है। जैसे नैगमसे जाना क्या? सत, और असत, सग्रहनयसे जाना क्या? सत् व्यवहार नयसे जाना क्या? सतके भेद, ऋजुसूत्रनयसे जाना क्या? सत्की पर्याय। शुद्धनयसे जाना क्या? ऋजुसूत्रसे जानी हुई बातमे शब्द भेदसे और भेद करके जानते है, समभिरूढनयसे जाना क्या? शब्दके भेदसे जाने हुए पदार्थमे अनेक अर्थोमे जानना। एवभूतनयसे जाना क्या कि जिस शब्दसे बोला उस शब्दमे जिस परिणतिका द्योतन किया है उस परिणतिसे परिणत हुएमे ही उसे उस शब्दसे कहना। देखिये यह परम्परा अभेदसे भेदकी ओर ले जाने वाली हुई और दूसरी तरह देखो तो स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर ले जाने वाली हुई। यह एक आगम और दार्शनिक परम्परामे बहुत काम देता है। अब दूसरी तरहसे देखो—नयोके चार प्रकार हैं परमशुद्धनय, शुद्धनय, अशुद्ध

नय और व्यवहारनय नय सभी यथार्थ परिचय दिया करते है। अन्य नयोकी बात हम दूसरे उपचारकी ओरसे पहिचाने तो वह मिथ्याभाषा है। प्रयोजनको देखो तो वह ठीक है, लेकिन प्रयोजनपर दृष्टि न दें और जो भाषा सीधी बोलो जाती है उपचारसे वह मिथ्या है और सभी नय हमको एक समीचीन मार्गका प्रदर्शन करते है।

(१६९) **परमशुद्ध निश्चयनयसे शाश्वत स्वरूपका परिज्ञान**—परमशुद्ध निश्चयनय का अर्थ क्या है ? वस्तुके शुद्धसहज अनादि अनन्त अहेतुक स्वभावका बोध कराने वाला परम शुद्ध निश्चयनय होता है। देखो इन नयोके विवरणके समय यह दृष्टि डालें कि हमारा कल्याण स्वभावदृष्टिमे है। हमने अब तक पर्यायोंको अपनाया और उसका फल यह है कि हम ससारमे अब तक रुलते चले आये। हमने अपने ज्ञानमे अभी तक पर्यायोको महत्त्व दिया प्रकार अपने सहज स्वभावको महत्व नही दिया। तो उस स्वभावदृष्टिकी ओर हम किस पर आ जाते हैं इन नयोके द्वारा परिचय करने पर ? तो परमशुद्ध निश्वयनय तो सीधा साक्षात् यह प्रेरणा देता है स्वभावदृष्टिमे आनेका। जो शाश्वत अपने आपके स्वभावमय ही है, जो कभी किसी परपदार्थरूप न हो, जो कभी अपने आपका सत्त्व निकालकर नही फेंकता ऐसा शुद्ध एक स्वभाव वह परम शुद्ध निश्चयनयका विषय है। जैसे शुद्ध दूध किसे कहते है ? नहा धोकर लाये हुए शुद्ध दूधकी बात हम नही कह रहे। हम पदार्थकी निगाहसे शुद्ध दूध को बात कह रहे है। शुद्ध दूधका यह अर्थ है कि जिसमे न कोई दूसरी चीज पानी वगैरह मिलायी गई हो और न उसमे से सेपरेटा वगैरह निकलकर बाहर गया हो। तो ऐसे शुद्ध दूधकी बात हम कह रहे जिसमे न कोई अन्य चीज मिले और न कोई चीज उसमेसे निकलकर बाहर जाय, तो ऐसे ही परम शुद्धका विषयभूत जो शुद्धतत्व है वह किस प्रकार है कि परसे विभक्त है और अपने एकत्वमे तन्मय है। ऐसा अनादि अनन्त ध्रुव तत्त्व अपने आत्मामे विराजमान जो ज्ञानस्वभाव चैतन्यस्वभाव है उसका बोध कराने वाला परम शुद्ध निश्चयनय है।

(१७०) **शुद्धनिश्चयनय व अशुद्धनिश्चयनयसे वस्तुका परिचय**—शुद्धनिश्चयनय किसे कहते हैं कि एक द्रव्यका ही ज्ञान तो कराये क्योकि वह निश्चयनयका एक नियम है कि वह एक ही द्रव्यको जाने, एकमे ही जाने। तो शुद्ध निश्चयनय जानता तो एक है मगर शुद्ध पर्याय रूपमे जान रहा है। जैसे प्रभु केवलज्ञानी हैं। केवलज्ञान होना एक शुद्ध अवस्था है। तो इस आत्माको केवलज्ञानी निरखना यह शुद्धनयका विपय है। परमशुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध निश्चयनयमे कितना अन्तर आया कि उसने तो स्वभावको विषय किया और इसने पर्यायको विषय किया, लेकिन क्या एक द्रव्यमे उस पर्यायको अभेदरूप करके देखा ? देखा शुद्ध पर्यायको।

इससे हम स्वभावदृष्टिपर किस तरह उतरेंगे कि हमने केवल एक ज्ञानपर्यायको देखा, वह है स्वभावके अनुरूप। तो हम उस केवलज्ञान पर्यायको देख करके स्वभावमे उतर आयेंगे और जब स्वभावमे आये तो स्वभावमे जब दृष्टि करते हैं तो परव्यक्ति नही रहता है, मात्र स्वभाव रहता है, और उस स्वभावका आश्रय खुद तो है ही, परका हो गया परिहार, तो वह अपने आपकी दृष्टिमे आ जाता है, यह है शुद्धनयका उपयोग। अशुद्ध निश्चयनय किसे कहते है कि एक द्रव्यमें जाना किन्तु अशुद्ध पर्यायको जाना। जैसे जीव रागी है, जीव है, रागी है, जीवकी रागपरिणति है, रागपरिणतिसे परिणमता है, वह अपने आपके रागके लिए परिणमा है। सारी बात एकमे देख रहे है षट्कारक विधिसे, लेकिन देखा अशुद्ध पर्यायको तो उसे कहेंगे शुद्धनिश्चय-नयका विषय। अशुद्धनिश्चय द्वारा जब हम एक तत्त्वको जानते हैं तो कितना उपकार मिलता है। कैस स्वभावदृष्टिकी ओर आते है सो इसे भी परखलो। जाना जीव, पर रागी। यहां नि-मित्तपर दृष्टि न दें, क्योकि हम एक निश्चयनयके केन्द्रमें बोल रहे है। जब परकी ओर हमारी दृष्टि नही है तो हम कब तक उस रागको लम्बा करेंगे ? वह राग अपने श्रोतभूत स्वभावकी ओर हम अपनी बुद्धि ढालेंगे तो स्वभावकी दृष्टि हम करने लगेंगे। इसमे कठिनाई पडती है, क्योकि पर्याय विपरीत है, विपरीत पर्यायको देखकर विपरीत पर्यायके श्रोतको देखा तो उसमे हमे जरा कठिनाई पडती है। तो परमशुद्धनिश्चयकी अपेक्षा शुद्धनिश्चयनयमे थोडी कठिनाई पडती है स्वभावदृष्टिके लिए, उससे अधिक कठिनाई पड़ी हमको अशुद्ध निश्चयनय द्वारा स्वभावदृष्टि करनेके लिए मगर उपयोग यह ही है कि हम जिस किसी भी प्रकार इन नयोके प्रयोगसे स्वभावदृष्टिमे आयें।

(१७१) **व्यवहारनयसे वस्तुका परिज्ञान**—अब देखिये चौथा व्यवहारनय। व्यवहार नय यह बतलाता है कि जितने विकार होते हैं, विभाव होते हैं वे विकार और विभाव स्वयं पदार्थमे अपने ही मात्र सत्त्वके कारण परके निमित्त सन्निधान बिना उपाधिके अभावमे अपने आपमे स्वय नही होते है, अन्यथा वे विभाव न कहलाते, स्वभाव कहलाते। विभाव और विकारका अर्थ ही यह है कि और किसी उपाधि संसर्गमे स्वभावके विपरीत परिणति बने उसे कहते है विभाव। स्वभावके विपरीत परिणति निमित्त सन्निधानमे ही हो सकेगी निमित्तके अभावमें नही होती। किया तो इस तरह लेकिन यह परखिये कि निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तुस्वातन्त्र्य समझमें आनेपर वस्तुका सत्ता सिद्ध अधिकार है। जैसे दर्पणके सामने हाथ किया तो दर्पणमे जो हाथका प्रतिबिम्ब आया वह एक विकार है। वह विकार एक निमित्तके सन्निधान बिना नही होता, इतने पर भी हाथकी सारी बात हाथमे ही है, हाथने कुछ भी निकलकर दर्पणमे नही गया किन्तु हाथका सन्निधान पाकर यह दर्पण स्वय ऐसी

अपनी योग्यता रखता है कि वह स्वयं अपने आपकी परिणतिसे प्रतिबिम्बरूप परिणम गया तो निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्य होता है। वस्तुस्वातन्त्र्य होनेपर भी विकारका विधान यही है कि यह किसी पर उपाधिके संसर्गमे ही विकारी होता है। इस सम्बन्धको कहते हैं निमित्तनैमित्तिक योग। हां इस प्रसगमे मूल बात यह कह रहे थे कि व्यवहारनयके प्रयोगसे हम स्वभावदृष्टिका लक्ष्य कैसे ले सकेंगे ? देखिये व्यवहारनय बतलाता है कि यह वर्तमानमे जो राग होता है, द्वेष होता है, विकार होते है ये सब जीवके स्वरूप नही है, क्योकि उपाधिका निमित्त पाकर हुए है। इसी कारण उन्हे पौद्गलिक कहा कि पुद्गलकर्मके उदयसे ये उत्पन्न हुए, याने निष्पन्न किए गए, मगर पुद्गलकर्मके उदयका निमित्त पाकर जो विभाव निष्पन्न होते हैं वे पौद्गलिक है नैमित्तिक हैं सो उन्हे निमित्तके पास ले जावो, ये पौद्गलिक हैं, ये मेरे स्वभाव नही हैं। मेरा स्वभाव तो अनादि अनन्त एक ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है। जो मेरे सत्त्वके कारण ही होता है। जैसे व्यवहार नयकी कैसी कृपा हुई कि उसके प्रयोगसे ही हमने ऐसा पाया कि जिसमे ऐसी सुविधा दिखो कि इसका प्रभाव देखकर स्वभावमे से भी हटाकर फेंक दिया। यह मैं नही हू। मैं तो एक अनादि अनन्त ज्ञानस्वभावी हूं। तो व्यवहारनयकी पद्धतिसे हम स्वभावदृष्टिकी ओर आये।

**(१७२) चारों नयोमें यथार्थताका प्रकाश—** अब बात यहां यह समझनी है कि यद्यपि ये चारो नय यथार्थ हैं, सत्य बातका प्रतिपादन करते है। क्या अनादि अनन्त ध्रुव अखण्ड स्वभाव यह यथार्थ नही है ? है। क्या कोई जीव केवलज्ञानी है, शुद्धपर्यायमे परिणत हो रहा है, क्या यह यथार्थ नही है ? है। कोई जीव रागी है, रागपरिणमनसे परिणत हो रहा है, क्या यह घटना सही नही है ? है। इस प्रकार निमित्तके सन्निधानमे पुद्गलकर्मका उदय पाकर जिसे इन शब्दोंमे कहो कि पुद्गल कर्मोदयके सन्निधानमे याने पुद्गलकर्म विपाकका निमित्त पाकर आत्मामे आत्माकी योग्यतासे आत्माकी परिणतिसे विकार हुआ है क्या यह बात यथार्थ नही है ? है। इतने पर भी यदि कोई यह कह दे कि पुद्गल कर्मने राग किया, रागपरिणतिको किसने किया ? पुद्गलकर्मने, तो यह बन गया उपचार। कर्ता कर्मभाव एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ नही होता। निमित्तनैमित्तिक भाव तो रहता है, पर कर्तृकर्म भाव एक द्रव्यमे एकसे ही होता है, अन्यमे नही हुआ करता, क्योकि जो परिणमता है इसे कर्ता कहते हैं, कर्ता नाम ही उसका है जो परिणमता हो। जो परिणति है वह क्रिया है, जो परिणाम है वह है कर्म और जो परिणमता है वह है कर्ता। इस तरह कर्ता कर्मका जो भाव है वह एक द्रव्यका दूसरेके साथ नही है। इस पर भी चूंकि यह बतानेके लिए कि कर्मके उदयका निमित्त पाकर उस निमित्त सन्निधानमे जीवमे यह राग-

परिणति हुई है इतनी बातको लोकभाषामें समझानेके लिए औपचारिकभाषा बोली जाती है, वहां प्रयोजनमात्र ग्रहण करता है। जब यह कहा जाता है कि पुद्गल कर्मने जीवमे राग किया तो यह हुई औपचारिक भाषा। इस ही रूपमे कोई बात माने तो वह मिथ्या है। व्यवहारनयका जो विषय है वह प्रयोजन है उपचारका। इसलिए उपचार तो मिथ्या है, लेकिन व्यवहारनयने जो बात दिखाया वह मिथ्या नही है उसका प्रतिपादन लोक भाषामे उपचारमे होता है। उससे हमे यह शिक्षा लेना है कि रागादिक भावोको परभाव जानकर, भिन्न जानकर उनका आश्रय न करें। आश्रय करें परमशुद्ध निश्चयनयके विषयभूत उस अखण्ड चैतन्यस्वभावका। देखिये—जब आश्रयकी बात आती है—हम किसका आलम्बन ले। तो उस का उत्तर एक ही है अखण्ड सहज स्वभावका।

(१७३) आश्रेय तत्त्वका निरीक्षण—देखो जगतके सब जीवोंकी आदत है कि वे किसी न किसीका शरण मानकर उसका आश्रय तका करते है। व्यवहारमे भी कोई भाईका आश्रय लेता है, कोई स्त्रीका, कोई पिताका, कोई गुरुका आश्रय लेता है, यो जीवोमे किसी न किसी का आश्रय लेनेकी आदत पडी हुई है। ठीक ही है। जब तक यह जीव परिपूर्ण नही है, परम कल्याणमय नही है तब तक तो यह अवस्था आयगी ही। अब विवेक यहाँ यह बनायें कि हम किसका आश्रय लें कि हमारा कल्याण हो, हम संसारके सकटोसे सदाके लिए छूट जायें। देखिये भाई जगतमे हमारा बाहरमे कोई दूसरा नही, कोई मददगार नही, इसलिए बडी सच्चाई के साथ पहिले यह संकल्प बनावें कि मेरेको तो अपना कल्याण करना है, इसके सिवाय और मेरा कोई लक्ष्य नही है। बाहरमे बहुत फसाव करना, लगाव करना, यशकी बात चाहना, लोगोमे अपने नामकी बात चाहना, ये सब बातें कोई कल्याणकारी नही। वह तो गुप्त ही गुप्त अपने आपमे मैं इस गुप्त आत्मप्रभुका उस ही के गुप्त रहस्यका पता लेकर इसकी अनुभूतिके साथ मैं अपने आपमे सब कुछ पाऊँगा और कल्याण करूँगा। यही एक मात्र अभिलाषा है। ससारमे अनेक जीवन पाये, सब जगह कष्ट ही सहे और कुछ उन्नति करते-करते आज हम इस मनुष्यभवमे आये, जो बडा दुर्लभ है। इस मनुष्यभवमे आकर भी हम यदि विकल्पोका इतना उपद्रव बनायें कि रागद्वेष मोहमे ही रात दिन पगे रहे, अपने समता रसका स्वाद लेनेकी पात्रता खतम कर दें तो यह हमारे विवेककी बात नही है। हम धीर हों, गम्भीर हो और बडे विवेक से वस्तु स्वरूपका निर्णय बनायें और उसका फायदा उठायें अपने आपके कल्याण लाभका। ऐसी हम प्रवृत्ति न बनायें कि जिससे हम इस कल्याणके अपात्र रहे।

**(१७४) सहजपरमात्मतत्त्वके आश्रयके अभ्यासमें मानव जीवनकी सफलता—** देखिये—यह मानव जीवन बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त हुआ, जिसको अनेक दृष्टान्तो द्वारा बताया

गया है। पा लिया, और साथ ही एक जैनशासन पाया जिसमे वीतराग मार्गका दर्शन है, जिसमे संसारके संकटोसे सदाके लिए छुटकारा होनेका उपाय है इतनी सब कुछ दुर्लभ बात पाकर हम केवल यया अपना लक्ष्य बनाये कि मैं कैसे अपने इस ज्ञानस्वभावमे लीन होऊँ। वह उपाय चाहिये हमे और चूकि ऐसी बात सदा काल नही बन पाती। कभी कोई क्षण मिल सकेगा। बडो कठिन बात है, यहाँ कुछ न कुछ मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियाँ करनो ही पडेगी। तो हम अपनी कैसी प्रवृत्ति करें जो हमारे स्वभावदर्शनसे विमुख न कर दे। जो मेरेमे रागद्वेष मोह न बढने दे, ऐसी हम अपनी परिणति बनायें। ऐसी प्रवृत्तिमे, ऐसे सद् व्यवहारमे विनयशील रहकर, जिसे सक्षेपमे कहा गया देवशास्त्र गुरुके प्रति विनयशील रह कर परमार्थत. अपने आपके अविकारी स्वभावकी ओर विनयशील रहकर हम सदा इस धुन मे रहा करें कि हम कैसे अपने आपके ज्ञानस्वभावमे गुप्त हो जायें ? उस धुनमे फिर हम जो कुछ करेंगे, वे सब हमारे विवेक वाले काम होगे। हाँ स्वभावदृष्टिमे हमको पहुचनेका काम पडा हुआ है।

(१७५) **भूतार्थनयका विषय परम आश्रेय तत्त्व**—एक उपदेशमे आचार्य कुन्दकुन्द देवने बतलाया है कि व्यवहार अभूतार्थ है, शुद्धनय अभूतार्थ है और जो भूतार्थका आश्रय करता है, उसके सम्यक्त्व होता है, वह कल्याणमार्गमे चलता है। जरा अपनी दृष्टि बनावो। भूतार्थका अर्थ क्या और अभूतार्थका अर्थ क्या ? भूतार्थका अर्थ है—शब्दमे निकली हुई वस्तु मे स्वयं अपने आप सहज निरपेक्षतया मात्र अपने ही सत्त्वके कारण परसन्निधान बिना जो हो उसे कहते है भूतार्थ। तो भूतार्थ तत्त्व क्या है ? जो मेरा आत्मा परसम्पर्क बिना, परापेक्ष बिना स्वय अपने आप स्वभावतः स्वयं मौजूद हो ऐसा भाव क्या है, जिसे सहज ज्ञानस्वभाव चैतन्यस्वभाव आत्मस्वभाव अतस्तत्त्व किसी भी रूपमे कहो, जो अनादि अनन्त बिराजमान है, पर्यायमे घटाया जाता हैं, पर्यायें आया करती है, ऐसा जो अन्त. स्वरूप है वह है स्वय सहज निरपेक्षतया अपने आपमे होने वाला अर्थ। इसे कहते है भूतार्थ। अभूतार्थ क्या है ? तो संक्षेपमे तो भूतार्थके वर्णनसे ही जान लेना चाहिए कि जो भूतार्थ नही सो अभूतार्थ। वह क्या कि जो आत्मामें स्वयं सहज निरपेक्षतया अपने स्वभावसे न हो। तो परसम्पर्कमे निमित्त सन्निधानमे, अशुद्ध पर्यायमे या भेदमे इन सब बातोमे जो हो उसे कहते हैं अभूतार्थ।

(१७६) **सत्य व असत्यरूपमे अभूतार्थकी द्विविधता**—अभूतार्थ कोई झूठ होता, शेष सत्य अधिक है जैसे आज हम आप मनुष्य है, मनुष्य हैं क्या यह बात झूठ है ? झूठ तो नही है लेकिन अभूतार्थ जरूर है। कैसे अभूतार्थ है कि यह मैं आत्मा स्वय अपने स्वभावतः निरपेक्षतया निमित्त बिना, कर्मसम्बन्ध बिना मनुष्य नही होता, इसलिए यह भूतार्थ

है। सच होनेपर भी अभूतार्थ है अर्थात् मनुष्य है, यह पर्याय है। त्रस स्थावर ये पर्याय हैं, हम आप क्रोध, मान, माया, लोभमे चल रहे है, दुःखी हो रहे हैं, ऐसी प्रवृत्ति हो रही हैं, वह हो रही है सम्पर्कमे। देह कर्म और जीव इन तीनोका पिण्डोला बन रहा है। इस विवेकसे भी एक तत्त्वको जाना, वह हमारी श्रेयोमार्गकी दृष्टि है मगर इस समय तो इन तीनोका समुदाय है, यह जो इतनी यात्रा चल रही है। उसका विधि विधान भी यही है सो यह भी चीज सच है और किस पर्यायमे चल रहा है जीव, यह जीवकी परिणति कौनसी चल रही है ? यह जानें, यह भी ठीक है। सच होने पर भी एक भूतार्थ नही है, किन्तु अभूतार्थ है। क्यो अभूतार्थ है ? है तो सच। क्या सच होनेपर भी अभूतार्थ कोई होता है ? सचकी परिभाषा अलग है और अभूतार्थकी परिभाषा अलग है। अभूतार्थकी परिभाषा यह है कि स्वय सहज निरपेक्ष स्वयं जो नही है, किन्तु निमित्त सन्निधानमें है, स्वभावमें विपरीत है उसे कहते हैं अभूतार्थ। बात सही है। व्यवहारकी बात झूठ नही है। पर व्यवहारपे जो बात समझी जा रही है वह बात अभूतार्थ है, याने जीवका स्वभाव नही है, जीवका एक निरपेक्ष भाव नही है। अर्थ इतना निकला।

(१७७) सत्यार्थ व असत्यार्थकी पारमार्थिक परिभाषासे भूतार्थ व अभूतार्थका मेल—अब देखिये—भूतार्थका दूसरा नाम सत्यार्थ भी है। अभूतार्थका दूसरा नाम असत्यार्थ भी है। इसे जरा ध्यानसे सुनो—सत्यार्थका अर्थ क्या है ? सच्चा, यह नही, सत्यार्थके मायने यह नही कि बात सच निकले। सच निकले वह बात अलग है मगर सत्यार्थका अर्थ है सत्में स्वयं अपने आप निरपेक्षतया जो भाव हो उसे कहते हैं सत्यार्थ। याने जो भूतार्थका अर्थ है वही सत्यार्थ का अर्थ है। याने आत्मापर घटावो। आत्मामे अपने आप स्वयं निरपेक्षतया स्वभावतः जो अनादि अनन्त भाव है, जिनके बिना अपना अस्तित्व नही रहता है, ऐसा जो पारिणामिक भाव तन्मय जो एक अंतस्तत्त्व है वह है सत्यार्थ। तो असत्यार्थ क्या है ? जो स्वयं सत्मे अपने आप निरपेक्षतया न हो उसे कहते है असत्यार्थ। याने मुझ आत्मवस्तुमे निमित्त पाकर जो वस्तु बनी है, कर्मोदयसे जो बात निष्पन्न हो रही है वे सब बातें हैं सत्यार्थ। असत्यार्थके मायने यह नही कि यह झूठ है। यह सच है, मनुष्य है, तिर्यञ्च है, क्रोधी है, मानी है, मायावी है, लोभी है, और उसका विधि विधान भी यही है। ये सब विकार निमित्तनैमित्तिक सन्निधान मे हुए हैं इस कारण ये नैमित्तिक हैं, परभाव है, इतना सब कुछ होनेपर भी बात यद्यपि यह सही है, सही होनेपर भी चूंकि यह स्वभावरूप नही है, आत्माके सत्मे स्वय अपने आप निरपेक्षतया नही हुआ है इसलिए यह असत्यार्थ है। असत्यार्थका अर्थ झूठ नही। असत्यार्थका अर्थ है स्वयं निरपेक्षतया अपने आप न होने वाली बात। अभूतार्थका अर्थ है स्वयं अपने

आपमे न हुई बात। बात सब जान लीजिये, नय कोई मिथ्या नही होता। आखिर नय श्रुत ज्ञानका अंश है। जितने भी नय है वे सब श्रुत ज्ञानके अंश है। ये उपचारमे शामिल नही इस लिए उपचारकी बात मिथ्या है। तब फिर नयोके जितने भी विषय हैं वे कोई विषय मिथ्या नही हैं। नैगमनय, संग्रहनय आदिक समस्त नय सम्यक हैं। व्यवहारनय, निश्चयनय, शुद्धनय, अशुद्धनय ये सब सम्पक हैं। किसीका स्वरूप गलत नही है, लेकिन जब हम व्यवहारके इस विपयको, उस विधि विधानके विषयको जब हम एक कर्ता कर्म रूपमे पेश करते हैं, तब फिर जो जैसा हो उसे वैसा जानें सही जानें, वहाँ कोई अड़चन नही है। यहाँ तक भी बताया है कि शुद्ध निश्चयसे तो ये रागादिक विकार पौद्गलिक है। जान लिया, समझ गए, लेकिन इस निमित्तनैमित्तिक भावके रहस्यको जब हम कर्ता कर्म भावके रूपमे पेश करते हैं तब वह उपचार भाषा हमारी मिथ्या हो जाती है। तो हम इन नयोका प्रयोग करके एक ऐसी दिशा मे पहुच जाते है जिसमे ज्ञानप्रकाश मिले।

(१७८) स्वभावदृष्टि कराना नयोंका प्रयोजन—देखो–सब नयोका प्रयोजन स्वभाव दृष्टि करानेका है यह भी आप ध्यानमे रख लीजिए। सभी नयोका प्रयोजन दृष्टि करानेका है, यही परमशुद्ध निश्चयनय हुआ अथवा व्यवहारनय हुआ। सबका प्रयोजन क्या है कि स्वभावकी दृष्टि करें, विभावोकी उपेक्षा करें। रागद्वेष मोहसे दूर हो जायें—"सुख दु ख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दु खकी खान। निजको निज परको पर जान, फिर दु ख का नहि लेश निदान।" निजको निज जान लीजिये, परको पर जान लीजिए। देखिये वस्तुस्वातन्त्र्यसे न बिगकर निमित्तनैमित्तिक भावको सही पद्धतिसे पेश करें तो वस्तुस्वातंत्र्य मिट जायगा, ऐसा कोई डर मानकर निमित्तनैमित्तिक भावको माने तो यह एक ज्ञानकी कमजोरी है और निमित्तनैमित्तिक भाव मिट जायगा वस्तुस्वातन्त्र्य माननेसे इसलिए वस्तुको स्वतन्त्र न मानना, खण्डन करना, ऐसा कोई सोचे तो उसके भी ज्ञानकी कमजोरी है। ज्ञान का बल वह है कि उसमे दोनो बातें स्पष्ट दिख रही है कि निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी कर्ता कर्मभाव उनमे परस्पर नही है। जिसे स्पष्ट बताया इन दो कथनोमें एकदम स्पष्ट बात बताया कि जीवके विभावोका निमित्त पाकर कर्म पुद्गलकर्मरूप परिणमते हैं और कर्म के उदयका निमित्त पाकर जीव विकाररूप परिणमता है यह बात गलत नही है, यह आम्नाय कह रहे है। इतनी बात माननेके बाद अब आगे चलो। इतना होनेपर भी चूँकि जीव का कर्मका परस्परमे व्याप्य व्यापकभाव नहीं है अतएव कर्तृकर्मभाव नही है, निमित्त नैमित्तिक भाव है। कर्तृकर्मभाव नही है, बस यह ही तो बोध करना है। मोह हमारा कैसे हटेगा ? संसारकी प्रवृत्तियोसे मेरी ममता कैसे हटेगी ? जब सबसे निराले अपने आपको

समझ पायेंगे तब मोह दूर होगा। एक ओर तो यह मानते रहे कि यह मेरा है, इससे मेरा सम्बन्ध है और दूसरी ओर ऐसा बनायें कि मेरा यह मिथ्यात्व मिटे तो यह कैसे हो सकता है ? अपना सच्चा ज्ञान बनावें गृहस्थावस्थामें रागको छोड़कर निभाव तो नही हो सकता। आप घरमें रहे, राग न करें, घरके लोगोंको गाली दें कि तुम सब नरकके कारण हो, तुम मेरे कुछ नही हो, इस तरहसे कहकर तो आप घरमें पैर तक न रख सकेंगे। आप घरसे हटा दिये जायेंगे। आप घरमे रहेगे तो वहां राग व्यवहार करना होगा। इतने पर भी अपना शुद्ध ज्ञान बनाये रहे कि मेरा तो केवल मैं हूं, मेरा अन्य कुछ नही है।

( १७६ ) **आत्मकल्याणाभिलाषीकी निर्विवादता**—देखो भाई जिसे अपना कल्याण करना है उसको कहीं विवाद नही और जिसके मनमे कल्याणकी बात नही है जैसे जो केवल धन वैभवके द्वारा ही दुनियामे अपना बडप्पन जाहिर करना चाहता है, ऐसे ही ज्ञानद्वारा इस जगतमें अपना बड़प्पन करना चाहता है तो उसको न कल्याण है और न वह निर्विवाद बात है। अगर कल्याणका भाव आया है रंच भी विवाद नही। देखो जितने भी दर्शन है—सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, बौद्ध, जैन आदि, तो इनके विषयमें एक पुस्तक अध्यात्मसहस्रीमे स्पष्ट बताया है कि अन्य दार्शनिक जो बात कह रहे है वह भी बात सत्य है मगर किस नयसे सत्य है ? तो उन ही नयोंका स्पष्ट वर्णन एक परिच्छेदमे किया गया है। जब सब दर्शनोकी बात, हम सब नयोंका मिलान करके दर्शन स्थापित करते हैं तब फिर इस जैनधर्ममे कही हुई बात को क्या सत्य नही कह सकते ? फिर परस्पर विवाद क्यो ? अगर कहो कि यह जीव नित्य है, अनित्य है, तो ये दोनो बातें सत्य है, जीव नित्य है, जीवमे पर्याय अनित्य है, दोनों बातें समझमें आ गई। जीवमें जीवकी योग्यतासे विकार हुआ है। यह भी बात सत्य है। कर्मके उदयका सन्निधान पाकर जीवमें कर्म हुए हैं यह भी बात सच है। सब नयोका प्रयोग बनावें आप तो उसमे उद्देश्य यह रहे कि मुझे कल्याण चाहिए। हमें कल्याणलाभ मिलेगा विविक्त वस्तुके दर्शनसे। सबसे विविक्त अपने आपके अंतस्तत्त्वके दर्शनमे लाभ मिलता है। सब नयो के प्रयोगसे आप यह लाभ उठा सकते हैं। केवल एक उपचार ही ऐसी चीज है कि जो जिस भाषामे बोलता है उस रूप ही कोई मान ले तो वह विवादमे आ सकता है, मगर नयोका कोई प्रयोग ऐसा नही है कि जो हमे विपरीत मार्गमे ले जाय। श्रुतज्ञानके ये सब अंश हैं। ७ नय, निश्चयनय, व्यवहारनय आदिक ये सब हमे विपरीत मार्गकी ओर नही ले जाते। ये सब नय हमे स्वभावदृष्टिकी ओर ले जानेका एक प्रकाश देंगे। इनको सही रूपसे समझ लीजिए और एक अपने आपका सही उद्देश्य बना लीजिए। देखिये सर्वविशुद्ध अधिकारमे निश्चयनयका बहुत-बहुत आश्रय कराकर हम आपको एक शुद्ध तत्त्वकी ओर ले जानेकी करुणा

की है आचार्यदेवने । तो इस जीवजीवाधिकारमे, कर्तृ कर्माधिकारमे अनेक जगह व्यवहारनयके प्रयोगसे वस्तुका वर्णन बताकर हमको स्वभावदृष्टिकी ओर ले जानेकी प्रेरणा आचार्य महाराज ने दी है । कैसे ? अरे भाई ये सब पौद्गलिक है, नैमित्तिक हैं, ये तेरे भाव नही हैं, ये सब परभाव हैं, बल्कि यहाँ तक कहा कि गुणस्थान मार्गणायें आदिक ये सब पौद्गलिक है । बतलावो वह है कैसे ? क्या सबमे पौद्गलिक है । हम आपसे पूछें कि निश्चयनयसे ये रागद्वेषादिक भाव पौद्गलिक हैं क्या ? तो निश्चयनयसे पौद्गलिक कही है, यह तो आत्माकी पर्याय है, पुद्गलकर्मकी पर्याय नही है, लेकिन कितना प्रकाश दिया है कि विकार सब नैमित्तिक हैं, ये मेरे स्वरूप नही हैं।

(१८०) आत्मत्वकी अङ्गीकारता— जिसके निर्णयमे अवश्य मार्गदर्शन होता है वह मैं क्या हू ? मेरा क्या है ? मैं क्या करता हू, मैं क्या भोगता हू ? मैं क्या हूं—इसके उत्तर यद्यपि अनेक आयेंगे, लेकिन जानना यह है कि मैं अपने आप सहज निरपेक्ष परसम्बन्ध बिना अपने ही सत्त्वके कारण क्या हूं ? तो उत्तर मिलेगा—चैतन्यस्वरूप, चैतन्यस्वभाव, ज्ञानप्रकाश। तब इसके अतिरिक्त अन्य जितनी बातें हैं उन्हे मैं न स्वीकार करूँ । जैसे घर मकान, धन दौलत, शरीर, कुटुम्ब आदि ये तो एकदम स्पष्ट परद्रव्य हैं, ये मैं नही हू, और कर्म ये भी परद्रव्य हैं, ये भी मैं नही, और कषाय—ये परभाव हैं, ये मैं नही, क्योंकि कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं । ये स्वभावसे मेरे सत्त्वमे नही उठे। अगर परसन्निधान बिना रागद्वेषादिक हो तो वे मेरे स्वभाव बनें, ये मेरे स्वभाव नही हैं, ये तो विभाव हैं। ये मैं नहीं हू, ये नैमित्तिकभाव हैं, परभाव हैं, इनसे न्यारा मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ । और तो क्या ? ये विचार तरंगें जो उठती है, जिन्हे छुटपुट जानकारी कहते है, ये छुटपुट ज्ञानकी वृत्तियाँ भी मैं नही हू, ये छुटपुट हैं, अपूर्ण हैं, नैमित्तिक हैं, जितना क्षयोपशम है उतनेका निमित्त पाकर हुए है । हुए हैं सब मेरी योग्यतासे, मेरे उपादानमे, लेकिन नैमित्तिक भाव हैं, वे सब मैं नही हूं । तब मैं क्या हू ? मैं हूँ एक ज्ञानज्योतिस्वरूप परमात्मतत्त्व । मेरा क्या है ? मेरा है मात्र मेरा स्वरूप । जो मेरा स्वरूप है वही मैं हू । जो मेरेमे सहज हो वह है मेरा। जो मेरा है वह कभी मिटता नही । जो मिटता है वह मेरा नही । यद्यपि जानकारियाँ या विकारपरिणतियां वे इस समय मेरी परिणति बन रही हैं । भले हो विकार हैं, पुद्गलके उदय है और उसी समय चेतना, वेदना, अनुभवना, अपनाना आदिक सब बातें हो रही हैं, फिर भी चेतन मे जो कुछ हो रहा है वह चेतनके ही धर्ममे चिदाभास हो रहा है, हो रहा है तो भी ये सब स्वप्रत्ययक नही हैं । वे केवल मेरे आत्माके ही कारण हो परवस्तुके सम्बन्ध बिना सो नही ।

(१८१) निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्यका प्रकाश—एक बात यह

समझना है कि परवस्तुका सम्बंध पाकर जो विकार होते है वे होते है अकेले उपादानमें ही, किन्तु परका सम्बंध पाकर हुए, परके सन्निधानमें हुए सो नैमित्तिक है, इतनेपर भी जो जिसकी परिणति है वह उसके साधनसे ही होती है, अन्य साधनसे नही होती। संसारकी जितनी भी व्यवस्था है वह सारी व्यवस्था इसी भाँति है, इसमें सब निमित्तनैमित्तिक भाव बराबर दिख रहा है। दिख रहा है, लेकिन एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्र, काल, भाव तक पहुंच जाये, एक दूसरेकी परिणति करता हो, दूसरेरूप परिणमता हो तो आज जगत शून्य हो जाता तो बराबर यह देखना है कि यद्यपि सारी व्यवस्था निमित्तनैमित्तिक विधानपूर्वक है, लेकिन प्रत्येक द्रव्य अपने आपमें अपनी परिणतिसे अपनी परिणति पा रहा है। कौन नहीं जानता कि रोटी कैसे बनती है ? वही विधि विधान मिलते है, क्या कोई ऐसी शंका करता है कि कल तक तो रोटी बनती थी इस विधिसे और इस इस चीजसे आज पता नही बने या न बने, ऐसी कोई शंका नही करता। पहिले पानीसे आटा गूंथना, अग्नि जलाना, फिर उसे सेंकना आदिक जो जो भी काम किये जाते है रोटी बनानेमें, उनको करते हुएमें कोई महिला यह शंका नही करती कि पता नही आज कही आटेके बजाय मिट्टीसे रोटियाँ बनें। तो निमित्तकी विधि निमित्तसे हैं। उपादान की विधि उपादानमे हैं। जैसा योग है वैसा सबको विदित है और सब लोग वह प्रयोग बनाते हैं।

**(१८२) निमित्तनैमित्तिक योगका ज्ञाता होनेपर भी ज्ञानीका उसमें अटकका अभाव—** भैया, बात व्यवस्था उस प्रकार हो रही है। लेकिन यह तो बतलावो कि हम आपको संसार की व्यवस्था चाहिये कि मुक्तिकी ? बात यह आती है। संसारकी व्यवस्था चाहिये तो विधि विधान संसारका है क्या ? कषायभाव करें, कर्म बन्ध हो, उदयकाल आये, कषाय परम्परा रहे, होती जायगी संसार व्यवस्था। याने जन्म मरण करना, संसारमे रुलना, यह बात पसंद है क्या ? अब जरा मुक्तिकी व्यवस्था देखो किस तरह है ? मोक्ष वस्तुतः चीज क्या है ? जो चीज है वहीकी वही बिना सम्बन्धके, बिना लाग लपेटके प्रकट हो जाय केवल मात्र वही, इसीके मायने मुक्ति है। याने जो सिद्ध भगवान बनता है वह कोई दूसरी चीज लाग लपेट की नही की जाती। कुछ उसमे जोडा नहीं जाता है। जो था, अनादि अनन्त जो स्वभाव है वही अब सम्बन्ध रहित होकर विकार रहित होकर अपने स्वभावके अनुरूप व्यक्त हो गया है इसीको सिद्ध प्रभु कहते है। मुक्ति की एक पद्धति है फिर भी अनादि कालसे विषय-वासना बसी है। इस विषयवासनाके संस्कारमें रहने वाले प्राणी इस ओर मग्न नही हो पाते। बराबर वही वासनायें सताती है उन वासनाओ पर विजय पानेके लिए, हटनेके लिए क्रिया व्यवहारधर्म, पांचो प्रकारके पापोका त्याग अणुव्रत महाव्रत संयम ध्यान तपश्चरण

इच्छा निरोध, जिनसे उन विषयोका आक्रमण हमे सता न सके। ये व्यसन संस्कारमे रहते हुए सताते रहते हैं। तो यह समझिये कि निश्चयसे तो धर्मपालन यह है कि आत्माका परिज्ञान करें, श्रद्धान करें और उसीसे मग्न होवें।

(१८३) **आक्रामकसे बचाव व आक्रामकपर प्रहारकी कलायें**—आत्ममग्नताके प्रयत्नशील होने वालेके लिए ये विषय वासनायें बाधक बन रही है। तो इसके लिए करें क्या कि जिससे इन विषय वासनाओसे निवृत्त होकर हम अपने स्वभावमे ठहर सकनेके पात्र बन सकें? उसके लिए चाहिये अपना सद्व्यवहार, जिससे ये विषय वासनायें व्यसन आक्रमण न कर सकें। बस उसीको तो कहते है सद्व्यवहार। उसीको तो कहते हैं चारित्र। करना है ऐसी प्रवृत्ति कि जिससे हम स्वभावदृष्टिके पात्र बनें और स्वभावमे मग्न हो सकें। जैसी हालतमे हम आप यहा पड़े हुए है ऐसी हालत वाले पुरुषोको ठीक उसी तरह जैसे किसी योद्धाको विजय पानेके लिए ढाल और तलवार दोनोकी आवश्यकता है इसी प्रकार हम आप इस समय जो वासनाओमे पडे हुए है उनसे निवृत्त होनेके लिए यह व्यवहारधर्म तो ढालका काम करता है और निश्चयधर्म शस्त्रका काम करता है। कोई योद्धा केवल तलवार लेकर युद्धस्थलमे नही उतरता है। उसे दूसरोके वारको रोकनेके लिए ढाल भी साथमे रखनी पडती है। कोई केवल तलवार शस्त्र लेकर युद्धस्थलमे उतरे तो उसकी भी खैर नही और कोई केवल ढाल ही लेकर युद्धस्थलमे उतरे तो उसकी भी खैर नही। जब ढाल और तलवार दोनोको लेकर युद्धस्थलमे उतरता है तो उसकी खैर है, अब इस दृष्टान्तके आधारपर अपनी बात देखिये।

(१८४) **व्यवहारधर्म द्वारा अशुभपयोगसे बचाव और निश्चयधर्म द्वारा विकारपर प्रहार**—हम आपकी खैर किस तरह है कि ये व्यसन, ये पाप वासनायें, ये खोटे सस्कार आक्रमण करते ही रहते है। देखो भले ही कोई धनी आदि दुनियामे दूसरोको सुखी बताने के लिए अनेक कारणोंसे भीतर बाहर दुःखी होकर भी मुस्कराता है, लोग न जान पायें कि यह दुःखी हैं, लोग जाने कि यह करोडपति है बडे सुखमे हैं, बड़े शान्त हैं। इसलिए वह बाहरसे मुस्कराता हुआ दीखता है, यद्यपि कष्ट उसे बहुत हैं, कही कुछ टोटा पड गया, कही कोई मित्रजन अथवा परिजन विरुद्ध हो गए, यो अनेक तरहकी ऐसी बातें हैं जिनसे उसे कष्ट मिलता रहता है। अभी थोड़े धन वालोको ही देख लो वे भी कितने ही प्रकारके विकल्प करके कषायें करके दुःखी रहा करते हैं, फिर अधिक धन वालोकी तो बात ही क्या कही जाय, वे तो और भी अधिक परेशान रहा करते हैं। वे अन्तः परेशान रहा करते हैं फिर भी दुनियाको यह दिखानेके लिए कि यह दुःखी नहीं है, वे बाहरसे मुस्कराते रहते हैं।

बाहरसे मुस्कराते हुए भी वे भीतरमे बसी हुई शल्यका दुःख भोगा करते हैं। यह एक दृष्टान्त दे रहे हैं, कही ऐसा नियम नहीं बना रहे। आप यह कह सकते हैं कि साहब यह बात तो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि धनिक पुरुष पर तो नही घटित होती। पर भाई प्रायः ऐसा ही होता है इस लिए कह रहें है। यहां भी देखिये—जो पुरुष विषयोसे आक्रान्त रहते है, जिनमे विषयवासनायें पडी रहती हैं, जो बाहरी बाहरी ही विकल्प जालोमें पड़े रहते हैं, याने अपने स्वरूपसे चिगे रहते है, ऐसे पुरुष बाहरसे मुस्कराते भी हो तो उससे क्या लाभ ? उनके बाहरी मुस्करानसे उनका भीतरी संकट तो न मिट जायगा। उन भीतरी संकटोसे दूर होनेके लिए तात्कालिक इलाज क्या है ? उसे बताया है व्रत तप सयम आदिक। इनसे अपना उपयोग हटाकर आत्मस्वभावकी ओर अपना उपयोग लगावें, उस स्वभावकी ही चर्चा करें उस स्वभावकी ही ओर दृष्टि करें। यह व्यवहार धर्म हमारे लिए ढाल जैसा काम करता है। इस व्यवहार धर्म के द्वारा इन विषयोके आक्रमणको रोक दें। लेकिन इतने मात्रसे ही काम तो नही चलनेका। इनने मात्रसे कही मुक्ति तो न मिल जायगी। अरे मुक्ति तो कहते है केवल होनेको। और, केवल होनेके लिए अन्तः क्या करना चाहिये ? उस केवलकी श्रद्धा करनी चाहिये। मैं चैतन्य प्रकाश मात्र हूं, उसका परिचय करें, उसीको ज्ञानमे लें, यह भीतरका निश्चय धर्म यह शस्त्र का काम करता है कर्मपर विजय पाने के लिए। भाई, भीतर ही भीतर अपना कल्याण किये जावो, चैतन्यस्वभावको दृष्टिमे लिए जावो, लक्ष्यमे रखो जितना बन सके। यह तो भीतरका एक पौरुष है। यह चाहिए। तब जो अनेक कामोमें व्यग्र हो रहे हो कि दुकानपर भी खूब विकल्प कमाते और जैसा जो कुछ करते हैं वह सब आप जानते ही है, कैसे अनेक प्रकारके आप विकल्प मचाते हैं, उन विकल्पोका जो संस्कार बनता है उसका अपहरण करनेके लिए हमे जिनेन्द्र देवके द्वारा कही हुई विधिके अनुसार हम कुछ अपना व्यवहार धर्म पालें, उससे हमको वह पात्रता रहेगी कि हम स्वभावदृष्टिका लाभ ले सकेंगे।

(१८५) **आत्मस्वभावदृष्टिके पौरुषमें**—मूल बात क्या कह रहे थे कि संसार—व्यवस्था कैसी है, यह निमित्त नैमित्तिक भावकी व्यवस्था है, और मोक्ष व्यवस्था जितनी है वह अपने आपकी व्यवस्था है। केवल होनेकी व्यवस्था अपनेको केवल निरखनेमे है। केवल हो जाना, उसमें समाये जानेकी व्यवस्था है। फिर भी जो अनेक सांसारिक बातें बहुत तेज लगी हुई हैं, ऐसी स्थितिमे हम व्यवहार प्रवृत्ति द्वारा उनकी एक उपेक्षा करते हैं, उनको हटाते हैं ताकि हम जरा योग्य रहे इस बातके कि हम सब आत्मस्वभावके दर्शनके पात्र बनें। अब व्यवस्था की बात समझिये—निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था कहाँ होती है ? निमित्त और उपादानमे। उपादान तो उसे कहते है कि जो परिणमता है, जिसकी परिणति होती है, जिसमे पर्याय प्रकट

होती है, जिसकी पर्याय कहलाती है वह उपादान कहता है। निमित्त वह कहलाता है कि जिस अन्य पदार्थके साथ उपादानके इस कार्यका अन्वय व्यतिरेक सम्बध हो। अन्वय व्यतिरेक सम्बंध हो और साथ ही अत्यन्ताभाव हो। देखिये कितनी विलक्षणता है। अत्यन्ताभाव है फिर भी अन्वय व्यतिरेक है। दोनो बातें एक साथ हैं। वह केवल है, वह चेतन है फिर भी अन्वय व्यतिरेक है। कर्मोदय हुए बिना रागादिक नही होते। जब रागादिक होगे तो कर्मोदयके सन्निधानमे होंगे ही, अन्य प्रकार न होगे। यह सम्बध आप देख लो—अनादिसे अब तक चला आया है। इतने पर भी अत्यन्ताभाव है और इसी कारण उन दोनोमे परस्पर कर्ताकर्मभाव नही है,

(१८६) **विकारके पृथक्करणकी संभवता**—जरा विचार करें कि हमारे वे रागादिक दूर हो सकते कि नही ? दूर हो सकते है ? क्यो दूर हो सकते ? यो दूर हो सकते कि ये रागादिक भाव मेरे सत्त्वकी, गाँठकी, स्वभावकी चीज नही है ये परभाव है। निमित्त सन्निधानमे हुए है इसलिये हटाये जा सकते है। तो भाई निमित्त नैमित्तिक भावका बोध सही हो। इतनी अपने आपमे प्रेरणा देना है कि हम विकारभावोसे हटे, इन परभावोसे हटें, इनमे हित नही है। हित तो हमारा स्वभावदर्शनसे है। अनेक दृष्टान्त ऐसे मिलेंगे कि जिन मे यह बात घटित होगी कि निमित्त वह कहलाता है कि जिसमे अत्यन्ताभाव हो। उपादान का और उस मेलका इनमे अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है। हो रहा है ऐसा, इतना होनेपर भी इनके रुचिया नही बनना है। यह तो जानना है। किसलिए ? छूटनेके लिए। मैं इनसे छूटूं इसके लिए जानना है। मैं नैमित्तिक भावोसे छूटू इसके लिए जानना है। जब कभी आप दर्पणके सामने कोई रगीन कपडा कर देते है तो उस दर्पणमे वह कपडा उस रंगके रूपमे परिवर्तित हो जाता है, उस समय उस दर्पणमे स्वच्छता नही दिखती। तो भाई उस दर्पण पर आये हुए उस प्रतिबिम्बको हटाना होगा ना। उसको हटानेके लिए क्या करना है ? ना कि वह प्रतिबिम्ब उस रगीन कपडेका है। जानते है, उस रगीन कपड़ेके सन्निधानसे वह प्रतिबिम्ब आया हुआ है, उस कपडेको हटा दिया जाय तो वह प्रतिबिम्ब भी हट जायगा और वह दर्पण ज्योका त्यो स्वच्छ प्रकट हो जायगा। तो निमित्त-नैमित्तिकका ज्ञान किस लिए किया ? नैमित्तिक भावको, विकारको हटानेके लिए। परिचय किसलिए होता है, ज्ञान किसलिए होता है ? ज्ञान होता है परसे हटकर अपने आपमे लगनेके लिए। जिस ज्ञानका यह प्रयोजन नही है वह ज्ञान कुज्ञान है। और जिस ज्ञानका यह प्रयोजन है कि मैं अहितसे हटूं और निजमे आऊँ वह ज्ञान समीचीन है। अहित है विभाव और हित है स्वभाव। अहितसे हटनेके लिए सब ज्ञान करने पड रहे हैं। ज्ञान करें। जैसे कोई लडका बहुत तेज खिलाडी है तो वह उस खेलको बडे ही कलात्मक ढगसे एक लीलामात्रमे खेलता रहता है।

वह इतना अभ्यस्त हो चुका है कि उसे उस खेलमें रंच भी कठिनाई नही मालूम होती। इसी तरह जिसको अपने आत्मस्वभावकी ही दृष्टि बनी है, जिसको अपने उस हित स्वरूपकी ही धुन हुई है—मुझे तो इस स्वभावमें ही रमना है। वही हितरूप है। ऐसी जिसको एक धुन लग गई हो वह तो सभी कथनोंसे, सभी नयोसे सभी साधनोसे वह ही पंथ अपनायेगा जिससे वह अपने स्वभावकी ओर आये।

(१८७) **युगपत् होनेपर भी निमित्तनैमित्तिकपनेका प्रतिनियत प्रकाश**—निमित्त उपादानकी बात संक्षेपमे यह समझे कि जिसमे कार्य हो वह उपादान और वह कार्य जिसके सन्निधानमे ही हो वह निमित्त। अब इस सम्बन्धमें भी बात यह मालूम पड रही है कि उसी समय निमित्त है, उसी समय उपादान अथवा वह नैमित्तिक कार्य है। जिस कालमें रागप्रकृतिका उदय है उस ही कालमे राग है, ऐसा है ना। ऐसा होनेपर भी कही यह न कहा जा सकेगा कि रागभाव निमित्त है और कर्मका उदय नैमित्तिक है। आगममें कहा, आपका अनुभव कहेगा, कि निमित्त तो कर्मका उदय ही कहलाता है। विकार नही कहलाता है कर्मके उदयमे निमित्त। किन्तु विकार होनेमे कर्मका उदय निमित्त कहलाता है। जैसा कि ग्रन्थोंमे स्पष्ट लिखा हुआ है? तो एक साथ होनेपर भी रागविकार हुआ। कर्मोदय हुआ दोनो एक समयमें हुए, इतने पर भी निमित्त तो है कर्मका उदय और नैमित्तिक है वह राग भाव। अगर हम ऐसा कहने लगें कि निमित्त तो है वह रागभाव और नैमित्तिक है वह कर्म का उदय तो इसका निवारण करनेके लिए आप क्या युक्ति देंगे? युक्ति देनी होगी। जिसको निमित्त करके नैमित्तिकभाव हुआ है वह है निमित्त। विकारको निमित्त करके उदय नही होता, किन्तु विकारका निमित्त करके कर्मबन्ध होता, तो कर्मबन्धनमे निमित्त हुए विकार न कि कर्मोदयमें निमित्त हुए विकार ऐसी बात स्पष्ट झलकानेके लिए यह आर्ष उपदेश है कि जब कर्मोदय होता है तब उसके सन्निधानमे रागविकार होता है। ऐसा होनेसे कही परतत्रता नही आयी कि कर्मने अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उपादानमें डाल दिया। किन्तु ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि जिस कालमें कर्मोदय है उस कालमे जीवमें राग विकार हो रहा है।

(१८८) **ज्ञप्ति, उत्पत्तिके साध्य साधन**—उक्त प्रकारसे आपको बतलाया निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका प्रकाश लेकिन आप बोल कब पायेंगे कि यह निमित्त है। अब एक दूसरी बात देखिये—आप कब कह सकते हैं कि यह निमित्त है? जब आपने नैमित्तिक कार्यको जान लिया। तो यह ज्ञप्तिदिशाका साध्य साधन है जो कि अनुमानप्रमाणका अङ्ग है। पर उत्पत्तिके कथनमें तो यही निश्चित है कि निमित्त होनेपर ही नैमित्तिक होता है।

सो जानना अनुमान प्रमाणकी बात है और होना निमित्तनैमित्तिक योगकी बात है। किसी घरमे अग्नि जल रही है यह हम बाहर बैठे हुए कब बता पाते हैं? जब हमने धूमको देखा तब हम बताते हैं कि इसका निमित्त अग्नि यहाँ है। अब ध्यानमे आया ना? बतानेके प्रसग मे तो हम नैमित्तिकको ज्ञप्तिके साधनरूपमे पहिले लेंगे तब बता पायेंगे कि यह निमित्त है, मगर होनेके प्रसगमे, विधि विधानके प्रसगमे यह बात नही है कि जब विकार होता है तब उदय हाजिर होता है। देखिये होनेकी बात अलग है और बतानेकी बात अलग है। दार्शनिक लोग जानते है कि प्रमाणमे जो प्रामाण्य है उसकी उत्पत्ति कब स्वतः होती है कब परतः। तो निमित्त नैमित्तिक विधानके बारेमे उत्पत्तिकी बात अलग है और ज्ञप्तिकी बात अलग है। नैमित्तिकको देखकर ही हम परोक्षभूत निमित्तकी बात बता सकते हैं, उत्पत्तिकी बात यह है कि जैसे हम इस तखतका निमित्त पाकर इस पर अपनी शक्तिसे बैठ गए। तो यहाँ यह शब्दावली काम नही देती कि जब हमे बैठना है तब यह तखत हाजिर हो गया। यह तखत पहिलेसे है, इसको निमित्त करके हम अपने आपमे अपनी क्रिया करके बैठ गये। तो देखिये उत्पत्ति और ज्ञप्तिविषयक बात दार्शनिक शास्त्रकी कुञ्जी लेनेसे उतर जाती है। उत्पत्तिकी बात अलग है और ज्ञप्ति अलग है।

( १८९ ) **निमित्त और आश्रयभूत कारणका अन्तर**—अब दूसरी बात यह समझें कि विकारमे केवल कर्मविपाक निमित्त होगा, अन्य इन्द्रियविषयभूत या मनोविषयभूत पदार्थ निमित्त नही कहलाता। जैसे कि हम बोल जाते हैं कि सम्यक्त्वका निमित्त समवशरण है, सम्यक्त्वका निमित्त उपदेश है, सम्यक्त्वका निमित्त जिनबिम्बदर्शन है, ऐसा आगममे तो कहा है मगर उसका सही अर्थ तो समझलो। ये कोई चीजें सम्यग्दर्शनके निमित्त नही हैं। सम्यग्दर्शनका निमित्त है मात्र सम्यक्त्वघातक सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम। अन्य चीज कोई निमित्त नही। जब और कोई चीज निमित्त नही है तब यह संदेह न करें कि फलाना निमित्त मिलाया पर सम्यग्दर्शन न मिला। अरे वह निमित्त था ही नही। समवशरण जिनबिम्बदर्शनादि सम्यक्त्वसे पूर्व संभव होने वाले शुभोपयोगके आश्रयभूत है। शुभोपयोग पूर्वक ही सम्यक्त्व होता है, अशुभोपयोगपूर्वक नही। इस भावसे उन्हे सम्यक्त्वका निमित्त कहा जाता है। एक दृष्टान्त और लें— जैसे एक वेश्या गुजर गयी, उसे जलानेके लिए लोग लिए जा रहे थे। उसे लिए जाते हुएमे रास्तेमे एक मुनि महाराजने देखा तो देखते ही उनके मनमे ऐसा वैराग्यमयी विचार आया कि देखो कैसा दुर्लभ मानव जीवन पाकर इसने विषयोमे गँवा दिया। उसी मृतक शरीरको किसी कामी पुरुषने देखा तो उसे देखकर उसके मनमे ऐसा भाव आया कि देखो यह तो मेरेसे भली भाँति परिचित थी। यदि थोडे दिन वह

और जीवित रहती तो मैं और भी उसका सुख भोगता। उसी मृतक शरीरको किसी गीदड़ तथा कुत्तेने देखा तो उनके मनमें यह भाव आया कि ये लोग इसे व्यर्थ ही जला रहे, यदि इसे यों ही छोड़ देते तो कुछ दिनोंका हमारा भोजन बनता। अब बतलावो कि वह मिला हुआ वेश्या शरीर उन तीनोके भावोंका निमित्त है क्या? अरे निमित्त नही है। अगर निमित्त होता तो उन तीनोंमें एकसा भाव उत्पन्न होता। पर यह है आश्रयभूत। देखो मुनिके हैं कषायका क्षयोपशम, सो इस निमित्तके अनुसार वैराग्य हुआ उसका आश्रयभूत बना वेश्या-देह। कामीके है मोह वेदका उदय सो उस निमित्तके अनुसार कामीके बना कामभाव, उसका आश्रयभूत है वेश्यादेह। ये बाह्य पदार्थ आश्रयभूत है। आश्रयभूतके साथ नैमित्तकभावका अन्वय व्यतिरेक सम्बंध नही होता। जब राग प्रकृतिका उदय आया तब वह राग बना, और उस व्यक्त रागके बननेकी विधि यही है कि कोई न कोई परपदार्थ आश्रयमे ले। किसी परपदार्थको विषय न करे, उपयोगमे ग्रहण न करे और व्यक्त राग हो जाय, ऐसा नही हो सकता। व्यक्त रागमुद्रा बननेकी विधि ही यह है कि जिसके रागमुद्रा बनेगी उसके उपयोगमे कोई परवस्तु विषय रहेंगे, ऐसे परवस्तु आश्रयभूत हैं, पर निमित्त नही हैं, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक सम्बंध नही है कि वह वेश्या शरीर मिले तो काम भाव हो ही यह तो नही होता। बात यह हुई कि मुनिके था उन कषायोंका क्षयोपशम व मन्दभाव, मंद कषाय। तो उस वेश्या शरीरको देखकर उपयोगमें आश्रय तो हुआ, मगर भाव किस तरहका हुआ? उस मंदकषायरूप। कामी पुरुषके था कामप्रकृतिका उदय सो वेश्याको देखकर उसके मनमे कामसम्बन्धी भावना बनी। उन कुत्ता गीदड़ वगैरहके उस ढंगका उदय था असातावेदनीयकी उदीरणा थी इस लिए उनके वैसे भाव बने। तो ये बाह्यपदार्थ आश्रयभूत कहलाते हैं। इनके साथ अन्वय व्यतिरेक नही।

(१८०) **चरणानुयोगसे आश्रयभूतका परिहार कराकर अन्तःशुद्धिका विधान**—चरणानुयोगमें यह बात बताया है कि देखो कुछ पुरुषार्थ करके जो जो पदार्थ आश्रयभूत हुआ करते हैं कषायोके उन पदार्थोंका त्याग करें तो हमे ऐसा प्रकाश मिलेगा कि जब आश्रयभूत पदार्थ बाहर नहीं है तो उस समय परिणाममें विशुद्धिका अवसर है, उस समय स्वभावदृष्टि करनेका अधिक पौरुष भी कर सकते हैं और आप लोगोने अनुभव भी किया होगा कि जिसके विषयमे आपका क्रोधभाव बनता है वह बैरी आपके उपयोगमे आपके समक्ष बहुत दिनों तक नही आता तो आप बहुत कुछ अच्छे रहते हैं। संभाले हुए रहते हैं और उसमें अच्छा भाव भी बना सकते हैं। और बैरी जब सामने दिख जाता है तो आपका क्रोध उमड़ पड़ता है। तो देखिये आश्रयभूत हुआ ना वह बैरी पुरुष! तो इस आश्रयभूतका परित्याग करें। समय

सारमें जैसे बताया है ना "किं वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं। तु होइ जीवाणं। न हि वाह्यवस्त्वना श्रित्याध्यवसानमात्मानं लभते।" बाह्य वस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नही बना सकता। बाह्यवस्तुओके त्यागकी मुख्यता चरणानुयोगमे दी गई है और देखिये ना, जब आपको कोई काम करना हो तो उसे खूब पौरुषके साथ कीजिए। आप एक बार जगतके समस्त पदार्थोंको असार जानकर उन्हे त्यागनेका पौरुष कीजिए। यह काम गुप्त ही गुप्त करनेका है। कोई मुझे जाने तो क्या न जाने तो क्या? यहाँ तो एक ऐसी चीज बना लें कि जिससे आप इस संसारकी भटकनासे छुटकारा पा सकें।

**(१९१) नयोंसे तत्त्व जानकर आत्महितके लिये पौरुषका संयत विधान**—देखो तथ्यपरिचयकी यह बड़ी सकरी गली है, बड़ी सावधानीसे यह रास्ता पार करना होता है। जैसे बहुत ऊँची नीची सकरी गली हो तो उस पर चलने वाला बडी सावधानीसे चलता है। जरा भी फर्क हुआ चलनेमे तो वह गिर जायगा। ऐसे ही हमारी सम्यग्ज्ञानकी गली हमारी आजकी गली ऐसी सकरी है कि हमे इसमे बडे सयमसे, बडी सावधानीसे परिचय करनेकी बात होती है। एक दृष्टिसे कोई भी बात समझें, भावुक बनकर नही यदि अन्य दृष्टिका प्रयोग किया तो वह सकरी दृष्टि करा देगा। देखिये जो हितरूप दृष्टि है वह मुख्य होती है। यह जो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी बात है यह चिरकाल तक हृदयमे धारण करनेके लिए नही कही जा रही है, मगर एक सच्चाई जान लो। तब आप बिना गुरुके अपने आप स्वरूप दृष्टिमे खूब लगो। आखिर दृष्टि हीं तो होना है। पर अज्ञानदशा है तो हम किसी भी एक दृष्टिको बनावें उसमे सफलता न मिलेगी। अज्ञान हटाकर जो हमारी स्वभावदृष्टि है, शुद्ध दृष्टि है, उसे सब प्रयत्न करके करें। तो देखो—श्रुत ज्ञानके ये अंश है—परमशुद्ध निश्चय नय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय। इन चारो नयोसे अपना लाभ उठावो। इनका उपयोग कीजिए, सदुपयोग कीजिए, ये जो कुछ बताते है वे सच बताते हैं। सच होने पर भी कैसे सचका हमे आश्रय लेना है और किसका नही लेना है। व्यवहारनयने वताया पुद्गलकर्म जीवके रागादि भावोका निमित्त करके कर्मरूप परिणमता है, कर्मभावके उदयका निमित्त पाकर विकारी जीव विकाररूप परिणमता है। व्यवहारनयने बताया यह बात सच है। सच होनेपर भी हम इस सत्यके आश्रयसे अपने आपमे क्या पायेंगे? वह तो जाननेके लिए है व उपेक्षाके लिये है। कोई सत्य जाननेके लिए होता है, कोई सत्य आश्रय करनेके लिए होता है। अब शुद्धनयसे, भूतार्थनयसे जो हमने जाना वह हमारा आश्रेय है, फिर भी हम जिस परिस्थितिमे हैं उसमे हम छलाग मारकर शुद्धोपयोगमे नही पहुच सकते। कुछ अपने व्यवहारमे, अपनी प्रवृत्तियोमे सुधार करें। देखिये—विकल्पोमे और विवादोंमे

तो लगा देते है हम कई कई घटोका समय । यह तो लोगोको मंजूर है मगर जो हितकारी ये देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान आदिक आवश्यक कर्म, हैं, जिन्हें जिनेन्द्रदेवने बताया है, सब जगह भली प्रकारसे बता दिया है, उसमे अगर आधा घंटेका भी समय लगे तो उसकी तो आलोचना करते कि हम विकल्पमे रहे और जो हम लड़ाई व्यापार रोजिगारमें रहे, धर्मचर्चाके नामपर कषायोंमें, विरोधमें रहे, इसके सम्बन्धकी कुछ चर्चा अपने आपमें नही करते कि हमने इनमे पडकर तो अपना समय बेकार ही खोया । इससे तो अच्छा था कि हम पूजा, स्वाध्याय, जाप आदिमें रहते तो उसमें भला था । यह आत्म-हितकी दृष्टिसे बात कही जा रही है । भाई व्यवहारधर्मका पालन करके निश्चयधर्मकी आस्था रखते हुए दृष्टि सहज स्वरूपकी ओर रखें ।

(१६२) **स्वभावाभिमुख होकर स्वभावके निकट पहुंचना**—कोई व्यापारी सिमरिया नामके ग्रामके रहने वाले थे। एक बार वे सामर नमक ग्राममे नमक खरीदने गए। वह सामर ग्राम वहाँसे कोई १००० मील दूर पडता था। जब वे नमक खरीदकर अपने ग्रामकी ओर चले तो कुछ दूर चलकर उनमेसे एक व्यापारी दूसरे व्यापारीसे पूछता है कि भैया सिमरिया गाँव अब कितनी दूर है ? तो उसने कहा—"सामर दूर सिमरिया नीरी,, ··· अरे ऐसा कैसे ? आप तो कहते कि सामर गाँव दूर है और सिमरिया गाँव नजदीक हैं । अरे अभी तो अपन लोग सिर्फ ४ मील ही आये हैं, अभी तो ९९६ मील और चलना है। अभीसे आप कैसे कहते कि सामर दूर सिमरिया नीरी। तो वह बोला—भाई जिस तरफसे पीठ फेरा वह दूर हो गया और जिधरको मुख किया वह नजदीक हो गया तो भाई स्वभाव दृष्टिके रुचिया बनो, उसे नज-दीक करो, वह एक भली बात है। अगर समता धीरतासे जिनेन्द्र देवकी सब आज्ञाओका पा-लनकरते हुए व्यवहार धर्ममे भी कोई त्रुटि न करते हुए, निश्चय धर्मका उपदेश रखते, हुए की ओर अभिमुख होवें तो यह बहुत भलो बात होगी। अपने आप अपनेको समझना उस है। अपनेको अपने आपमे ही आरूढ होना है सब जिम्मेदारी हमारी हमपर है, दूसरेपर नही। इसलिए अपना भरोसा बनाकर अपने आपके ज्ञानसे ही समर्थन लेकर ज्ञानस्वभावकेअ भिमुख होवें ।

( १६३ ) **आत्महितार्थीको सर्वप्रथम स्याद्वादसे तत्त्वपरिचयकी आवश्यकता**—ज्ञान-स्वभावके अभिमुख होनेके लिए जरूरत है सम्यग्ज्ञानकी । ज्ञानके साधन हैं वचन उपदेश । वचन ऐसे होने चाहिये कि जो निजस्वरूपको समझानेमें प्रवीण हो। ऐसे वचन दो प्रकारके हैं। एक अभेद वचन और दूसरे—भेद वचन । अभेद वचन वस्तुके असली सही स्वरूपका संकेत करते हैं, लेकिन ऐसे वचन और ऐसे स्वरूपको समझनेके लिए सबसे पहिले तो हमे भिन्न-भिन्न

रूपसे वस्तुका ज्ञान चाहिए याने भेद वचनो द्वारा वस्तुका परिपूर्ण ज्ञान चाहिए। इसकी पूर्ति होती है स्याद्वादसे। किसी भी वस्तुका पूरा परिचय उस वस्तुमे रहने वाली सारी शक्तियोका, सारी वस्तुओका परिचय हो तब होता है। जैसे यहाँ किसी मनुष्यका पूरा परिचय दिया जाय, सभी दृष्टियोसे उसकी सारी विशेतषाओको बताया जाय तो उसका परिचय होता है। जैसे यह अमुक कामका व्यापारी है। यह अमुक जगहका रहने वाला है। इसका यह पिता है, इसका यह मामा है, इसका यह भान्जा लगता है, इसका यह पुत्र है आदिक अनेक बातें कही जायें तो उस पुरुषका परिचय पूरा होता है। तो जरा इसी परिचयमे देखिये—जैसे किसी आदमीका परिचय दिया जा रहा है कि यह पुत्र है, पिता भी है, यह मामा भी है, भानजा भी है, समझा दिया, ऐसा समझाते समय दृष्टि समझमे आ रही है कि यह अमुकका पिता है, अमुकका भान्जा है, अमुकका पुत्र है। जैसे दृष्टान्त ले लो। मानो किसी सोहन नामके आदमीका परिचय देना है। सोहनके पिताका नाम है मोहन और सोहनके पुत्रका नाम है श्याम। तो यह कहा जायगा ना कि यह सोहन मोहनका पुत्र है, श्यामका पिता है। तो अपेक्षायें इसमे दो हो गयी। यदि केवल यही कहा जाय कि यह तो पिता है तो जैसे श्यामका पिता है वैसे ही मोहनका भी पिता बन जाय तो असत्य बात आ गई ना? यह पुत्र ही है, ऐसा एकान्त किया जाय तो जैसे वह मोहनका पुत्र है ऐसे ही वह श्यामका भी पुत्र हो जायगा। तो उसको बताया जाता है कि यह मोहनका पुत्र है और श्यामका पिता है। अब दूसरी बात और देखिये—अगर "भी" लगा दिया जाय कि यह मोहनका पुत्र भी है तो इसका अर्थ गड़बड़ हो जायगा ना? इसके मायने यह हो जायगा कि यह मोहनका पिता भी है। लो गलत हो गया। तो अपेक्षा लगाकर फिर "भी" नही लगाया जाता है, किन्तु ही लगाया जाता है। मोहनका यह पुत्र ही है। श्यामका यह पिता ही है। तो अपेक्षा लगाना और ही लगाना ये दो बातें आवश्यक हो जाती हैं किसी भी वस्तुका परिचय करानेके लिए।

(१६४) **स्याद्वादसे संशयके अवसरका अभाव**—बहुतसे लोग कहते हैं कि स्याद्वाद तो संशयवाद है। वे बतलाते है कि जीव नित्य भी है अनित्य भी है। तो संशय हो गया। कभी कहते हैं कि नित्य है, कभी कहते हैं कि अनित्य है पर उन्होंने समझा नही। बात यह है कि अपेक्षा बतायें और 'भी' की जगह 'ही' लगाये तो यह एकदम मुद्रासे प्रकट हो जायगा कि स्याद्वाद तो सच्चा निर्णय देने वाला एक प्रबल उपाय है, जब कहा जायगा कि द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य ही है तो देखिये कितने ठोस निर्णय वाला होता है, याने यह जीव सदा रहता है, इसके द्रव्यको जब देखते हैं तो स्वभाव दृष्टिसे सब जीव नित्य ही हैं और जब पर्यायको देखते हैं तो पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य ही है। वहाँ निर्णय लेते है तब

हम पर्यायोंको देखकर विचार करते है। पर्याय कहते है अवस्थाको, दशाको, जो कि मिटती रहती है। जैसे आज मनुष्य है, कुछ दिन बाद यह देह मिट जायगा, बादमे पता नही देव हो या तिर्यंच हो। तो ये दशायें मिटती रहती है। तो पर्यायोंकी अपेक्षासे जीव अनित्य ही है। देखिये स्याद्वादने निर्णय करा दिया। संशय नही। जो लोग उसका पूरा विचार नही करते वे ही तो इसको संशय जैसा रूपक दे सकते है। तो स्याद्वाद एक निर्णायक उपाय है। इससे वस्तुका निर्णय बनाइये। यह एक ऐसी यात्रा है ज्ञान की कि जैसे किसी ऊँची पहाड़ी पर नीचे जाने वाली रेलगाडीको देखिये जब वह रेलगाडी चलती है तो उसके आगे पीछे दोनो ओर इंजन लगे रहते हैं। आगेका इजन तो कुछ बेग रोकने वाला होता है और पीछे का इंजन कुछ-कुछ उसको चलानेके लिए है तो जैसे नीचे जाने वाली ट्रेनके लिए २ इजन आवश्यक होते हैं इसी तरह इस वस्तुस्वरूपकी ज्ञान यात्रा करनेके लिए अपेक्षा और एव ये दो इंजन लगे हुए है। जिसे कहते है—स्यात् नित्य एव स्यात् अनित्य एव। जैसे द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य ही है। तो जीव नित्य है यह तो किया जाना है सिद्ध और उसकी सिद्धिके लिए अपेक्षा लगी है स्यात् या अपेक्षा या द्रव्यदृष्टिसे और आगे लगा है शब्द 'एव' तो सच्चा निर्णय बताना स्याद्वादका काम है।

**(१६५) स्याद्वादसे निष्पक्ष निर्णय, दार्शनिकोंकी तृप्ति व विवादकी समाप्ति**—एक प्रश्न एक प्रोफेसर साहबने रातको रखा था किसी दूसरे महाशयके प्रति कि यह तो बतलावो कि जैनसिद्धान्तकी सबसे बडी विशेषता क्या है ? जो अन्यत्र नही पायी जा सके। कोई कहे अहिंसा तो अहिंसाका वर्णन तो अन्य दार्शनिक भी करते है। किसीका दिल न दुखावो। अपने परिणाम मलिन मत बनावो। तपश्चरणका भी दूसरे दार्शनिक आदर करते हैं। ऐसी कौनसी चीज है जो जैनसिद्धान्तका एक विलक्षण प्रयोग हो ? तो पहिली बात इसी स्याद्वाद् को देखिये—कितनी अद्भुत इसमे कला है। भारतमें आजकल जैसे बडे विवाद उत्पन्न हो रहे है एक दर्शन धर्म सम्प्रदायके नाम पर कितने विवाद व कलह होते हैं। उन सब विवादोको मेट सकनेमे समर्थ है तो एक स्याद्वाद है। सबकी बुद्धिका आदर करें और उन्हे बतलावें कि तुम्हारी यह बात इस अपेक्षासे सत्य है। किसी भी बातको असत्य साबित करनेके लिए कमर कस लेना यह एक झगड़ेका मूल बन जाता है और उसकी ही बातको अपेक्षा लगाकर सत्य जाहिर करनेकी बात करना यह बडी मित्रताका काम करता है। तो स्याद्वाद सब दार्शनिकोके कथनका समन्वय बनाता है जैसे आज जरूरत है देशमे कि ऐसा समन्वय रहे कि कोई लोग परस्परमे लड़ें नही तो कलहको दूर करनेमें समर्थ एक यह स्याद्वाद है। दार्शनिकताके नाते जिन दार्शनिकोने जो बात कही है वह बात सर्वथा याने एका-

न्तदृष्टिसे तो असत्य है, पर उसकी अपेक्षा खोजो किस दृष्टिको लेकर उन्होने कहा है। तो आज वडे कठिनसे कठिन जंचने वाले तत्त्वोका भी निर्णय स्याद्वाद अपेक्षावादसे करता है।

(१६६) **दृष्टियोसे तथ्य खोजनेपर विवादसमापनका एक उदाहरण**—जैसे एक बात रखी जिसके विषयमे स्पष्ट विवाद है। कोई लोग कहते हैं कि इस जगतको ईश्वरने बनाया है, वैज्ञानिक लोग यह बात नहीं मानते हैं और अनेक दार्शनिक भी नही मानते हैं। पदार्थ हैं, सत् हैं, अपने स्वरूपसे परिणमते रहते हैं। ऐसा समस्त पदार्थोका जो समूह है उसका नाम जगत है। यदि ईश्वर बनाता है किसी पदार्थको तो यह बतलावो कि वह सत् पदार्थ को बनाता है या असत् पदार्थको? याने जो पदार्थ पहिले से है उसको ही बनाता है या जो बिल्कुल नही है उसे बनाता है? यदि कहा जाय कि सत् पदार्थको बनाता है, जो है उसको वनाता है तो है को बनानेका मतलब क्या? वह तो है ही। यदि कहा जाय कि असत्को वनाता है तो जो नही है उसे बनाता है यह बात तो बिल्कुल असम्भव है। जिसका अस्तित्व ही नही है उसका किसी भी प्रकारसे सत्त्व नही हो पाता। जैसे ईश्वरवादियोने जो ईश्वरको सृष्टिकर्ता मानते हैं उन्होने भी यह कहा है कि 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत', याने जो सत् है उसका कभी अभाव नही होता और जो असत् है उसका कभी सद्भाव नही होता। अब जरा समन्वयकी दृष्टिसे विचार करें तो कहा तो है उन्होने ईश्वरको जगतका कर्ता। अब दृष्टि परखिये। उनकी बात सही मिल जायगी। देखिये जितने भी जगतके प्राणी हैं उनका वास्तविक सहज स्वरूप क्या है? उनका सहज स्वरूप है विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव। तव इस ज्ञानानन्द स्वरूपको स्वभावको देखते है तो विदित होता है कि सभी जीव स्वभावमे ईश्वर हैं। सभी ऐश्वर्यके अधिकारी हैं। तो ये सब जीव ईश्वर कहलाये। पर्यायमे भले ही गडबडी है मगर स्वभावसे सबमे प्रभुका रूप है। देखो इसको भी प्रकट रूपसे लोग कहते हैं कि घट-घटमे ईश्वर है, सबमे प्रभु विराजमान हैं। और वह प्रभु एक है, घट घटमे प्रभु विराजमान है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक जीवमे प्रभुका स्वरूप है, और वह प्रभु एक है। एकका अर्थ है समान। समान भी एक कहा जाना। जैसे किसी जगह गेहूके दाने रखे हो ढेरके रूप मे और वे वरावर समान गेहू हैं तो लोग कहते है कि देखो ये सव गेहू एक हैं। तो समानको भी एक कहते। जव समानतासे देखा तो सव जीवोका स्वरूप तो एक समान आया और उस के समान स्वरूपको जव देखा और केवल स्वरूप ही दीखा तो वहां समानकी भी वात छूट गयी। वहां तो एक तत्त्व दीखा। तो इस तरहसे एक ईश्वर कहलाया और सबमे ये ईश्वर बसे कहलाये, और ये सव पदार्थ चूंकि सत् हैं तो वे अपना उत्पाद व्यय किया करते हैं। तो देखो—सत् है यह ईश्वर है, इसके जो उत्पाद व्ययकी पद्धति है वही सृष्टि कहलायी। तथा इसके

सान्निध्यमे देह व कर्मका परिणमन हुआ यह सब सृष्टि चली, और यह सब सृष्टि देखो निर्वाध चल रही है। अगर कोई एक ईश्वर इस जगनकी सृष्टि करने वाला होता तब तो इन सब अनन्तानन्त जीवोंको सृष्टि करनेमे उसे अनेक बार बाधायें होती। कहो किसी जीवको वह भूल जाय, वह जीव बिना परिणमे ही कहो रह जाय यों व्यवस्था बनानेमे उसे तकलीफ होती। जब समस्त जीव ईश्वर स्वरूप है, और सब जीव सत्त्वके कारण अपना उत्पाद व्यय करते है तो इन सब ईश्वरोके द्वारा जगतकी सृष्टि करनेमें कभी न बाधा आयगी, न भूल करेंगे। तो देखो अपेक्षा लगाकर वस्तुका निर्णय बना और इसका अब धारण कीजिए कि 'एव' ऐसा ही है। स्यात्का ऐसा मतलब है कि हम इसके द्वारा वस्तुके स्वरूपका सही परिचय कर सकते है।

**(१९७) अपनेको स्वरूपमात्र अङ्गीकार करनेसे कष्ट चिन्ता व विकृतियोंको समाप्ति**

एक बार रुड़कीमे हमारे लगातार एक सप्ताह प्रवचन चले। वहांपर सभी लोग आते थे। तो एक अजैन महिलाने मेरेसे एक प्रश्न किया कि महाराज—हम तो इस कारण अधिक दुःखी रहती हैं कि जो हम स्त्री पर्यायमे हैं यहाँ हम कुछ विशेष धर्म नही कर सकती हैं, क्या करें ? तो वहाँ हमने यही कहा कि जरा अपनी अन्तः दृष्टि करके सच तो बताओ कि तुम स्त्री हो क्या ? अरे तुम स्त्री नही हो, यह तो एक पर्याय है, कभी जीव पुरुष बना, कभी स्त्री बना, कभी पशु-पक्षी बना, यह पर्याय तो मिटने वाली चीज है। तो क्या तुम यह पर्याय रूप ही चीज हो ? तुम तो वास्तवमे जो हो सो बताओ। देखो जिसमे मैं मैं का अनुभव होना है वह क्या है ? वह मैं एक ज्ञानरूप हू, ज्ञानप्रकाश हूं, ज्ञानपुञ्ज हू। देह मैं नही हू। ध्यानमें आया ना ? तब तुम शरीर भी नहीं हो। शरीर तो अशुद्ध है। अपवित्र है, अशुचि है, विनाशीक है। जलकर राख हो जाने वाला है। यह शरीर हो क्या तुम ? अरे तुम वह शरीर नहीं हो तुम तो एक ज्ञानप्रकाश मात्र हो। तो यह निश्चय करो कि मैं ज्ञानप्रकाश मात्र एक पदार्थ हूं। स्त्री नही, मनुष्य नही और देखो—जो लोग मनुष्य हैं वे भी जब तक यह समझते रहेगे कि मैं मनुष्य हूं। पुरुष हूं तब तक वे धर्म न कर सकेगे। वह तो पर्यायबुद्धि है। मिथ्यात्व है। उन्हे भी यह समझना चाहिये कि पुरुष मैं नही हूं, किन्तु एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हू। स्त्रियोको भी समझना चाहिए कि मैं स्त्री नही हूं। मैं तो ज्ञानस्वरूप एक आत्मपदार्थ हू। सन्तोष हुआ उसे कि हां ठीक बात है। यह देह ही मैं नही हूं। तो क्या कल्पना करूँ कि मैं पुरुष हू अथवा स्त्री ? तो जब द्रव्यदृष्टिसे कुछ निर्णय किया जाता है तब एक सहजभावका निर्णय बनता है, वह सहज तत्त्व जो आत्मामे अपने आप स्वभावसे अनादि अनन्त पाया जाय वह है स्वभाव। वह हू मैं ज्ञानस्वरूप। और देखो—कोई सोचे कि स्त्री धर्ममे आगे नही बढ़ सकती, पुरुष आगे बढते, तो आजकी बात यह है कि न तो

पुरुषको मोक्ष है और न स्त्रीको। अब रही चारित्रमें धर्मसाधनकी बात। तो वह होता है ज्ञानस्वरूप आत्माके आश्रयसे। वह सबको प्राप्त है। तो अपने ज्ञानस्वभावका आश्रय करें और खूब अपनेमे धर्मका प्रसाद पायें। लाभ लें, यह सब कोई कर सकता है। जब द्रव्यदृष्टि से विचार किया जाता है तो जीव नित्य है, जीव ज्ञानस्वरूप है, उसमे कोई कष्ट नही है, यह अधूरा नही है। इसमें किसी दूसरेका दखल नही है। यह तो जाज्वल्यमान चकचकायमान एक ज्ञान तेज पुञ्ज है। उस प्रकाश पर जिसकी दृष्टि नही गई वह जीव अभी अंधेरेमे है। उन जीवोंको किसी प्रकारसे शान्ति नही प्राप्त हो सकती है जो जीव अपने आपमे अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव नही कर सकता है। तो अपने आपको ज्ञानस्वरूप माननेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने आपमें अपने आपके सहजस्वरूपको दृष्टि बनायें। ये सब बातें हो सकेंगी स्याद्वादके प्रतापसे। स्याद्वादसे पहिले भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे वस्तुके समस्त धर्मों का परिचय किया। फिर सब धर्मोंका परिचय करने के बाद उन सभी धर्मोंको गौण करके याने वस्तुमे रहने वाली शक्ति गुण पर्यायोका ख्याल छोडकर एक अखण्ड वस्तुपर आये।

**(१६८) कलिकालमें कलुषित हृदयोमें नयानभिज्ञ वक्तावों द्वारा प्रभुशासनके प्रसार की अशक्यता**—बात यह कह रहे थे कि वस्तुका परिचय करानेका उपाय स्याद्वाद है। उस स्याद्वादकी प्रतिष्ठा जैनसिद्धान्त ने की है। तो जैनसिद्धान्तकी सबसे अधिक विशेषता है स्याद्वाद, जो कि समस्त दार्शनिकोकी फूटको मिटा देता है। सबको एक मंचपर उपस्थित कर सकता है। सबमे एकरस होकर सबमे एक अहिंसाकी प्रतिष्ठा बना सकता है। आज सारे देश यदि स्याद्वादका सहारा लें तो कही विवाद न रहेगा। मगर एक बात प्रश्नमें आ सकती है कि जो इतना बड़ा ऊंचा शासन है स्याद्वाद वह शासन सारे विश्वमे क्यो नही अपना प्रभाव फैला पाया? तो भाई बात यह है कि ऐसा कोई पहिले निर्णय न बनावें कि जिसका प्रभाव सब पर फैला हो वह अच्छी चीज है और जिसका प्रभाव कुछ पर ही हो वह अच्छी चीज नही है। देखो—पापका, मिथ्यात्वका अज्ञानका, मोहका अनन्तानन्त जीवो पर प्रभाव पडा है तो क्या उनका भला हो गया। अच्छा बुरा तो परिचय करके पहिचानो गुण देखकर जहां गुणोका सद्भाव हो वह अच्छा कहलाता है। खैर इस दृष्टिसे भी अगर विचार करते हैं कि जो अच्छी चीज है वह सब जगह फैली होनी चाहिए, किन्तु नही फैली, तो इसका उत्तर समन्तभद्राचार्यने दिया है "कालःकलिर्वा कलुषाशयो वा, श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा। त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः" जब समन्तभद्र स्वामी भगवानकी स्तुति कर रहे थे तो वहाँ एक बात कही कि हे भगवन्! तुम्हारे शासनका एक अधिपत्य क्यो नही विश्वमे चल रहा है। तो उत्तर दिया है कि तीन कारण हैं जिस कारण

से वह स्याद्वाद शासन यह ज्ञानानन्द जहाँ प्रकट है ऐसा प्रभुका शासन सारे विश्वमें नही फैल रहा तो तीन कारण क्या है ? एक तो है कलिकाल, दूसरे—सुनने वालोंके हृदय कलुषित है, और तीसरा कारण है बोलने वालोंको नयोंका ज्ञान नही होता। ये तीन ऐसे कारण है कि स्याद्वाद शासनका सर्वत्र प्रभाव नही फैल सका।

( १६६ ) कलिकालमें हीनभावनाका एक दृष्टान्त—अब उक्त तीन कारणोंपर ध्यान दीजिए—कलिकाल जहांके लोगोकी बुद्धि निसर्गतः पापकी ओर जाय उस कालका नाम है—कलिकाल। इसकी एक कथा सी गढी गई है। जैसे मानो दो दिन बाद कलिकाल लगना है तो तो पहिले एक पुरुषने किसी दूसरे पुरुषके हाथ अपना टूटा फूटा पुराना मकान बेचा। खरीदने वालेने जल्दी ही उसमे नीव खुदवाना शुरु कर दिया। नीव खुदवाते हुएमें उसने असर्फियोसे भरा हुआ एक हंडा पाया। कही उस मकानमें गड रहा होगा। तो वह झट उस हडेको ले जा कर मकान बेचने वालेसे बोला—भैया अपना यह असर्फियोसे भरा हडा ले लो आपके बेंचे हुए मकानमेसे यह निकला है, यह आपका है, आप इसे रखो। तो वह मकान बेचने वाला बोला कि मैंने तो मकान और उसकी जगह बेचा था सो उसका मुझे सब कुछ मिल चुका। अब यह हडा मेरा नहीं है। इसे आप ही अपने पास रखें। आखिर यह बात ऐसी बढ़ी कि इसका न्याय राजाके पास पहुंचा। दोनोने अपनी अपनी बात राजाके समक्ष रखी। मकान खरीदने वाला कहता है—राजन् मेने तो मकान खरीदा है, यह असर्फियोंका हंडा नही खरीदा, यह तो इन का है, ये अपने पास रखे, मैं इसे न लूंगा। तो बेचने वाला बोला—राजन् मैंने तो मकान बेचा था, उसका मुझे सब कुछ मिल गया, अब मुझे कुछ मिलना बाकी नही रहा। यह हंडा मेरा नही है, मैं इसे न लूगा। इसको ये रखे। राजा उन दोनोकी बात सुनकर बडा हैरान हुआ। उस समय कुछ भी न्याय न दे सका। बोला कि इसका न्याय हम कलके दिन करेंगे। (देखिये—आप लोग मुस्करा रहे हैं। शायद सोचते होगे कि हम न हुए उस समय, तो हम ले लेते। (हँसी)। अब जिस कलके दिन न्याय होना था उससे पहिलेकी जो रात्रि है उसके बाद लगना था कलिकाल। तो उस ही रात्रिमे देखिये उन तीनोके (याने मकान खरीदने वाले के, मकान बेचने वालेके और राजाके) भाव बदल गए। देखिये अभी कलिकाल लगा भी नही, सिर्फ प्रारम्भ होने वाला था उस ही रात्रिको उन तीनोके भाव बड़े कलुषित हो गए। जब प्रारम्भकी यह हालत है तो फिर इस कालकी तो बात ही क्या ? हां तो उन तीनोंके क्या भाव हुए सो सुनो—मकान खरीदने वाला अपनी खाटपर पडा हुआ सोच रहा था कि देखो मैंने कितनी बेवकूफीकी थो। अरे मैं व्यर्थ ही उस असर्फियोसे भरे हंडेको उसे देने गया था। कल के दिन जब वह मेरेसे लेनेको कहेगा तो मैं ले लूगा। मकान बेचने वाला सोचता है कि अरे

उसने तो केवल मकान और जमीन खरीदा था, वह असर्फियोका हंडा तो मुझे ही मिलना चाहिये था। मैंने व्यर्थ ही उसे लेनेसे इन्कार कर दिया। कलके दिन जब वह मेरेसे लेनेको कहेगा तो मैं ले लूंगा। उधर राजाके मनमे भी यह भाव आया कि अरे वे दोनो बेवकूफ थे, जो झगड रहे थे। कलके दिन तो मैं यही कह दूंगा कि देखिये यह असर्फियोसे भरा हंडा तो जमीनके अन्दर मिला, इसपर न तुम्हारा अधिकार है, न तुम्हारा। इसपर तो राजाका अधिकार है। तो भाई यह कलिकालकी बात कह रहे हैं। इस कलिकालमे लोगोंके ऐसे ही भाव हैं। तो हे भगवन! एक तो कलिकाल है जिसके कारण आपका पवित्र शासन एक छत्र न फैल सका।

(२००) **प्रभुशासनका प्रसार न हो सकनेमें वक्ता व श्रोतावोंकी त्रुटि**—दूसरा कारण यह है कि आजकल सुनने वाले लोगोके हृदय कलुषित हैं। वे अपनी मनपसंद बात सुनना चाहते हैं। उनके मनके विरुद्ध कोई बात बोल दी गई तो वे वक्तासे लड़ भी बैठते हैं। बहुतसे श्रोता ऐसे भी होते हैं कि जो अच्छे व्यवहारसे रहते हैं, पाप भी नही करते मगर धर्मके मामलेमे जो बात सुनी, जैसा जाना वैसा ही दूसरोंसे कहते हैं और वे मान जाये तो ठीक है और अगर वे दूसरी तरहसे कहे तो वह उनसे लड बैठता है। तो श्रोतावो का मलिन आशय है, तीसरे—वक्ताओंको नयोका परिचय नही है। वे यह नही बतला सकते कि यह बात हम इस नयसे कह रहे हैं। जानते हुए भी स्वयं वक्ताका एक ऐसा पक्ष रहता है कि वह नयका नाम न लेकर बोलता जाता है कि ऐसा ही है। अरे भाई ऐसा है तो सही मगर इस नयसे ऐसा ही है ऐसी बात बोलो। तो वक्ताओंको नयका परिज्ञान नही है। तो हे प्रभो, यही तीन कारण हैं कि जिसके कारण आपका यह पवित्र शासन एक छत्र विश्वमे व्याप न सका।

(२०१) **प्रभुशासनका स्वय महत्त्व**—प्रभु शासनका प्रसार हो चाहे न हो, इसमें क्या है? इससे कही प्रभुशासनकी त्रुटि नही आती। एक कविने कहा है कि किसी जंगलमे घूमते हुएमे भीलनियोंको मानो हीरा मोती मिल जावें और उन्हें उनकी पहिचान न होने से चाहे वे अपने पैरोका मैल घिसनेमे उनका प्रयोग करें, पर उनके इस तरहका अनादर किये जानेसे कही उन मोतियोका कुछ बिगाड तो नही हो गया। वे भीलनियाँ उन मोतियो का अनादर करें तो करें, पर वे बड़ी बड़ी रानियोके गलेका हार बनकर क्या उन रानियों की शोभाको बढाते हुए स्वयं गौरवको न प्राप्त होगे? अर्थात् अवश्य प्राप्त होंगे, तो इसी तरह समझो कि अगर एक स्याद्वादशासनका, आत्मशासनका संसारके ये अनन्त जीव अनादर कर रहे हैं तो करें मगर क्या इससे इस शासनका अनादर हो जायगा? अरे जो ज्ञानीसंत जन है, कल्याणार्थीजन हैं वे तो इसे मस्तकपर रखेंगे ही। उसका आदर करेंगे ही। तो

स्याद्वाद एक ऐसा उपाय है कि दार्शनिकोंका, समाजका, गुरुका, सबका विरोध मिटानेमें समर्थ है।

(२०२) स्याद्वादसे वस्तुतथ्यका निर्णयकर अहिंसामें बढ़का प्रोग्राम—अब स्याद्वाद के द्वारा जब वस्तुस्वरूपका निर्णय कर चुकते है तो अब हमारा प्रोग्राम क्या हो आगे बढ़नेमें वह है एक अहिंसा। अहिंसाका शुद्ध स्वरूप है अपने आपमे अज्ञान, भ्रम, मोह, रागद्वेष कल्पनायें ये उत्पन्न न होना, इसे कहते हैं पूर्ण अहिंसा। सच्ची अहिंसा। याने मैं अपने आपकी हिंसा न करूँ, अपने आपको बरबाद न करूँ। अपनेको गुप्त सुरक्षित बना लें इसको कहते है अहिसा। आप कहेगे कि हम तो सुनते थे कि किसी जीवकी हिंसा न करना सब जीवों पर दया करना उसे अहिंसा कहते हैं। तो आप ठीक ही सुनते आये, मगर आप इस तरह सुनो कि कोई अपने आपमे अज्ञान, मोह, रागद्वेष न बसायें, खोटे भाव न करें तो वह हो गई अहिंसा। जो अपना खोटा भाव न करेगा तो उसके द्वारा बाह्यमे जो प्रवृत्ति बनेंगी वह ऐसी बनेगी कि वह किसीकी हिसा न करेगा, दूसरोंकी दया करेगा। ऐसे लोगोने उसकी प्रवृत्ति देखकर अहिंसाका साक्षात् रूप उसको मान लिया, पर अहिंसाका साक्षात्रूप होता है खुदमे अपने आपमें रागद्वेष खोटे विचार न बनें सो अहिंसा है। इसे कहते है निश्चय अहिंसा। अब व्यवहार अहिंसा वह है दया करना, दूसरोका दिल न दुखाना। कोई पुरुष दूसरोका दिल न दुःखाये, दया करे तो उससे पुण्यबंध तो हो जायगा, मगर वह अपने आपमें भ्रम रखता है, रागद्वेष रखता है कि मैं इस पर दयाकर रहा हूं, इसपर उपकार कर रहा हू। इस प्रकारका भ्रमका भाव रखे तो अभी अहिंसा न बनेगी। वह तो अपने आप पर हिंसा कर रहा है, अपने आपमे कर्तृत्वबुद्धि लाद रहा है कि मैं इन जीवोकी रक्षा करता हूं। मैं इनको पालता पोषता हूं। देखो मैंने इतने रोगियोके लिए औषधालय खोल रखा है। अरे भीतरमे इसके ज्ञानप्रकाश नही है। परपदार्थके साथ कर्तृत्वकी बुद्धि लगी हुई है तो वह अपने आपकी हिंसा कर रहा है। तो अपने आपमे अज्ञान न रहे तब ही यह व्यवस्था बन सकती है। तो पहिली बात यह है कि शुद्धज्ञान प्रकाश तो अपने चित्तमे लेना होगा।

(२०३) अहंमन्यताकी महती विपत्ति—देखो भाई जिसपर लोग सुधार बिगाड की कल्पना करते हैं मैं मै की बात किया करते हैं, मैं हू, मैंने किया यह कितनी बडी विपत्ति है? सबसे बड़ी विपत्ति है मैं मैं की मान्यता। यह मैं हूं, मैंने ऐसा किया मुझको इसने ऐसा कर दिया, मुझे यह कुछ नही समझता। अरे भाई तू तो एक ज्ञानप्रकाश है, तू जब उसे नही समझ रहा है तो वह भी तुझे नही समझ रहा। इसलिए आपेसे बाहर क्यो हो रहे? यह पर्याय है। यह देह है। ये नाक, आंख, कान आदिक मलसे भरे हुए हैं, इनको क्यों

मानते कि यह मैं हूं ? और जब इस शरीरको मानते कि यह मै हू तो इसमे विवाद उत्पन्न होता है । मैं यह नही हू । मैं तो एक ज्ञानप्रकाश हूं । मेरी दया हो जाय, मेरी रक्षा हो जाय, बस यही मैं चाहता हूं और मैं कुछ नही चाहता हूं । एक बार देहरादूनमे मेरा चातुर्मास था । वहा शौचके लिए प्रतिदिन मैं करीब डेढ मील दूर जाया करता था । घूमना भी हो जाता था । तो जाते हुएमे पंजाबी वगैरहके कुछ बच्चे प्रतिदिन गोली खेलते हुए मिलते थे । एक दिन मेरे मनमे आया कि देखो सभी लोग हमे अच्छा कहते है । प्रशंसा सुनते सुनते तो बहुत दिन हो गये । चलो एक दिन निन्दा ही सही । एक बार मैं इन बच्चोकी गोलियों मे लात मार कर बिखेर दूंगा, फिर जो गालियाँ वे देंगे उन्हें सह लूगा । या बादमे जो होगा सो देखा जायगा, सो हमने उन बच्चोको गोलियोपर लात मार दी । उन बच्चोंने बादमें हमे ४—६ गालियाँ भी दी । उनको सुनकर मैं बहुत खुश हुआ । सोचा कि देखो यह तो मेरी एक परीक्षा थी । उन बच्चोकी गाली सुनकर मैं मनमे क्षुब्ध न हुआ तो यही मेरी उस परीक्षामे विजय है । यदि उन बच्चोकी गालियाँ सुनकर मैं क्षुब्ध हो जाता तो वही मेरी उस परीक्षामे असफलता थी । तो भाई किसीकी गाली सुनकर किसीके निन्दा भरे वचन सुनकर क्षुब्ध न हो । उस समय यह समझें कि यह तो मेरी परीक्षा कर रहा है । बल्कि उसको तो बडा उपकारी मानना चाहिए क्योकि उसने उस समय मेरेको बहुत सावधान बना दिया । इतना सावधान तो कोई १००-५० रूपये खर्च किए जानेपर भी न कर सकेगा । किसीसे कहे कि भैया हम तुम्हे १००) देंगे, तुम हमे अपने हृदयसे गालियाँ दे दो । तो भले ही वह १००) के लालचमे आकर कुछ ऊपरी ऊपरी बानावटी गाली दे दे, पर वह हृदयसे गालियाँ नही दे सकता । तो किसीके निन्दाभरे वचन सुनकर, किसीकी गालियाँ सुनकर हम क्षुब्ध न हो बल्कि उसे अपना उपकारी समझे । वह तो अपने लिए एक भली बात है । लोग तो जरा जरा सी बातमे किसीके द्वारा कुछ निन्दात्मक वचन बोले जानेपर अत्यन्त क्षुब्ध हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं । यह उनकी भूल है । यह समझें कि यह तो मेरे भलेके लिए है । यह तो मुझे सावधान कर रहा है । इसलिए उस पर क्षोभ न करके शान्तिपूर्वक सुन ले, यह हम आपके लिए एक भली बात है ।

(२०४) जन्म मरणकी महती विपत्ति—आज एक बडी जटिल विपदाकी समस्या है कि जिसका निपटारा करना अत्यन्त आवश्यक है । वह विपदा क्या है ? वह विपदा है इस जोर पर जन्म मरणकी । हम आप जन्मते हैं, मरते हैं फिर जन्मते हैं फिर मरण करते हैं । यह क्रम हम आपका आज भी चल रहा है और इसमे जितना जीवन मिलता है वह जीवन भी थोडा सा जीवन है । वह सारा जीवन संकट पूर्ण है । जन्ममे संकट, मरणमे

संकट और बीचमें रही सही जो थोडी जिन्दगी है उसमें भी संकट । आज इस मनुष्यभवको पाकर अनुभव कर लिया होगा, बताओ कौनसी संतोषकी बात अब तक पायी ? जब जन्में थे तब भी संकट हुआ, जवान हुए तब संकट हुआ, वृद्ध होगे तब भी संकट मिलेगा, जब मरण करेंगे तब भी संकट मिलेगा । इसे ऐसा समझिये कि जैसे आत्मानुशासनमे गुणभद्र स्वामीने कहा है कि जैसे एक बाँसकी पोरके बीचमे कोई कीडा पड़ा हो और उसके दोनो ओर छोरमें आग लगी हो तो उस कीडेकी बडी शोचनीय दशा है, इसी प्रकार हम आपके जीवनके दोनो ओर जन्म मरणकी आग लगी है और उस आग लगे जन्म मरणके बीच थोडा सा जीवन जो मिला है वह भी दुःखपूर्ण है । आप अनुभव करिये, सोचिये, अगर एक भवमें विषयके साधन मिला लिया, कुछ सांसारिक मौज पा लिया तो इससे मेरे जीवका पूरा नही पडता । जैसा भाव किया उसके अनुसार अगला जन्म हो गया तो वहाँ दुःख भोगेगा । एक यह सबसे बडी विकट समस्या है जिसकी कुछ थोडी जिम्मेदारी अनुभव करना चाहिये । मानो कुछ कला प्राप्त करली, धन प्राप्त कर लिया तो उससे क्या होता है ? जन्म मरणका संकट । ऐसा उपाय बन जायगा तो हम आप लोगोंका जीवन सफल है अन्यथा सफल नही है । चाहे जिन्दगीमे ससारी लोगोके कहनेमे यह बात बन जाय, इससे कुछ होने का नही । जन्म मरणका संकट मेटनेका उपाय बना लिया तो हम आप लोगोका जीवन सफल हो जायगा । तो कैसे मिटे जन्ममरणका संकट, इसीके सम्बन्धमे थोडा कहा गया ।

**(२०५) शान्ति चाहने व आश्रय लेनेकी प्रकृतिका सही उपयोग करनेका अनुरोध—** जहाँ हमपर विपत्ति है वहाँ यह भी देखिये कि हम आप लोगोको कितनी सुविधाये मिली है, हम आप सबकी दो प्रकारकी आदतें हैं । एक तो यह आदत है कि शान्ति चाहते हैं, सुख चाहते हैं । कोई जीव दु.ख नही चाहता । यह तो बड़ी अच्छी बात है जो कि सुख शान्ति सभी जीव चाहते है । एक तो यह बड़ी भली आदत है । और दूसरी भली आदत यह है कि किसी न किसी बड़ेका सहारा, आश्रय करना चाहते है । ये दो आदतें हम आपमें बड़ी अच्छी पडी हैं, लेकिन इन आदतोंका दुरुपयोग हो रहा है । चाहते है तो शान्ति, पर अशान्तिको शान्ति समझकर चाह लें तो उससे कार्यसिद्धि नही होती । यह तो बडी अच्छी बात थी हम आप लोग हृदयसे शान्ति चाहते है, लेकिन शान्तिका स्वरूप जब तक समझमे न आयगा तब तक शान्तिकी प्राप्ति नही की जा सकती । भले ही हम सुख शान्ति चाहते हैं, मगर वास्तविक शान्तिका निर्णय पहिले बनाना चाहिये कि वास्तविक शान्ति क्या है ? तो वास्तविक शान्ति क्या है, इसे थोड़े शब्दोमे बताया है कि जहाँ आकुलता न हो वही वास्तविक शान्ति है । जो लोग बड़ा सुख पा रहे हैं सम्पदाका, पञ्चेन्द्रियके विषयोका तो क्या उनमे आकुलता है ? हाँ

हां आकुलता है। निरन्तर आकुलता है। एक सेकेण्डको भी निराकुलता नही है। लग रहा ऐसा कि हम लोग बड़े मौजमे हैं, बडा सुख मिलता है। आरामसे रहते हैं, और यहाँ कहा जा रहा है कि एक समयको भी, एक क्षणको भी निराकुलता नही होती। यह बात सच है। देखो—यहांके ये सुख और दुःख दोनो ही क्षोभसे भरे हुए हैं। यह बात झट समझमें आ जायगी। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र आदिक पञ्चेन्द्रियके विषयोका जो आनन्द लूटा जाता है तो वह भी क्षोभसे भरा हुआ है। जैसे एक मनका ही विषय ले लो। जब कभी मेम्बर बननेके लिए बात चलती है तो उस समय आपका कैसा कैसा मन चला करता है ? मेम्बर होनेके लिए आपको कितना आकुल व्याकुल होना पड़ता है। एक भोजन करनेकी ही बात देख लो—जब आप भोजन करने बैठते है उस समय आप कितने-कितने विकल्प करते हैं। भोजन करते हुएमे भी आपको कितना क्षोभ रहा करता है ? तो ये पञ्चेन्द्रियके विषय कोई समतासे भोगता है क्या ? अरे सभी पञ्चेन्द्रियके विषय क्षोभसे भरे हुए हैं। उन्हे न चाहना। शान्ति क्या है ? जहाँ सुख नही दुःख नही।

(२०६) **शान्तिस्वरूप व आश्रेय तत्त्वका निर्णय**—सुखके मायने संसारका सुख। जो इन्द्रियोको सुहावना लगे वह सुख है और जो इन्द्रियोको असुहावना लगे वह दुःख है। तो इस बातका एक सही निर्णय कर लो कि न सुखमे शान्ति है न दुःखमे। इसके लिये तो प्रथम तो शान्तिका स्वरूप समझना है। दूसरी आदत क्या बतलाया कि हम किसी बड़ेका आलम्बन करना चाहते है, किसी बडेका सहारा तकना चाहते हैं। यह भी एक बडी अच्छी आदत है। देखो चाहे कोई बच्चा हो, चाहे जवान हो, चाहे बूढा हो, चाहे धनी हो, चाहे निर्धन हो, चाहे बुद्धिमान हो, चाहे मूर्ख हो सभीके अन्दर यह आदत बनी है कि हमे तो अपनी सुख शान्तिके लिए किसी बड़ेका सहारा चाहिए यह भी आदत अच्छी है, लेकिन यहाँ भी भूल करते हैं। वास्तवमे बडा कौन है जिसका हम सहारा लें ? और नियमसे संकटोसे मुक्त हो जायें ? तो देखिये—उत्तर यह देंगे कि वास्तवमे बडा वह है जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो। और बात सत्य भी है। वे बड़े हैं जो परमात्मा हुए, जो रागद्वेषरहित है, जो शुद्ध ज्ञान भोगते हैं, जो शुद्ध आनन्द भोगते है वे बडे है, लेकिन यहां एक समस्या और आ जाती है कि ऐसा बडा हमे एक भी नही दिखता, और कभी आंखो दिख भी जाय समवशरणमे तो उनके निकट पहुंचना भी कठिन है, और फिर वे भगवान किसीकी बात सुनते भी नही। आप सोचते होंगे कि क्या वहां पञ्चेन्द्रियके विषयोकी प्रवृत्ति नही है ? हां ठीक है, वहां तो केवलज्ञान है। वहां तो निर्विकल्परूपमे प्रतिभासमान होता है। हम उन्हे व्यवहारके ढंगसे कह सकते हैं, सहारा ले सकते हैं, और वे कैसे सहारा दे सकते हैं ? तो उनका सहारा यही है कि हम

उनके स्वरूपका चिन्तन करके अपने आत्मामें पवित्रता उत्पन्न कर लेंगे और हम अपने आपका वास्तविक शरण प्राप्त कर लेंगे, लेकिन एक बात देखिये कि जब मैं अपने आपका सहारा लेने चलता हूं, जो वास्तविक शरण है तो सहारा लेते लेते अन्तमें वह सहारा मिल जाता है जो मेरेमें अन्तःप्रकाशमान तत्त्व है उसपर आ जाया करते है। देखो—भगवान केवलज्ञानी है, अनन्त आनन्द सम्पन्न है और ये ज्ञानानन्द स्वरूप स्वभावके अनुरूप जो भीतर हैं सो बाहर है। हम आपको ऐसा नही है। भीतर तो है प्रभुके समान स्वरूप, पर बाहरमे हो रहा है विषय कषायोंका परिणमन। यह अन्तर पड रहा है, पर प्रभुके स्वरूपमें अन्तर नही पड रहा है। जो अन्तरंगमें है, जो स्वभावमें है सो बाहर प्रकट है, ऐसा अनुरूप परिणमन है वह ज्ञानपरिणमनका। तो ऐसा अनुरूप परिणमन निरखना है, उसका श्रोत है स्वभाव। उसमें पहुंचना है। उसके स्वभावपर पहुंचना है तो स्वभावका जो चिन्तन है वह व्यक्तिगत सत्ताको छोड़ देता है। तो इसका स्वभाव है ऐसी बात नही रहती, किन्तु स्वभाव है वह ही चिन्तनमें रहता है। तो जब स्वभाव चिन्तनमे रहता है तो परव्यक्ति छूटा, खुद नही छूट सकता, इसलिए अंततोगत्वा इस स्वभावके चिन्तनमे हमें अपने आपके स्वभावका स्पर्श हो जाता है।

(२०७) अन्तस्तत्त्वकी महत्ता—भैया, सच्चा निर्णय बनावें कि वास्तवमें आप कौन है? जैसे कहते है ना चत्तारिदंडकमे चत्तारिलोगुत्तमा, याने लोकमे चार उत्तम हैं वे चार कौन से उत्तम हैं? अरहंत, सिद्ध, साधु और केवली द्वारा प्रणीत धर्म। ये साधु लोकमें उत्तम हैं तिसपर भी अरहंत और सिद्धको उत्तम पहिले कहा। ये अरहंत और सिद्ध-लोकमे उत्तम हैं। उन अरहत और सिद्धके बताये हुए मार्गपर जो चलने वाले साधुजन है वे मगल हैं और जिस धर्मको केवली भगवानने बताया है वह धर्म लोकमें उत्तम है। तो व्यवहारमे बड़े हैं परमात्मा और सिद्ध पचपरमेष्ठी, पर निश्चयसे याने ये मेरेमे तन्मय रह सकें, ये मेरेसे अभिन्न रह सके, मेरेमें तन्मय हो सके, ऐसा बडा कौन है? ऐसा बडा है मेरेमे सहज जो अपने सत्त्वके ही कारण परकी अपेक्षा बिना, परके सम्पर्क बिना जो मेरेमे स्वरूप है, सहजस्वभाव है, वह लोकमें उत्तम है। मैं एक छोटी सी कहानी कहूगा, वह केवल इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए कि लोकमे उत्तम क्या है? क्या मिलेगा अन्तमे उत्तम? एक पुरुष कुछ बदचलन था, उसकी स्त्री सती थी। उसने बहुत समझाया कि तुम ये सब अपराध छोड़ दो, तुम्हारा कल्याण हो जायगा, पर वह न माने। एक बार फिर उस स्त्रीने पत्थरकी कुछ बटरिया देकर कहा कि लो देखो यह देवता है, यह बड़ा है, तुम इसकी रोज पूजा कर लिया करो और सिर्फ २४ घटेके लिए पाप छोड़ दिया करो। सो उसने स्त्रीकी बात मान ली। अब

वह प्रतिदिन उस बटरिया को पूज लिया करता था और २४ घंटेके लिए पाप छोड़ दिया करता था। उसने जल्दी-जल्दीमें कह तो दिया था कि हाँ हम यह बात रोज रोज कह दिया करेंगे, पर यह ध्यान उसने न दिया कि अगर हम प्रतिदिन २४ घंटेको पाप छोड़ दिया करेंगे तब तो पाप सदाके लिए ही छूट जायेंगे। स्त्रीने तीन बार संकल्प करा लिया कि हाँ प्रतिदिन इस बटरियाको पूज लिया करेंगे और २४ घंटेके लिए पाप छोड़ दिया करें। अब वह प्रतिदिन उस बटरियाको पूजकर २४ घंटेके लिए पाप छोड़ दिया करता था। एक दिन उसने देखा कि उस बटरिया पर चढाये जाने वाले चावलोंको चूहा खा जाता है तो उसके मनमें आया कि अरे इन पथरियोंसे बड़ा तो यह चूहा है, हमें इस चूहाकी पूजा करना चाहिए, अब वह चूहेकी पूजा करने लगा। चूहेको पकड़कर रख लिया, प्रतिदिन वह उस चूहेपर चावल चढाये, घंटी बजाये, पूजा करे और २४ घंटेके लिए पापोंको छोड़ दे। एक दिन उस चूहे पर झपटी बिल्ली। सोचा अरे इस चूहेसे बड़ी तो बिल्ली है। सो वह बिल्ली की पूजा करने लगा। एक दिन उस बिल्ली पर झपटा कुत्ता सो सोचा अरे इस बिल्लीसे बड़ा तो यह कुत्ता है, सो उस कुत्तेको पूजने लगा। एक दिन उस पुरुषकी स्त्री रसोईमें खाना बना रही थी, रसोईके पास वह कुत्ता गया, उस स्त्रीने कुत्तेको २-३ बेलन मार दिए, कुत्ता भौं भौं करके भग गया। इस दृश्यको उस पुरुषने देख लिया—सोचा अरे इस कुत्तेसे बड़ी तो मेरी स्त्री है, अतः उस स्त्रीकी पूजा वह करने लगा। अब तो उस स्त्री के दिमाग बहुत ऊँचे चढे हुए थे। एक दिन उस स्त्रीने खाना बनाया, दालमें नमक अधिक गिर गया। उस पुरुषने पूछा कि आज दालमें नमक अधिक क्यों हो गया? तो वह झुंझलाकर बोली अरे अधिक हो गया तो क्या हुआ, हाथ ही है हो। गया अधिक तो कुछ पानी और मिलाकर खा लो। उस पुरुषको गुस्सा आया तो उसने ३-४ तमाचे स्त्रीके जड़ दिए, स्त्री रोने लगी। अब उस पुरुषने सोचा—अरे इस स्त्रीसे बड़ा तो मैं हूं, वह अपनी पूजा करने लगा। देखिये बाहरमें बड़ा खोजने निकले तो वह बड़ा खुद ही मिला। तो भाई शान्तिकी उपलब्धिके प्रसंगमें अपनेको आप ही बड़ा मिल गया। दूसरेका सहारा आपको शान्तिका साधक न बन सकेगा। तो जब अपने आपमें अपने स्वरूपको निहारियेगा तो बड़ी उपलब्धि होती है।

( २०८ ) **सम्यक् ज्ञानकी स्वीकारतासे ही कषायसंकटोंके विनाशकी संभवता**—बहुतसे लोग तो जब बहुत हैरान हो जाते हैं तो हमसे कहते हैं कि महाराज, आप हमारे बच्चेको ऐसा नियम दिला दो कि वह क्रोध न करे। अब भला बतलावो—इस बातका कैसे नियम कराया जाए? उसको यह बात तो निभ न सकेगी। अरे क्रोध तो एक भीतरका

प्रसंग है। अज्ञानभाव जगता है, क्रोधप्रकृतिका उदय आता है, क्रोधभाव होता है, क्रोध न करें ऐसा नियम नही निभाया जा सकता। अगर सम्यग्दर्शन हो, कुछ विवेक हो, स्वरूपकी बात हो, स्वरूपकी शुध हो, आश्रयभूतके त्यागका नियम लें तो यह निभ जायगा, मगर जब तक अज्ञान है तब तक कषाय छोडनेका नियम कैसे बनेगा ? तो जब अपने आत्माके इस सत्य स्वरूपका बोध होता है कि अरे यह मैं अपने आप सहज स्वतः स्वभावतः अपने ही सत्त्वके कारण एक ज्ञानपुञ्ज हूं। इसके अतिरिक्त और मैं कुछ नही कहा जाता। रागद्वेष मोह कषाय, विकल्प, विचार, ईर्ष्या, लड़ाई-झगड़े आदिक ये कोई मेरे स्वरूपमें नही है। स्वरूपकी बात कही जा रही है, बीत क्या रही है इसकी चर्चा नही करते। मेरेमें स्वरूप क्या है ? मेरा स्वभाव क्या है, इसकी बात कही जा रही। जैसे कोई बड़े कुलका लड़का हो वह खोटे काम करता है तो लोग उसे समझाते हैं—बेटा तुम तो बहुत ऊँचे घरानेके हो, यह काम तुम्हे करना चाहिए क्या ? तो देखिये जैसे करता तो है खोटा काम, पर उसे कहते कि तुम तो बड़े ऊँचे घरानेके हो। इसी तरह जब समझाया जाता कि देखो तुम तो बड़े ऊँचे घरानेके हो, जैसा भगवानका स्वरूप है वैसा तुम्हारा स्वरूप है, तुम हो तो इतने ऊँचे कुलके, मगर कर क्या रहे हो ? यह रागद्वेषका काम करते हो। अरे भाई जब गृहस्थी लगी है तो थोडा रहेगा ऐसा कि इस रागको रखे बिना गृहस्थीका काम कैसे चलेगा ? तो भाई ठीक है, गृहस्थी के अन्दर रहकर तो रागका, प्रेमका बर्ताव करना पड़ेगा, मगर भीतरमें श्रद्धा ऐसी बनाये रहो कि ये सब जीव मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, किसी भी अन्य जीवसे मेरा कुछ सम्बंध नही है, मेरा कल्याण करनेमें कोई भी परपदार्थ समर्थ नही है। तो वास्तवमे बड़ा कौन है ? आदत तो बनी है बड़ेका आश्रय तकनेका, मगर सच सोचो कि मेरे लिए बड़ा कौन है मेरेको मेरा सहजस्वरूप ही महान् है।

(२०९) **स्वयंकी जागृतिसे स्वयंकी प्रगति**—देखिये समझाने वाला कितना ही कोई समझाये मगर समझने वाला ही यदि समझना चाहे तो समझ सकेगा। समझाने वाला तो एक आश्रयभूत कारण है। समझाने वाला गुरु तो समझाये पर समझने वाला यदि नही समझ-ना चाहता तो गुरु उसे सिखानेमे समर्थ नही। कोई एक जीव किसी दूसरेका कुछ नही कर सकता। देखिये जब सीता जी का जीव प्रतीन्द्र बना था, श्रीराम उस समय निर्ग्रन्थ मुद्रामें बैठे हुए किसी जंगलमे तपश्चरण कर रहे थे। वहाँ सीताका जीव प्रतीन्द्र पहुंचा श्रीरामको डिगानेके लिए। उसके मनमें यह बात आयी थी कि अभी श्रीरामका मोक्ष न हो, वादमे हम दोनो एक साथ मुक्त होगे। इसी विचारको लेकर सीताका जीव प्रतीन्द्र श्रीरामको डिगानेके लिए पहुंचा। बड़े हाव-भाव दिखाये, बड़े-बड़े प्रयत्न किए, पर श्रीराम रंच भी न डिगे।

उस प्रतीन्द्रने ऐसा भी दृश्य दिखाया कि रावण सीताके केश पकडकर खीच रहा है। सीता विलाप करती है—हाय। राम राम मुझे बचाओ। यो सारे प्रयत्न उस सीताके जीव प्रतीन्द्र ने कर लिए, पर श्रीराम रंच भी न डिगे। तो देखिये सीताके सोचनेसे श्रीराममें कुछ परिवर्तन हो सका क्या ? अरे कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कुछ भी कर सकनेमे समर्थ नही है। कोई चाहे कि मैं किसीको सुखी कर दू अथवा दुःखी कर दूं तो उसका यह सोचना गलत है। कोई किसीको न सुखी कर सकता, न दुःखी कर सकता। मैं किसीका कल्याण कराना चाहता हू, पर उसमे यदि ज्ञान और वैराग्यकी बात नही जागृत होती है तो हम उसका कल्याण कर सकनेमे कहां समर्थ हो सकते हैं ? तो सभी जीव अपने आपके जिम्मेदार हैं। कोई किसी दूसरेका जिम्मेदार नही।

इस मनुष्यभवको पाकर सबसे बडा संकट है जन्म मरणका। मेरा यह जन्ममरणका संकट कैसे छूटे ? इसका हमे उपाय करना है। वह उपाय है सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्व पैदा कीजिए। उसका उपाय क्या है कि निमित्त तो हुए अनन्तानुबधी आदिकका उपशम। उसमे हम करें क्या ? अपनी दृष्टि सही स्वरूपपर लगे। इस परमदृष्टिसे वस्तुस्वातंत्र्य निरखें। प्रत्येक पदार्थ जब असत् है तो वह स्वतः सत् है। दूसरेने उसे नही बनाया, वह अपने आप सत् है। जब वह स्वय सत् है तो सत्का लक्षण है उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत। जो सत् है वह उत्पादव्ययध्रौव्यमय जरूर है। उसमे निरन्तर ये सब कुछ चलते ही रहेगे। फर्क इतना आ जाता है कि कोई अशुद्ध पर्यायमे है कोई विकारभावमे रहता है तो वह किसी परउपाधिका निमित्त पाकर। ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है, सो निमित्त नैमित्तिक योग होने पर भी प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमनसे ही परिणमन कर परिणमेगा अपने आपके परिणमन से जीवकी पर्याय अपने आपके परिणमनमे है तब निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है अन्यथा विकार हो नही सकता। इतना होनेपर भी स्वातत्र्यको देखिये कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूपमे रहा करता है। तब बतलावो किसी बाह्य पदार्थका कुछ सम्बंध रहा क्या ? आपके घरमे जितने जीव हैं स्त्री पुत्रादिक वे सब भी उतने ही भिन्न हैं जितने कि जगतके अन्य सब जीव। ये पशु पक्षी कीट पतिंगे, अथवा ये पडोसी जन, ये विदेशी जन आदि जितने आप से भिन्न मालूम हो रहे हैं उतने ही भिन्न ये घरमे पैदा हुए दो चार जीव है। कही ऐसा नही है कि आपके घरमे पैदा हुए ये दो चार जीव आपके कुछ लगते हो, आपसे भिन्न न हो। अरे ये सब अत्यन्त भिन्न यह बात भले ही आज सही रूपसे चित्तमे न बैठे क्योकि राग लगा है, मोह लगा है। पर ऐसी बात नही है कि यह बात समझमे ही न आये। अरे समझना चाहे तो समझ सकते हैं।

(२१०) द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा एककी अन्यसबसे विविक्तताका प्रकाश—

प्रत्येक वस्तु अपने आपमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारो चतुष्टयोसे सम्पन्न है। किसीकी वात ले लो। जैसे हम इस पुस्तकका ही परिचय करना चाहे तो यह कहेगे कि देखो जो पुस्तकका पिण्ड है, पुस्तकका स्वरूप, जितने आकार प्रकार लम्बाई चौडाईमें फैला है यह इसका क्षेत्र है। इस पुस्तकका काल—जो इसकी नवीन पुरानी आदिक परिणति है यह इस पुस्तकका काल है। पुस्तकका भाव जो इसमें शक्ति है वह शक्ति भाव है। हर एक वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होता है। तो हम आपमे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है। अब द्रव्य है मेरे गुणोंका पिण्ड, मेरा क्षेत्र है मेरे आत्मप्रदेश, जितनेमे मै रह रहा हूं। जिसे कहते है कि जितना यह शरीर है नखसे लेकर सिर तक, इतना यह क्षेत्र है। मेरा काल क्या है? जो मेरे आत्माकी वर्तमान परिणति हो रही है—रागमय हुए, द्वेषमय हुए, ज्ञानमय हुए, भेदविज्ञानमय हुए, तत्त्वाभ्यासमय हुए, यो जो जो भी मेरी परिणतियाँ हो रही है वह सब मेरा काल है। मेरा भाव क्या है? मेरेमें जो शक्ति है ज्ञान दर्शन आनन्द वीर्य आदिक वह मेरा भाव है। तो वतलावो मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेमें रहेगा या यह मेरे स्वरूपसे बाहर वही जायगा? मेरेसे बाहर मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कही नही पहुंचता। सब जीवोका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वतंत्र-स्वतंत्र है। उनका सब कुछ उनमें है। उनसे मेरेमें कुछ आता हो या मेरेसे उनमे कुछ जाता हो ऐसा नही है।

व्यवहारमें चूंकि आप गृहस्थीमे रह रहे है, गृहस्थीमें रहनेके नातेसे आपको सब कुछ करना पड रहा है, तो ठीक है, गृहस्थीके बीच रहकर जो करने योग्य कर्तव्य है सो तो करें, पर वाकी समयमे धर्म करना है, ज्ञानाभ्यास करना है। तो ऐसी स्थितिके लिए भी थोड़ा उद्यम करें तो वहाँ एक कर्तव्य है कि रागके काम करना, प्रेम करना उनका पालन पोषण करना, एक मनमे ऐसा भाव बना लीजिए कि गृहस्थीके बीच रहकर मिल जुल कर हमारा सब काम चल रहा है इतने पर भी जब वस्तु स्वातत्र्यका कथन होता है उस दृष्टिसे अपना ऐसा भाव वनायें कि मैं तो इन सबसे अत्यन्त निराला हूं। कोई दूसरा पदार्थ मेरेसे रुष्ट हो अथवा तुष्ट हो उससे मेरा कुछ भला अथवा बुरा नही होनेका। हम ही स्वयं अपना कर्तव्य सही निभायें तो बहुतसे लोग प्रसन्न हो जायेगे। भला बतलाओ अभी तक ससारमे कोई ऐसा हुआ क्या कि जो सबको खुश कर सके। बड़े बड़े चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण वलभद्र, केवली आदि महापुरुष हुए पर वे भी सबको खुश न कर सके। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। अनेक लोग गाली देते है, उनकी कही हुई बात भी अनेक लोगोको नही सुहाती। भला बताओ कौन सी ऐसी शक्ति है जो सबको खुश कर सके? यहां हम ऐसे शक्तिवान बनना चाहते है कि हम सबको प्रसन्न कर लेंगे। पर सभीको प्रसन्न कभी नही कर सकते।

तो जो अपना कल्याण कर सके ऐसा उचित काम करना चाहिए।

(२११) **परको संतुष्ट बनाने व बनाये रहनेकी हठका मूल देहव्यामोह**—देखिये स्कूलोमे छोटे-छोटे बच्चोको एक कथा पढ़ाई जाती है कि कोई बाप बेटा किसी गांवको जा रहे थे। बाप तो बैठा हुआ था घोडेपर और बेटा पैदल चल रहा था। जब वे किसी गाँवसे निकले तो कुछ लोग उनकी हँसी करने लगे। कहने लगे कि देखो यह बाप कैसा बेवकूफ है। अरे खुद तो चल रहा है घोडे पर और वेचारे लडके को पैदल चला रहा है। इस बातको सुनकर बापने बेटेको घोडेपर बिठा दिया और स्वयं पैदल चलने लगा। आगे जब दूसरा गाँव मिला तो वहाँ भी कुछ लोग कहने लगे कि देखो यह लडका कितना बेवकूफ है स्वय तो हट्टा कट्टा घोडेपर चल रहा है और बेचारे बूढे बापको पैदल चला रहा है। इस वातको सुनकर उन दोनोने सलाह की कि देखो लोग अपन लोगोका नाम घरते हैं, इसलिए चलो दोनो ही घोडेपर बैठकर चलें। जब वे दोनो घोडेपर बैठकर जा रहे थे तो रास्तेमे तीसरा गाँव मिला, वहाँ भी कुछ लोग कहने लगे कि मालूम होता है कि यह घोडा माँगेका है। तभी तो दोनोके दोनो हट्टे कट्टे इस घोडेपर बैठे है। उनकी इस बातको सुनकर वे दोनो बहुत दु:खी हुए। सोचा कि अब क्या करना चाहिए? सलाह हुई कि अपन दोनो पैदल चलें। जब वे किसी चौथे गाँवसे निकले तो वहाँ भी कुछ लोग कहने लगे कि देखो ये दोनोके दोनो बेवकूफ है। अरे जब पैदल ही चलना था तो फिर साथमे घोडा लेकर चलनेकी क्या जरूरत थी? तो भाई यहां कोई किसीको खुश नही कर सकता। किसीको भी खुश करने का उद्यम न करो। खुश करो, सन्तुष्ट करो अपने आपको। जब आप सन्तुष्ट हो जायेंगे, प्रसन्न हो जायेंगे तो वे स्वत. ही प्रसन्न हो जायेंगे। जब खुद ही तृप्त नही, जब खुद ही सन्तुष्ट नही तो फिर दूसरोको हमसे क्या मिलेगा? तो भाई ऐसा जानकर अपने आपको प्रसन्न करनेका उद्यम बनाओ कि इस जीवनमे दृष्टि अपने आपके स्वरूपपर लगे तो उसके आधारमे रहने वाला वह अन्तः स्वरूप स्वयं ही प्रसन्न हो जायगा। यहां किसी भी परपदार्थमे दृष्टि लगानेसे कुछ न मिलेगा। तो ऐसा यह एक सर्वसिद्धियोको प्रदान करने वाला हम आपका स्वरूप है, स्वभाव है। जैसे कहते है ना कि "मैं वह हू जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान। अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान।" तो ऐसे अपने स्वरूपकी भावना बनायें और अधिकाधिक अपना ज्ञानाभ्यास, अपने ज्ञानस्वभावको ज्ञानमे लेनेका अभ्यास अधिकाधिक बने तो यह ज्ञान संस्कार मरणके बाद भी साथ जायगा और जन्ममरण का सकट भी छूट जायगा। तभी हम ससारकी सारी विपत्तियोसे छूट सकेंगे।

(२१२) **शान्तिका कारण सहजात्मस्वरूपाभिमुखता**—अपने विषयमे एव यह

विचार करना बहुत आवश्यक है कि सुख शान्तिके लिए हम प्रारम्भसे लेकर अब तक सारे प्रयत्न करते चले आये, लेकिन शान्तिका लेश प्राप्त नही होता। आज भी पूर्ववत् ज्योंके त्यों अशान्त है। जरा-जरासी घटनामें क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय उमड़ पड़ती है। जरा-जरासे मनके विचारोमें काम और मोहकी प्रगति होती रहती है और इधरमे अपवित्रता भी है और आकुलतायें भी चल रही है, तो इतना प्रयत्न कर लेनेके बाद भी जब हमें शान्ति न मिली तो कमसे कम यह निर्णय तो कर लेना चाहिए कि ये बातें शान्तिकी कारण नही है जिनको हम करते चले आये। शांतिका कारण क्या है उसे सक्षेपमें कहा जाय तो इतना कह लीजिये कि जब मैं अपने आपके स्वरूपसे चिगकर किसी परमे लगाव करता हूँ तो अशान्ति होती है और परसे हटकर जब अपने आपके ज्ञानस्वभावकी ओर दृष्टि करता हूँ तो शान्ति होती है। अब रही एक यह बात कि भाई परसे दृष्टि हटा ले और अपने आपकी ओर आयें तो फिर घरका क्या होगा, परिजनोका क्या होगा? अरे होगा क्या? यह तो एक भ्रम है आपका। जैसे संसारके सब जीव पुण्य पापकर्मसे युक्त है इसी प्रकार घरमें रहने वाले सभी परिजन पुण्य पापसे सहित है। उनका सुख दुःख उनके पुण्य पापके उदयके अनुसार होता है। आप उसको करनेमें समर्थ नही है, और फिर जब तक गृहस्थावस्था है तब तक निर्विकल्प तो हो नही सकते। कर्तव्य तो निभाना पड़ेगा। आप शुद्धज्ञान कर लेंगे तो दूकानका, व्यापारका वही ठीक कर्तव्य निभाते हुए भी आप शान्त रहेगे, और एक सम्यग्ज्ञान न कर पाया तो चाहे धर्मके नामपर कितने ही विधान जलूस, समारोह, व्रत, संयम, तप सब कुछ कर डालें, पर शान्ति और वास्तविक प्रसन्नता नही हो सकती है। ज्ञान होनेपर फिर आज धर्मके व्यवहारसाधनमें लगें तो भी आपको कई गुना प्रेरणा देगा और आत्मज्ञान बिना तो धर्मके व्यवहार काममे भी लगे तो भी वास्तविक शुद्ध मार्ग नही मिल पाता है। तो शान्तिका कारण है अपने आपकी ओर मुड़ना और यह बात बन सकेगी यथार्थ ज्ञानसे। सच्चा ज्ञान करें।

(२१३) **वस्तुतथ्यपरिचय और उसका आत्महितमें प्रयोग**—जगतमे जितने पदार्थ है वे सब अपनी अपनी सत्ता लिए हुए है और जब अपनी अपनी सत्ता लिए हुए हैं तो अपने ही आप वह प्रति समय उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है पर्यायरूपमें। सत् कभी नष्ट नही होता, किन्तु प्रत्येक पदार्थमे नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय विलीन होती है। ऐसा होना उसकी सत्ताके कारण हो जाता है। अब रही एक विकार वाली बात। तो विकार जरूर किसी निमित्तके सन्निधानमे होता है, मगर उत्पन्न होने और विलीन होनेकी कला कोई परपदार्थ नही दिया करता। प्रत्येक पदार्थमें अपने आप ही यह

कला है। तो जब यो प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है कोई पदार्थ किसीका कुछ लगता नही, क्यो नही लगता? न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सम्बन्ध है और न किसी प्रकारसे भाव स्वभावका सम्बंध है। तो जब कोई पदार्थ मेरा कुछ नही लगता तो ऐसा ध्यानमे बनाये रहे कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानमूर्ति अंतस्तत्त्व ही हूँ। मेरा शरण तो मात्र मैं ज्ञानमूर्ति अतस्तत्त्व ही हूं। मेरा सार, मेरा वैभव सर्वस्व सब कुछ यह ही है। ऐसा ज्ञान आ जाय और अनुभवमे भी सही बात उतर जाय फिर कोई भी वाह्य पदार्थ, कोई भी बाह्य समागम हमारे संकटके कारण न बन सकेंगे। कारण तो कुछ भी नही हैं परपदार्थ संकटके, मगर कमजोरी है मेरे अन्दर कि मैं कल्पनायें करता हूं परपदार्थके बारेमे और इष्ट अनिष्टकी वुद्धि बनाता हूँ और उस वुद्धिके अनुसार स्वयं दुःखी रहता हूँ। तो इस दुःखको मेटनेके लिए आप कब समय देंगे? जब वह अवसर पायेंगे। जब आपको एक श्रेष्ठ मन वाला मनुष्यभव मिला इस भवमें तो फिर क्यों नहीं अपने कल्याणकी वात सोचते? क्यों यहांकी व्यर्थकी बातोंके लिए अपनी कमर कसे हुए रात-दिन विकल्पोंमे पड़े रहते? अरे बतलाओ अब कब ऐसा अवसर आयगा कि जब समस्त परसे हटकर अपने आत्मप्रकाशकी सुध लें और शान्त सुखी होवें। क्यो न मोक्षमार्गमें लगें और निकटकालमे यथाशीघ्र मुक्तिको प्राप्त कर सकें? इसके लिए अवसर एक यह ही वढ़िया है, किन्तु एक बड़ा साहस बनाना होगा। सबसे बड़ा साहस तो यह करना होगा कि मेरा तो मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरा बाहरमे कही कुछ नही है। अगर वाह्य पदार्थमे ममता लगी है तो फिर उस ज्ञानमूर्ति भगवानके दर्शन न हो सकेंगे। गृहस्थीमे रहनेके नातेसे राग और द्वेष तो होते रहेंगे, जब तक गृहस्थीमे हैं, आखिर कहां जावें? घरमे रहते हैं तो वहां तो इष्ट अनिष्टके अनेक प्रसंग आयेंगे ही। ये सब कुछ होनेपर भी अगर अहंकार और ममकार न रहे तो फिर आपकी प्रसन्नतामे कोई बाधा न आयगी।

**(२१४) विकार परभावोसे उपेक्षा होनेपर अहंकार व ममकारका विनाश**—जीवको परेशान करने वाला तो अहंकार और ममकार है। उनका विनाश कैसे होगा? सो बताते हैं इनका विनाश होगा आत्मज्ञानसे। मैं ज्ञानमूर्ति आनन्दघन स्वयं परिपूर्ण अपनी सत्तासे स्वतःसिद्ध यह मैं सबसे निराला हूं। मेरा सब कुछ भविष्य मेरे आपके परिणामपर निर्भर है। दूसरेपर निर्भर नही है, मैं परिणाम खोटा रखूं, विकारमय बना रहूं, दूसरोंका बुरा विचारूं, परिग्रहमे निरन्तर चित्त बनाये रहूं, यह मेरा है, यह मेरा है इस तरहके भाव मे मैं विश्वस्त रहू, आस्था बनाये रहूं, तो ये सब खोटे परिणाम हैं। इनका फल अच्छा नही है, और मैं देहसे भी निराला हूँ, अन्य पदार्थकी तो बात ही क्या कहे, वे तो एकदम परक्षेत्रमे स्थित हैं। मैं देहसे भी न्यारा हूँ और इतना ही क्यों? उस ही आत्मभूमिकामें

उत्पन्न होने वाले आज जो विभाव हो रहे हैं क्रोध, मान, माया, लोभ इनसे भी मैं निराला हूं। एक रहस्यकी बात और जानें कि कर्म जब उदयमे आते है तो उदयमें आने वाले कर्ममें भी कुछ विलक्षण दशा होती है। अन्यथा उदय नाम किसका ? जैसे कर्म अभी बँधे हुए है, वह विलक्षण स्थिति क्या है कि जिस उनकी है उससे विलक्षण स्थिति होती है उदयकालमे। उदयमे नही आ रहे है, जैसी स्थिति प्रकृतिका जो नाम रखा है वह उस नामके अनुरूप उसमें अपने आपमें स्फुटन होता है। स्फोट परिणमन होता है। जैसे कहते है कि जब क्रोधप्रकृतिका उदय आया तो उस कर्ममें भी क्रोधन अवस्था हुई, लेकिन वे जड़ है, वह क्रोधन अवस्था किस प्रकारकी है वह अनुभवसे रहित है, लेकिन उस क्रोधनदशायुक्त उस अनुभव वाले क्रोध का जब उदय होता है तो वह उपयोगमे तो आता ही है। चेतनामें यह इस चेतनसे और बढ़ जाता है उसी प्रकारका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि इसके उपयोगमे क्रोध अवस्था होती है। तब ही लिखा है समयसारमे कि क्रोधमे उपयुक्त होनेको क्रोध कहते हैं। यह ही जीव क्रोध है, यह ही जीव कषाय है। जो विकार है वह उसरूप परिणम गया है, उस उपयोगमें वह ही वह समाया हुआ है, यह स्थिति है हम आपकी कि बाह्य पदार्थोंके समागमसे सुख मानते है। हम इतनी बडी विपत्तिसे तो भरे हुए है और आशा करते हैं सुख शान्तिकी तो कैसे सुख शान्ति प्राप्त हो ? शान्तिका मार्ग तो भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान करें, यह घर मेरा नही है। अरे यह तो मोटी बात है। सारी दुनिया चिल्लाती है, कहती है कि यह परिवार मेरा नही है, यह भी प्रकट दिख रहा है कि नही है और यह देह मेरा नही ऐसा भी बहुतसे लोग बोलते हैं। गांवके लोग, देहातोके लोग, छोटे-छोटे लोग भी किसीके मर जानेपर कहते हैं कि देखो मिट्टी पड़ी रह गई और हँसा उड़ गया। तो वे भी जानते है कि यह देह निराला है, जीव निराला है। इतनेसे भेदविज्ञानसे काम न सरेगा। कहाँ सरेगा कि ये क्रोध, मान, माया, लोभ, विचार तरंग आदि इनसे भी मैं निराला हूं। अहो ऐसे निराले उस परमात्मस्वरूप भगवानके स्वरूपकी तरह हूं। जरा निरालेकी दृष्टिसे कुछ भीतर अनुभव तो करो।

**(२१५) कषाय और उपयोगमें भेदविज्ञानका प्रयोग**--भेदविज्ञानका प्रयोग करना है कषाय और उपयोगमे। मैं उपयोगस्वरूप हूं, कषायरूप नही। मैं इन्द्रियातीत हूं। रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित हूँ, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानप्रकाश हूं। हाँ अब अपने आपकी ओर ध्यान दीजिए। मैं क्या हूं, कोई समझने वाला, जानने वाला कोई एक पदार्थ हूँ, तो मेरा स्वरूप क्या है ? उसमे रंग तो हो नही सकता, क्योकि रंग वाली चीज जान नही सकते। उसमे रंग गंध आदिक नही होते। तो वह तो एक ज्ञानप्रकाश मात्र है। तो ऐसे उपयोग मात्र, ज्ञानप्रकाश मात्र इस मुझ आत्मामें क्रोध कहांसे आया ? यह कर्मकी दशा है। और कर्ममे क्रोधन अवस्था है,

उसका प्रकाश किया मैंने और उसे अपनाया और मैं क्रोधी बन गया। यह क्रोध अपवित्र है। यह क्रोध दुःखदायी है। लेकिन यह मैं उपयोग स्वरूप ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वयं आनन्दमय हू। मेरेमे कष्टका कोई काम नही है। जब ऐसी अपने आपके स्वरूपकी ओर दृष्टि होती है तब यह जीव स्वयं तृप्त हो जाता है। शान्तिका उपाय यही है शान्तिका उपाय बाहरमे नही है। बाहरमे किस किस जातिकी क्या क्या व्यवस्था आप बना सकते हैं। किसीकी भी व्यवस्था नही बना सकते। सब व्यवस्था बनती है अपने आप सबके पुण्योदयसे और व्यवस्था बनाने चलें तो क्या व्यवस्था बना सकते हैं ? जैसे कोई जिन्दा मेढक तौलना चाहे कि चलो हम एक किलो जिन्दा मेढक तौलेंगे तो क्या कोई तौल सकेगा ? नही तौल सकता, क्योंकि अगर उसमे कुछ मेढक रखे जायेंगे तो उससे कुछ मेढक उछल जायेंगे उसका सही तौल आप न कर सकेंगे, इसी तरह बाह्य पदार्थोंकी व्यवस्था बनाकर आप समझें कि मैं ऐसा करता हू तो यह भ्रम है। जो परिस्थिति है आज उस ही परिस्थितिमे अपनी शान्ति की व्यवस्था बनायें और अधिक मत सोचें कि मैं इतना इतना कर डालू, ऐसी परिस्थिति बना डालूं तो मैं फिर शान्तिमे आ जाऊंगा, यह बात असम्भव है। और हो जाय मानो वैसी व्यवस्था और समागम तो भी शान्ति असम्भव है। तृष्णा बढ़ेगी, विकल्प बढ़ेंगे। शान्त न हो सकेंगे अपने आपमे।

(२१६) **आजीविकादिचेष्टायें करके भी ज्ञानीका परमलक्ष्य परमब्रह्म**—भैया! गृहस्थोका भी कर्तव्य यह है कि अप्रयोजक बाहरी पदार्थोंकी चिन्तायें छोड़ें। कामके, व्यापार के और वैभवके छोडनेकी बात सर्वथा नही कह रहे। आप कर्तव्य निभाते है निभाइये। यह समझ लो कि ४–६–८ घन्टेका हमारा इस तरहका कर्तव्य है। जैसी व्यवस्था सोच रखा हो उस तरहका कर्तव्य निभावो। पुण्योदयसे जो आना हो आये, उसकी चिन्ता न करें। साहस यह बनायें कि पुण्योदयसे जो कुछ आता है बस उसीमे अपनी व्यवस्था बनाकर हम रहेंगे। जो आमदनी हुई, मानो हजार रुपयेकी आमदनी है तो इसीमे व्यवस्था बनायें। इतना परिवारके पालन पोषणके लिए, इतना इतना धर्मके लिए, इतना ऊपरी खर्चके लिए, इतना बचतके लिए, इस ढगकी व्यवस्था बना लें। बाहरी पदार्थोंकी चिन्ता छोड़ दें। बाह्य पदार्थोंकी चिन्ता करनेके लिए यह जीवन नही है, किन्तु अपने आपके स्वभावकी परख कर, अपने आपके स्वभावमे मग्न होकर प्रभुवत् आनन्दस्वरूपका लेशमात्र भी जो अनुभव हो सकता हो उस अनुभवके लिए यह जीवन है। यह जीवन बाह्य पदार्थोंके समागमके लिए नही है। होगा क्या ? अनेक हैं ऐसे लोग कि जितना-जितना वे बढ़ते हैं बाह्यपदार्थोंमे उतना उतना ही वे उनसे हाथ धो बैठते है, कुछसे कुछ ऐसी बुद्धि आ जाती है कि बना बनाया

सारा काम खतम हो जाता है। आपका अधिकार क्या ? आप कर्तव्य निभायें, चिन्ता छोड़ें, और अधिकसे अधिक आत्मतत्त्वका विचार करें। मैं कौन हूं ? मैं तो ज्ञानमात्र हूं, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। मैं ज्ञानस्वरूप अमूर्त आकाशवत् निर्लेप हूं, किन्तु ज्ञानमूर्ति इस आत्मतत्त्व मे कौनसा कष्ट है ? कौन सी विपत्ति है ? आप तो विपत्ति इसीमे मान लेते हैं कि जो अपने परिवारके लोगोंके लिए आप इच्छानुसार बात नही निभा पाते हैं। अरे और भी तो अनन्ते जीव पडे हैं। उनके कारण तो आप अपनेको दुःखी नही मानते और घरके उन दो चार प्राणियोंके लिए आप दुःखी हो रहे हैं। तो इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि आपने घरके लोगोंको भी उतना ही भिन्न नही समझा जितने कि अन्य, अनन्ते जीव भिन्न हैं। यहां आपको गृहस्थधर्मका कर्तव्य निभानेको मना नही किया जा रहा, किन्तु व्यापारके कार्य व षट्आवश्यक कार्य करते हुए भी आप अपने ज्ञानकेन्द्रसे मत हटें। श्रद्धानमें कमजोरी मत लावें। अपना श्रद्धान इतना दृढ़ होना चाहिये कि मैं वज्रघातसे भी डरने वाला नही हूं। किसी भी संकटसे मेरा विनाश नही। क्या होंगे जगतमे संकट ? टोटा पड़ गया। अरे उससे इस मेरे ज्ञानमात्र आत्माका कोई घात होता है क्या ? रहे तो ठीक, न रहे तो ठीक। वे तो बाहरी बाते है।

(२१७) **मोह व कामकी विडम्बनायें**—अहो, मोहमे कैसा आत्माको मथा जा रहा है कि इसे निरन्तर दुःखी किए जा रहे है। घर मिट गया अथवा कुछ गिर गया तो उससे इस ज्ञानमूर्ति अमूर्त आत्मामे कुछ कमी हुई क्या ? अच्छा, मित्रजन विपरीत हुए, घरके लोग आज्ञा नही मानते। अरे भाई ठीक है, अगर घरके लोग तुम्हारा कहना नही मानते तो उनका विकल्प छोड़ दो। अपने आत्माका घात मत करो। सब जीव अपने-अपने कर्मोदयके अनुसार सुख दुःख पाते है, उनपर मेरा कुछ अधिकार नही है। वे सुखी अथवा दुःखी होते हैं अपने भावोसे। मैं किसीका सुधार बिगाड नही कर सकता, किसीको सुखी दुःखी नही कर सकता, मैं तो केवल अपने भाव भर कर सकता हूं, अपने भावोपर ही मेरा अधिकार है, अन्य किसीपर मेरा अधिकार नही। हम सुखी दु.खी होते हैं अपनी कल्पनासे। देखो पहिला दुःख मोहका है। पर पर है मैं उससे निराला हू। कोई सम्बन्ध है नही, कोई गुंजाइश है नही कि वह मेरा बन सके। त्रिकाल नही बन सकता। कोई परपदार्थ है, उसके लिए कल्पना उठाये कि यह मेरा है, बस दुःखी हो गए। जब उस परपदार्थको मान लिया कि यह मेरा है तो उसका परिणमन आप अपने मनके अनुकूल चाहेगे, पर वैसी बात न होनेपर आप दु.खी तो होगे ही। अब देखिये कामभावकी बात। देखो शरीरमे अगर फोड़ा फुसी हो, बुखार हो, सिरदर्द हो तो चलो वह तो वेदना हुई, मगर कामकी बात तो सोचो—उसमे क्या शारीरिक

वेदना है ? उसे तो लोग मनोज कहते है। मनमे विकल्प उठे बुरा विचार आया कि उससे कामभाव पैदा होता है। उस कामविषयक इच्छाके उत्पन्न होते ही इसको बेचैनी हो जाती है और यहाँ तक बेचैनी हो जाती है कि बहुतसे लोग खाना-पीना तक छोड देते हैं, पागल से हो जाते हैं। पुराणोमे सुना होगा—सीताका भाई भामण्डल सीताके चित्रको देखकर कितना बेचैन हो गया था, खाना-पीना तक छोड़ दिया था। और भी इसकी बहुत बडी घटना है, उसे यहाँ नही कहना है, मगर तत्काल तो देखिये उस भामण्डलका परिणाम कितना बुरा हो गया। अब बतलावो यह काम है क्या चीज ? केवल एक मनका भाव है। विकल्प उठाया, विचार बनाया कि लो दुःखी हो गए।

(२१८) **कषायोसे आत्मप्रभुका विघात**—क्रोध भावको भी देखिये—क्रोधमें जीवकी बुद्धि मारी जाती है। तो उस क्रोधमे यह जीव क्या हित पायगा ? अरे क्रोध करके तो वह अपने आपको जलाता है, उसकी बुद्धि ठिकाने नही रहती, इसीलिए यह दुःखी होता है। घमंड मे कोई सुख पा सकेगा क्या ? उस घमडीके सामने तो उसे कोई कुछ नही कहता, पर पीछे कहते है कि यह तो बडा घमडी है। यह तो अपनेको बडा बादशाह सा मानता है। तो कोई लोग उसकी प्रशंसा नही मानते। तो मान कषाय यह भी दुःखका ही कारण है। मायाचार छलकपट करना, अहो यह तो बहुत बुरी कषाय है, इसमे धर्मका प्रकाश नही हो सकता। जैसे कोई काँचकी मोटी गुरिया हो, जिनसे माला बनाया जाता है, तो उस काँचकी गुरियामे अगर छेद टेढा हो गया हो तो उसमे सूत नही पिरोया जा सकता है। इसी तरह जिसका मन छल कपटसे दूषित हो गया है उसके हृदयमे धर्मकी बातका प्रवेश नही हो सकता है। देखिये— यह ससार असार है। यहाँ कोई भी वस्तु मेरी नही। किसीसे मेरा हित नही है। किस वस्तुके लिए मायाचारीकी जा रही है ? अरे सरल रहोगे तो निरन्तर प्रसन्न रहोगे, और मायाचारीसे रहोगे तो निरतर बेचैन रहोगे, और मायाचारीसे कोई लाभ नही। हाँ बताया है दर्शनमे जैसे कि मैं चाहे दरिद्र रहूँ, चाहे किसीका सेवक रहू, लेकिन जिनशासनमे मेरा हृदय बना रहे। जिनशासनसे रहित होकर मैं चक्रवर्तीकी सपदा भी नही चाहता। भाई शांति ही तो चाहिए। अगर शान्ति मिल जाती है स्वय बडे सस्ते और सहज आराममे तो उसे क्यो नही चाहते ? देखो शान्ति मिलती है सहजरूपसे। विकल्पोसे, सक्लेश करके, अपने आपको दुखी करके तो यह जीव अशान्ति पाता है। अशान्तिके लिए परिश्रम करना पडता है और शान्तिके लिए परिश्रम नही करना पडता। तो जो बिना परिश्रमके मिलने वाली चीज है उस ओर तो इस जीवका मोड नही है, और जो बड़ा परिश्रम करके, कष्ट करके मिलता है उसके लिए जी (मन) ललचाता है। ये श्रम उल्टा क्यो चल रहे हैं कि मिथ्यात्व बसा है, भ्रम बसा है

उसके कारण ये उल्टे श्रम चल रहे हैं। उस भ्रमको दूर करें। भ्रमको दूर करनेका अर्थ है कि यह अपने आपमें अपने आपको ऐसा अनुभव करे कि मैं समस्त परभावोसे न्यारा एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ। यह न सोचें कि मेरेको बहुतसे लोग जानने वाले है, मेरेको कोई नही जान रहा है। मैं हूं एक ज्ञानस्वरूप। उस ज्ञानस्वरूप चेतन तत्त्वको कौन जानता है ? जो लोग कुछ जान रहे है वे इस आकारको, इस देहकी मुद्राको, इस शक्ल-सूरतको। निश्चयतः इसको भी नही जानते, किन्तु इसको विषय बनाकर वे अपने ज्ञानको जान रहे है। खैर व्यवहारभाषामें ही जान लिया, जानते है, किसको जानते है इस देहको, इस आकारको, इस मुद्राको अथवा अनुमानतः इन विकारी पुरुषोको, लेकिन मैं जो एक ज्ञानमूर्ति अन्तस्तत्त्व हूं सहज ज्ञायक स्वभाव, उसको जानने वाला यहाँ कोई नहीं है। यह निर्णय अगर बसा होगा तो उस रागद्वेषादिक करनेके लिए जो एक परिचय कारण बनता है वह कारण न रहेगा। मेरेको कोई जानता ही नही। मैं किसका संकोच करूँ ?

(२१६) आत्मस्वरूपसे चिगकर परकी ओर उपयोगके लगावमें कष्टपात—यह अपना उपयोग अपने आपकी ओर अपने सहजस्वरूपकी ओर उन्मुख हो तब तो शान्ति है और जब अपने आपसे चिगकर बाह्य पदार्थोकी ओर अभिमुख हुआ वहाँ लगाव लगाया तब अशान्ति है। इस आधार पर आप देख लीजिए कि दुनियामें क्लेशका कारण केवल एक है। लोग कहते तो हैं बहुत। मेरे धन नही, मेरे घर नहीं, परिवार नही, आज्ञाकारी पुत्र नही, बहुत-बहुत बखान डालते है, लेकिन कारण केवल एक है—क्या ? अपने स्वरूपसे चिगकर परकी ओर लगाव है, बाह्यकी ओर लगाव है, परको निज माना है। परसम्बन्धमे विकल्प मच रहा है, बस यह एक ही तो कारण है, अब उस विकल्पके आश्रयभूत पदार्थ नाना हैं, उनको लेकर लोग नाना विषय बताया करते है। आपत्ति एक है, तो निरापद होनेकी पद्धति भी एक है। परसे हटकर अपने आपकी ओर आना, इसके लिए निष्कर्ष रूप बात यह है कि अपनेको ज्ञानानन्दमात्र निरखना, अनुभवना यह पद्धति है शान्तिकी। मैं ज्ञानानन्द मात्र हूं और हर समय भी मैं केवल अपने ज्ञानका अनुभव करता हूं। चाहे विकल्प रूप भी अनुभव किया जा रहा हो तब भी अपना उपयोग ही कर रहा हूं और जब अपने शुद्ध सहज स्वरूपकी ओर निरख रहा हूं तब भी मैं ज्ञानको ही तो निरख रहा हूं। तो अशुद्धोपयोगरूप अपनेको देखनेसे उस प्रकारका प्रवर्तन व्यवहार होता और कष्टका कारण बनता है। तो अपनेको शुद्ध सहज स्वरूपमे निरखना चाहिए। मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूपमें किसी भी अन्य वस्तुका प्रवेश नही। भले ही इस समय कर्म बँधे हैं, एक क्षेत्रावगाह है, निमित्त-नैमित्तिक सम्बध है। सब कुछ होनेपर भी जब अपने सत्त्वको देखा—मैं अपने आपमे अपने

सत्त्वकी ओरसे क्या हूँ, इस तरह अपना सत्त्व देखा तबतो सहजस्वरूपमे अपना अनुभव होगा, ज्ञान होगा। इस ज्ञानानुभूतिकी ओर दृष्टि होनी चाहिए। मैं ज्ञानमात्र हूं। अहो! जब बाहर निरखते हैं तो कितना कष्ट हो जाता है, कितना क्षोभ मचता है।

(२२०) **अन्तः प्रकाशमान सहजात्म स्वरूपकी शरण्यता**—जहाँ क्षोभ हो, कष्ट हो, आकुलता हो, वहाँ क्यो जाना? अपना उपयोग है, अपनी बात है। अपनी समझ है। अपना शरण अपने पास है, उस ओर दृष्टि रहे, उस ओर अपना ज्ञान चले तो कितनी शांति मिलती है सारी अशान्ति तो इस अहकार और ममकारके कारण बनी हुई है। गृहस्थावस्थामे भी बाह्यके सारे काम करते जानेपर भी यदि श्रद्धा निर्मल है और अपने आपका ही पता है कि मैं तो अनुभव मात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं, उपयोगमात्र हू, कुछ हूं ही नही, यदि ऐसी श्रद्धा, ऐसा निरखना बना रहे तो अनेक कामोके बीच रहते हुए भी वह अशान्त न रह सकेगा। भले ही हम कष्ट ऊपरसे मान रहे, पर भीतरमे प्रसन्नता है। अज्ञानी जन ऊपरसे भी दुःखी हैं और भीतर से भी। तो ऐसी ज्ञानानुभूति पानेके लिए हमारा कर्तव्य क्या है? तो उसे तीन भागोमे बांट लीजिए—सत्याग्रह, असहयोग और प्रभुभक्ति। एक अदरमे ही तो काम करना है। बाह्यकी क्रिया तो एक उपयोग जब तितर-बितर होता है तो उसे केन्द्रित करनेके लिए बाह्य क्रियायें की जाती हैं। जैसे भगवानकी पूजा करनेके लिए अष्ट द्रव्य चढ़ाते हैं, थालसामग्री सजाते है। थालसामग्री आदिक ये स्वयं पूजा नही है, लेकिन प्रभुपूजामे हमारा मन लगे, कुछ आलम्बन है, वस्तुतः तो निजका भाव है। इस प्रकारके मोक्षमार्गमे साधक तो वास्तवमे यह स्वयं आत्मा है। और इसीलिए बताया गया कि यह आत्मा जिस तरह साध्य बने, जिस प्रकार साधन बने उस प्रकारसे इस आत्माकी उपासना करना चाहिए। तो भीतरमे ही कुछ प्रयोग किया जाना है।

(२२१) **प्रभुभक्तिका आत्मप्रयोग**—आत्मप्रयोगको आप तीन भागोमे विभक्त कर लो—सत्याग्रह, असहयोग व प्रभुभक्ति। लो इन तीनोमे पहिले कौन किया जाय? बादमें कौन किया जाय, ऐसा कुछ निर्णय नही है। सभी साथ है मुख्यतासे कुछ भी पहिले हो। साधन तो ये तीन हैं—जैसे प्रभुभक्ति लीजिये—प्रभुकी भक्ति। प्रभु क्या? जो प्रकर्षरूपसे होना हो सो प्रभु। आत्माका जो स्वरूप है वह यथार्थ पूर्ण प्रकर्षको प्राप्त हो गया है। ऐसा जो आत्मा है वह प्रभु है याने ज्ञान और आनन्द जहाँ अनन्त प्रकट हो गया, रागद्वेषादिकका मैल जहाँ रच भी नहा रहा है, जो पहिले ऐसी अवस्था होती है उसका नाम है सशरीर परमात्मा। कुछ स्तवन करनेके लिए, मनन करनेके लिए आकाशमे एक समवशरण विचारिये। बहुत बड़ा भारी शोभा वाला मण्डप, जिसे देव लोग तैयार करते हैं, वैसा मण्डप

मानव तैयार करनेमें समर्थ नही, ऐसे शोभा वाले मंडपके अन्दर विराजमान सशरीर परमात्माका मुख चारों ओर दिखाई देता है। अहो, कैसी उनकी वीतरागताकी महिमा कि तीनों लोकोसे इन्द्र भागे चले आ रहे है। समवशरणमे पहुंच रहे हैं, इसीलिए तो उन्हे त्रिलोकाधिपति कहते है। जहाँ तीनों लोकोंके इन्द्र पहुंच गए, नतमस्तक हो गए वहाँ तीनो लोकोंके जीव ही नतमस्तक हो गए। क्या कारण है ? उन देवोंको किस बातकी कमी थी ? अरे वे तो स्वयं ही एक बडी दिव्यलक्ष्मीका उपभोग करते हैं। उनको क्या कष्ट आया कि वे अपना स्थान छोड़कर यहां समवशरणमे आ रहे है, अपना उपयोग यहाँ लगा रहे है। अरे कष्ट नही था बल्कि हर्ष उमड रहा है। क्यों हर्ष उमड रहा ? क्या उन्हे कोई स्वर्ण मिल रहा है ? क्या उनको कोई वैभव प्राप्त हो रहा है ? अरे ये कोई कारण नही है, वह कारण है वीतरागताका अतुल प्रभाव। सभीके सभी विवेकी संज्ञी पुरुष आकर्षित हो रहे है। और साधारणतया आकर्षण नही है। वे गान तान नृत्य बडी विभूतिके साथ समवशरणमें आ रहे है। लेकिन देवोकी बात कह रहे हो, यह तो मान लिया जायगा, क्योकि उनका मन श्रेष्ठ है, मगर इन पशु पक्षी मेढकोको क्या हो गया, वे भी दनादन समवशरणमें भगते चले आ रहे हैं। हां वे भी संज्ञी है, उनपर भी प्रभाव पड़ता है। वे भी भव्य जीव हैं, और मनुष्योका तो ताँता ही लग गया है। और देखो नीचे पाताल लोकसे निकलकर भवन व्यन्तरोके इन्द्र भी आ रहे हैं। तो वीतरागताकी यह सब महिमा है। यह बाहरी रूप है, लेकिन क्या है वहाँ वैभव ? वह वैभव है जो मेरे स्वभावमे है, मेरे स्वरूपमे है। जाति एक है, चेतन है। भले ही कोई गेहूँ घुन गए, कोई यहाँ पडे, कुछ वहाँ पड़े, फिर भी उनकी जाति जैसे एक है इसी तरहसे चेतन जाति एक है और इसी कारण उस प्रकर्षताको प्राप्त चेतन महाप्रभुका स्मरण करके भव्य जीवोंको अपने स्वरूपकी सुध होती है। स्वरूपका जहाँ स्पर्श होता है वहा अतुल आनन्द प्रकट होता है। ऐसा आनन्द जहाँ बँट रहा है, बँट नही रहा, कोई बांट नही रहा, किन्तु लोग स्वयं आनन्द पाते है, तो ऐसा आनन्द जहाँ प्राप्त हो वहाँ क्यो न सभी प्राणी पहुंचेंगे। क्या है वह प्रभुका स्वरूप ? एक शुद्ध ज्ञानमात्र। केवल ज्ञानका क्या अर्थ है ? केवल सिर्फ परिपूर्ण ज्ञान ही ज्ञान रह गया है, यह महिमा अवश्य है कि परिपूर्ण ज्ञान ही ज्ञान रह जाय तो वह सर्वज्ञ है, लेकिन केवलज्ञानका अर्थ क्या है ? वह ज्ञान ही ज्ञान रहा। अच्छा—और क्या न रहा ? जो कुछ चीज ज्ञानके साथ और चिपट रहे थे रागद्वेष, मोह, विचार, विकल्प, तरग आदिक वे सब कुछ न रहे, ऐसा विशुद्ध ज्ञान हो गया, वही ज्ञान तो मेरा स्वरूप है, स्वभाव है। स्वभावकी सुध होती है। जिस स्वभावमे हमे लीन होना है उस स्वभावकी सुध प्रभुभक्तिके प्रतापसे बन रही है, इसीलिए प्रभुभक्ति एक हमारा साधन है।

(२२२) असहयोगका आत्मप्रयोग—दूसरा साधन है असहयोग–बाह्य पदार्थोका सहयोग न रहना, मना करते जाना। जो आजादीका इच्छुक है वह पुरुष दूसरे बाह्य पदार्थोंका सहयोग नही लेता। जैसे जब कभी देशमें विदेशियोंने एक क्रान्ति सी मचा रखी थी तो उन विदेशियोके विरुद्ध सत्याग्रह और असहयोगका नारा लगाया गया था। याने एक सच्चा आग्रह बना लो कि मुझे इन पर तत्त्वोको (विदेशियोको) सहयोग नही देना है। जिन पर तत्त्वोका सहयोग देनेसे हम दुःखी रहा करते है। तो ऐसी ही बात यहाँ है। इन पर तत्त्वोको सहयोग देनेसे हम दुःखी रहा करते हैं। तो ऐसी ही बात यहाँ है। इन परतत्त्वोको सहयोग न दो जिनके कारण हम आप दुःखी हैं। तो वे परतत्त्व क्या हैं ? वे परतत्त्व हैं ये विषयकषाय आदिकके खोटे परिणाम। इन परतत्त्वोको उत्पन्न न होने दें। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। मेरेमें क्या ? मेरे साथ मेरे स्वभावके खिलाफ यदि कुछ बात जगती है तो नियमसे उसमे कोई कर्म उपाधि कारण है। यह एक युक्ति है। तो वह द्रव्यकर्म जब उदयमें आता है तो वह भी अपना अनुभाग प्रकट करता है, उनमें भी खलबली मचती है। वे भी किसी विलक्षण विस्फुटन दशाको प्राप्त होते हैं। चूंकि वे बन्धनमे हैं, इसलिए वे कर्म जब उदयमे आते हैं तो जिस जिस प्रकारसे विपाक होता है उस उस प्रकारसे यहाँ उपयोग चलता है और उस समय हम दुःखी हो जाते है। तो बन्धनका कारण क्या रहा ? बाह्य वस्तुओका सहयोग। उनका सहयोग मिटा लीजिये, असहयोग कर लीजिये तो अपने आपको शान्तिका मार्ग मिलेगा। अब जरा अपनी अपनी जिन्दगीपर विचार तो करें। ये बाह्य पदार्थ भिन्न क्षेत्रमे रहने वाले हैं, इनसे मेरा कोई सम्बंध नही, ये त्रिकाल भी मेरे नही हो सकते। ये प्रकट भिन्न जड पदार्थ, ढले, स्कंध कितना चित्तमे बस रहे हैं। भीतर चित्तमे इसका निश्चय हो रहा है क्या ? न हो रहा हो तो वह तो विजयी पुरुष है, मगर इन परपदार्थोंके प्रति निरन्तर ध्यान रहता हो यह ठीक है। मैं बड़ा सम्पन्न हू, मैं बडा सुखी हूँ, उसका ध्यान बनता हो तो समझिये कि यह कितना पापका काम किया जा रहा है। हम अपने ज्ञानानन्दस्वभावी परमात्मस्वभावसे चिगकर व्यर्थकी ओर बेकार, असार, अत्यन्त भिन्न जड़ पदार्थोंमे चित्त लगा रहे हैं, जडकी पूजा कर रहे है, तो जीवन बहुत गुजर गया, लेकिन रहा सहा जीवन अब इस तरह न गुजारें। रहा सहा जीवन ज्ञानप्रकाशकी उपासनामे गुजरे ऐसी अपनी कोशिश होनी चाहिए। तो उस ज्ञानानन्दको प्राप्त करनेके प्रयत्नमे करिये असहयोगका प्रयोग। ये विषयकषाय, ये कर्मविपाक ये मेरे स्वरूप नही हैं। जैसे स्फटिक मणि तो स्वच्छ होता है और वह अपनी ओरसे निरन्तर स्वच्छतारूप परिणमता रहता है ऐसा उसका स्वभाव है। लेकिन जब लाल, पीला, नीला आदिक कागज अथवा कपड़ा उसके सामने कर दिया जाता है तो वह मणि या

दर्पण उस रूप परिणम जाता है। तो देखिये वह दर्पण उसरूप परिणमा तो अपनी ओरसे, किन्तु उपाधिके सन्निधानसे परिणमा। और देखो उपाधि सन्निधानमे तो यह उपाधि नही परिणमा, वह स्फटिक पदार्थ ही परिणमा, इससे आप देख लीजिये। अपना अज्ञान दूर कीजिए। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरे साथ उपाधिका खेल है। इस तरह मैं जानूं और इससे विविक्त होऊँ। इससे असहयोग करना होगा।

(२२३) **बाहरी पदार्थोंसे असहयोग प्रारंभ कर आन्तरिक तरङ्ग तकसे असहयोग करनेका अनुष्ठान**—जरा बाहरसे प्रारभ कर अन्दर तक असहयोग बनाइये। ये घर धन वैभव आदिक मेरे क्या हो सकते हैं? इनको देखकर मै क्या खुश होऊँ? बढ़िया महल है तो उसमे क्या चित्त लगाना, वह तो जड पदार्थ है, परिजन मित्रजन वगैरहमे भी क्या चित्त लगाना, वे भी भिन्न चीजें है। देखो जिनकी दृष्टि विशुद्ध होगी वे अपने घरमे रहने वाले लोगोका भी उतना ही महत्त्व देते है जितना कि जगतके अन्य जीवोका। वे सब मेरेसे बिल्कुल भिन्न है। उनका द्रव्य, उनके प्रदेश, उनका परिणमन, उनका स्वभाव सब कुछ मेरेसे अत्यत भिन्न है। यह कोई रजिस्टर्ड बात नही है कि वे आपके ही है और आपके ही बनकर रहेगे। अरे यो ही अटपट चलते-फिरते घूमते एक जगह आ आकर इकट्ठे हो गए, अब उनमे ये मोही प्राणी मोह करते है। उनके लिए ही अपना सारा तन, मन, धन, वचन न्योछावर करनेके लिए तत्पर रहा करते है। उन घरके दो चार जीवोको छोडकर बाकी सब अनन्ते जीवोके प्रति रंच भी दया नही उत्पन्न होती। अरे यह मोहकी कैसी विचित्र लीला है। समस्त जीव मेरेसे अत्यन्त भिन्न है। भले ही आज बँधे है, इसमे रह रहे है, लेकिन देह निराला है, मै ज्ञानस्वरूप आत्मा निराला हू। देह मैं नही हू। कोई स्कंध रूप, ढेला पत्थर आदिक रूप मै नही। ये जो छुटपुट जानकारियाँ होती हैं। उनरूप भी मै नही। मै तो एक अमूर्त ज्ञानज्योतिर्मय पदार्थ हू। मै ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानमात्र हूं, और अपने उपयोगमे ऐसा निरख लीजिए कि जो ज्ञान है, ज्ञानप्रकाश है ज्ञान ज्ञानको ही लीजिए, द्रव्यको ध्यानमे न रखे, गुणको ध्यानमे न रखें। केवल एक भावको ध्यानमे रखें—ज्ञानमात्र, अहो वह ज्ञान स्वरूप जब ज्ञानमे आता है तब यह कोई भार नही रहता। कोई एक अलौकिक ही दशा उत्पन्न हो जाती है। उस ज्ञानके अनुभव करनेके लिए असहयोगका प्रयास कीजिए—देह म नही, कर्म मै नही, कर्मकी दशा मैं नही और कर्मकी दशाका जो उपयोग करता हो और उस उपयोगमे जो नाना अवस्थाये बन जाती है वे भी मैं नही हू। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र हू। जैसे कोई हरा बलब लगा है, रोशनी पड रही है, नीचे हरी रोशनी है, तो क्या वहां लोग यह विवेक नही रखते कि रोशनी हरी नही होती। रोशनी तो प्रकाशमात्र है, हरी तो उपा

है। देखो यद्यपि वहाँ हरेपनका और प्रकाशका भेद करना कठिन है। कैसे समझें कि प्रकाश यह कहलाता और हरा यह है, लेकिन युक्ति, अनुभूति वतलाती है कि प्रकाश तो प्रकाशनमात्र है, और हरा एक उपाधिके सम्बधसे एक रंग है। जब इस प्रकारसे यहाँ एक सम्मिलन हो रहा है याने ज्ञानका काम प्रतिभासन, जानन और उसमे लगा है रागद्वेषका परिणाम। तो वे दोनो एक रूपसे स्वादे जा रहे है कौन स्वादता है ? अज्ञानी। जैसे ज्ञानी पुरुष हरेपनका और प्रकाशका अलग-अलग विवेक कर सकता है इसी प्रकार वह एक समयमे रागद्वेषादिक होते हुए भी जानन तो यह कहलाता है और रागद्वेषका यह स्वरूप है, रागद्वेष कर्मविपाक हैं, जानन मेरे आत्माका स्वभाव है, इस तरहसे भेद कर रहा है। तो इस भेदसे बढकर जो तत्त्व हुआ, जो विपय कषाय इच्छा आदिक तरगें हुई उनसे असहयोग कर लीजिए इनके अनुरागसे मेरा जन्म मरण चलता रहेगा। तुम हट जावो, ऐसी एक हठ कर लीजिए कि मै एक ज्ञान चैतन्यज्योतिस्वरूप हू।

(२२४) **सत्याग्रहका आत्मप्रयोग**—तीसरा उपाय है सत्याग्रह। सत्यका आग्रह करो। जो मेरे सत्मे अपने आपके सत्त्वके कारण होता हो, हो सकता हो, उसे सत्य कहते है। बस तन्मात्र मैं हू। ऐसा आग्रह करना इसे कहते है सत्याग्रह, देखिये इनसे हट जानेमे कितना क्लेश है ? जहाँ माना कि मै फलाने चन्द हू, फलाने लाल हू। अमुक प्रसाद हू, व्यापारी हू, सर्विस वाला हू, अमुकका पिता हू, अमुक कुलका हू। काला हू, गोरा हू आदिक कुछ भी इस प्रकारका भाव बनता है। तो इन ही मान्यताओके कारण इस जीवके ऊपर नाना सकट छाये है। यदि इन समस्त सकटोसे मुक्त होना चाहते हो, वास्तविक आनन्दकी स्थिति प्राप्त करना चाहते हो तो अपनेको ऐसा अनुभव करो कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञातादृष्टा रहनेमे ही मेरा वास्तविक आनन्द है, अपने आपको विशुद्ध ज्ञानमात्र अनुभव करें। देखिये अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करें तो यह अपनी बात है और अपनेको मनुष्यादिक रूपमे अनुभव करें तो यह भी अपने मनकी बात है ? लेकिन अपनेको मनुष्यरूप (देहरूप) मान लिया तव उसका फल कितना विकट लग वैठा कि ससारकी ८४ लाख योनियोमे जन्ममरण करना, सकट सहना यह सब चल पडा ? कोई कहे कि साहब हम तो अपने घरमे रहते है, किसीको सताते नही है, अपने कामसे काम रखते हैं, हमने कोई बडा कसूर तो नही कर दिया, हाँ सिर्फ इतनी भर बात मान लिया कि मै अमुकका पिता हू, अमूक व्यापारी हू, ऐसा पर्यायरूप अपनेको मान लिया, और तो मैंने कोई अपराध नही किया, तो इसमे इतना बडा दण्ड क्यो मिल गया कि कीडा मकोडा, पशुपक्षी, पेड पौधा आदिक नाना योनियोमे जन्ममरण करना पडा ? तो भाई देखनेमे लगता है कि यह तो मामूली अपराध है, पर इसे

मामूली न समझो। अरे इस देहको ही मान बैठे कि यह मै हूं तो यह तो एक सबसे बडा अपराध हो गया। इस शरीरके अन्दर विद्यमान आत्मतत्त्वका अनुभव न किया, अपने आपके ज्ञानस्वरूपको न निरखा बस इस पर्यायमे ही दृष्टि रखी तो यह तो एक विकट अपराध कर डाला। बताओ इस विकट अपराधका फल कौन भोगने आयगा ? लोग तो दूसरे धनिको को देखकर अपना यह लक्ष्य बना लेते है कि मुझे भी ऐसा ही लखपति बनना है, करोडपति बनना है पर उनका यह लक्ष्य सही लक्ष्य नही है। अरे इस लक्ष्यको रखकर तो इस जीवको बरबादी ही है। अपना लक्ष्य यह रखें कि मुझे तो शुद्ध ज्ञानमात्रका अनुभव करना है। यही हमारा मुख्य लक्ष्य है। अब इसके लिए अनेक उपलक्ष्य करने होते है सो उन्हे भी करे, पर लक्ष्य अपना यही रहे। इसके लिए चाहे अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करने पड़ें पर सब कुछ न्योछावर करोको तैयार रहे। जिस चाहे विधिसे हो, अपनेको शुद्ध ज्ञानमात्र अनुभव करनका ही उद्यम करें। एतदर्थ अपने आपमे अन्तः प्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूपमे आत्मतत्वके अनुभवनेका सत्य आग्रह बनायें।

**(२२५) वस्तुस्वरूपसे विरुद्ध कल्पनाओंसे संसारसंकटोंका प्रसार**—हम आप सब यही अनुभव करते है कि सुख शान्तिके लिए अथक प्रयत्न करने पर भी सुख शान्ति नही पा सके है। इसके कारणपर कुछ थोडा विचार करना होगा। सुख शान्ति किस उपायसे प्राप्त होती है और हम कौन सा उपाय बना रहे है ? जरा अपने आपपर अपने आत्माकी दया करके सुनो—ससारमे जितने भी पदार्थ है वे सब पदार्थ अपना जुदा जुदा सत्त्व लिए है। सबका परिणमन उनका अपने-अपने उपादानसे होता है। कोई किसीका कुछ करने वाला नही, भोगने वाला नही। तब करने और भोगनेका किसीका किसीके साथ सम्बंध नही। फिर यह मानना कि यह मेरा है। मै इसका मालिक हू, इसको मैं करता हू। इसको मैं भोगता हू तो यह वात भ्रमकी है कि नही ? तो समझ लीजिए कि जहां भ्रम लगा हो वहां आप कितने ही काम करें, बल्कि जितने काम करेंगे, उलझते चले जायेंगे। शान्ति प्राप्त नही हो सकती। शान्तिका मार्ग भगवानने यह कही बताया ही नही है कि धनसे मिलेगी या परिजनसे मिलेगी या अन्य विषयो के साधनोसे या अच्छा मकान बन जानेसे या बढिया पोशाक पहिन लेनेसे, या खूब गहनागुरिया से लदा होनेसे सुख शान्ति मिलेगी। यह बात सब गलत है। शान्ति कहांसे पानेकी आप आशा करते है ? यह मैं आत्मा भीतर निरखिये जो ज्ञानस्वरूप है, जिसका ज्ञानप्रकाश ही स्वरूप है वह स्वयं शान्त है। स्वय सुखी है, स्वय आनन्दमग्न है। आनन्दके लिए क्यो आशा लगाते, क्यो उपयोग बाहर फसाते ? श्रद्धा तो गलत मत बनाओ। करनेमे जो कुछ आ रहा है आने दो। वह भी ठीक हो जायगा, लेकिन श्रद्धा मत बनाओ। अगर श्रद्धा गलत रहेगी तो कही

भी पूरा न पड पायगा। श्रद्धा गलत होगी तो धर्मके नामपर कुछ भी काम करो, वह सब दिल बहलावा कहलायगा। उसका फायदा न मिल पायगा। श्रद्धा सही होगी तो चाहे घरमे कुछ विपत्तियोमे चल रहे हैं फिर भी भीतरमे प्रसन्नता रहेगी। उसे कोई मेट न सकेगा। अगर आनन्द चाहिये हो तो पहिली बात यह है कि श्रद्धा सही बनावें। मैं स्वय शान्त हू, ज्ञान-प्रकाश हू, सबसे निराला हू। देखिये—जब तक अपने आपके अकेलेपनका निर्णय न होगा तब तक धर्मके मार्गमे जरा भी न बढ सकेंगे। जो यह भ्रम लगा रखा है कि मेरे तो इतने परिवारके लोग हैं, मेरे तो इतने सेवक हैं, खुशामद करने वाले है। मेरा तो ऐसा प्रभाव है। बाहरमे जब तक ऐसा लगाव रहेगा और अपनेको अकेला अनुभव न कर पायेंगे। तब तक धर्मकी बात जरा भी नही आ सकती। जो बात सच है उसीपर चलनेके लिए कहा जा रहा है, बहकाया नही जा रहा आपको। सच क्या है ? हम आप सभी जीव अकेले है। अपने ही एकत्वमे तन्मय है, बाहरके सब पदार्थोंसे निराले है। जो भी आया तो अकेले ही आया है, अकेला ही रहेगा अर्थात् इस शरीरको छोडकर जायगा। अकेला ही यह जीव सुख दु ख पाता है। सब जानते है कि यह जीव अकेला है। मेरे लिए भैया शरण है, पुत्र शरण है, पिता शरण है या अन्य कोई शरण है यह भ्रम खत्म कर दें। शरण कोई नही है। शरण है तो अपना परिणाम शरण है। आज भी कोई बाहरमे शरणसा मालूम पड रहा है तो आपके ही वह पूर्वधर्मका प्रताप है और आपका ही इतना पुण्य उस वक्त है कि दूसरे लोग भी आपके सहायक बन रहे हैं। वे कही आपके द्रव्य अर्थात् आत्मवस्तुके नातेसे कोई आपके सहायक नही हैं। आपका परिणाम निर्मल था। उसमे जो पुण्य कमाया उसके फलमे आज यहांके लोग भी सहायक बन रहे है। तो मेरा वास्तविक सहायक मै ही हू और मैं ही अपने आपका बिगाड कर सकता हू। मेरा दुनियामे कुछ नही है।

(२२६) **आकिञ्चन्य धर्मके प्रयोगमे आनन्द**—एक बताया है अकिञ्चन धर्म, जिसमे यह विचारा जाता कि मेरा कही कुछ नही है। मेरा तो मात्र यह मैं ज्ञानप्रकाश ही सर्वस्व है, और बाहरमे ऐसा सोचनेकी भी क्या जरूरत है कि मेरा कही कुछ नही है ? अपने आपमे जो ज्ञानानन्दका वैभव है उसपर दृष्टि करें और उसका आनन्द लूटते रहे। तो अपनी सत्य श्रद्धा बनाओ। बाहरमे शरणका भ्रम दूर करो। बाहरमे श्रद्धामे किसी चीजमे राग न करें अर्थात् किसी परपदार्थसे मेरा हित हो सकता है यह गलती न करें। मेरा हित होगा मेरा ज्ञान मेरे ज्ञानकी कलासे चलेगा और मेरेमे विराजमान ज्ञानप्रकाशमय भगवानके दर्शनके लिए चलेगा तो इस ज्ञानमूर्ति भगवानके दर्शनसे ही हमारा यह उपयोग शान्त आनन्दमय हो सकेगा। बाहरमे न हो सकेगा। एक कुछ समस्या गृहस्थोके सामने यह आती है कि यहां तो

धन अधिक होगा तो लोगोंमें पूछ होगी कदर होगी, सुखसे रहेंगे, और बतलावो रिस्तेदारोंमें गरीबोंके ढंगसे कैसे रह सकेंगे ? तो ये तो सब हमारे सुखके ही साधन है। इसका एक संकोच है, और एक चिन्ता बना ली जाती कि किसी भी तरह हो, धन आना चाहिए, मगर इस धन-वैभवका आत्माकी शान्तिके नातेसे कुछ विचार नही किया। किया केवल बाहरी-बाहरी विचार। अगर आत्मशान्तिके नातेसे विचार करें तो आपका आत्मा पवित्र होगा और इतना साहस जगेगा कि बाहरमे कुछ भी बीते, किसी भी बातसे मेरेको कोई हानि नही है। सम्यग्दृष्टि पुरुषको बताया है कि ऐसा भी वज्र गिरे, जिसकी आवाजसे तीनो लोकोके जीव भी भय खा जायें, इसपर भी सम्यग्दृष्टि जीवको शका और भय नही रहता।

**(२२७) परमात्मत्व होनेके निर्णय वाले मार्गके चुननेसे कल्याणदिशामें प्रगति**—बात यह है कि जब तक यह जो मोही जीवोकी लिस्टमे अपना नाम लिखा रखा है तब इसकी यह ही इच्छा जगेगी कि मैं इनमे सरदार कहलाऊँ, मोहियोमे सरदार कहाऊँ। जैसे मूर्खोंका सरदार क्या कहलाता ? महामूर्ख। कही सरदार नाम सुनकर खुश हो जानेकी बात नही है। जब इसने मोही जीवोकी लिस्टमे अपना नाम लिखाया है तो इसको उत्सुकता जगती है कि दुनियामे मेरी कीर्ति रहे। मै आगे कहलाऊँ, तब तक शान्तिका मार्ग न मिल सकेगा। और यदि भगवन्तोकी उम्मीद वाली लिस्टमे अपना नाम चढवा दें मेरेको तो मुक्ति पाना है, मेरेको तो परमात्मस्वरूप पाना है, उस उम्मीदवारीमे हमारा नाम है तो दूसरोको यह प्रकाश मिलेगा कि हमे तो ऐसा जीवनमे चलना है कि जिससे हम रागद्वेषरहित हो, ज्ञानमय बने। मेरेको वह परमात्मस्वरूप प्राप्त हो जिससे संसारके सकट सदाके लिए विदा हो जायें। मेरेको ऐसा पद चाहिये। अगर यह संकल्प बन जाय, ऐसी धुन बन जाय तो मुझे यहाँ तो लोकलिहाजका, यहाँकी बातका, यहाँकी इज्जतका कुछ ख्याल न रहेगा। तो फिर ऐसा होनेपर तो शायद यहांके लोग इज्जत न करेंगे। अरे न करें इज्जत तो न सही, ये कोई भगवान नही है, बल्कि ये तो हमारे फँसनेके कारणभूत हैं। कितनी हिम्मत करनी होती है ज्ञानी जीवको। अपने आत्माके बलपर जो लोकमे विजय प्राप्त कर सकता है। जो दुनियाके आधीन बन जाय उसे क्या कोई विजयी कह सकेगा ? अरे वह तो हार गया। भले ही दुनियाके ये लोग देशके नेता कहलायें अथवा धर्मके ऊपरी नेता कहलाये, जिनका बडा स्वागत होता है, जिनपर बडा खर्चा किया जाता है, एक नेता आया तो उसके पीछे लाखो करोड़ो रुपये तक खर्च कर दिये जाते है। लोगोको लगता है कि यह तो बडे ऊँचे पुरुष है. मगर आत्मा उनकी खोखली है, क्योकि उन्होने मोहियोकी लिस्टमें अपना नाम लिखा रखा है। इनमे मैं सरदार कहाऊँ। अरे भाई अपनेको सोचो कि मैं भगवन्तोके ज्ञानमे भला कहलाऊँ।

अब भगवान तो यहाँ हैं नहीं कि जिनको देख करके चित्तमे यह बात उठे कि मैं भगवानके ज्ञानमे भला कहलाऊँ। लोगोकी दृष्टिमे मैं भला होऊँ अथवा नही, उससे मेरा कोई सुधार बिगाड नही है। लोग यह सोचें कि यहां तो लोग यह सोचते हैं कि लाखो करोडो आदमियो की निगाहमे मैं भला बन जाऊँगा, मगर भगवान कितने हैं ? अनन्त। जितने शुद्ध आत्मा है, जितने सिद्ध हुए हैं, वे सब भगवान है ना ? तो अनन्त भगवानोकी निगाहमे हम झलकें तो ऊँची बात होगी या इन इने-गिने लटोरे खचोरे लोगोमें हम भला कहलायें तो ऊँची बात होगी ? जरा तुलना तो करो।

(२२८) **कष्टसहिष्णुताकी व पारमार्थिक आनन्दके मार्गपर गमनके उमंगकी अभ्यर्थना**—अच्छा दूसरी तुलना और करो। यहांकी रही सही १०–५ वर्षकी जिन्दगीमे हमे आनन्द मिल जाय और वह आनन्द कल्पित हो यह बात अच्छी कहलायगी या अनतानत काल तकके संकट सदाके लिए छूट जायें यह बात भली रहेगी। अगर कुछ इसपर निगाह डालते हैं तो अनन्तकाल तकके लिए मेरे संकट छूट जायेंगे यह बात भली रहेगी। इसके लिए इस रहे सहे ५-७ वर्षके जीवनमे उपसर्ग आये, कष्ट आये तो मैं उनसे छूटनेकी प्रार्थना न करूँगा। कष्ट जितने आते हो आने दो। हम तो ससारके सकटोसे सदाके लिए छूटनेका प्रोग्राम बनाये हुए हैं। ये थोडे संकट आते है तो दिखने वाले ये सकट मेरे लिए कुछ सकट नही है। इन सकटोंसे मत घबडाइये। इन सकटोसे हटनेकी प्रार्थना भगवानसे मत करे, आने दो, उनका भी खेल देखें, भेदविज्ञान बनायें, अपने आत्माको सबसे निराला देखें और यह भी देखते जावो कि क्या कष्ट है, क्या लोगोका बर्ताव है ? मन ही मन खुश रहे। इन संकटोसे मत घबडायें। भगवानसे प्रार्थना यह करें कि सब कष्टोको सहन करनेकी मेरेमे शक्ति बढे। वह शक्ति आती है ज्ञान-बलसे ? कष्टसे हटनेकी प्रार्थना करनेके लिए जैसे कही अमुक क्षेत्रमे जा रहे, कोई किसी तीर्थ-स्थानपर जा रहे, किसलिए जा रहे ? हमारा कष्ट मिट जाय, हमे अमुक चीजकी प्राप्ति हो जाय यह घुड दौड छोड़ दें और ऐसी प्रार्थना करें अपने प्रभुसे अथवा परमात्मासे कि हे प्रभो ! मेरेमे कष्ट सहनेकी शक्ति आये। क्या कष्ट आ गया ? निर्धन हो गए तो आने दो कष्ट, शक्ति बढावें कि वहांपर भी हम धर्म धारण करते हुए, अपनी आत्मसाधना करते हुए प्रसन्न ही प्रसन्न रहा करें। चाहे निर्जन हो गए, परिवारके लोगोका वियोग हो गया तो उसे भी देखते रहे, ज्ञाता द्रष्टा रहें, मैं तो अकेला हू, पूर्ण ज्ञानानन्दमय हू, मेरा क्या बिगाड है ? मैने तो प्रभुताकी लिस्टमे अपना नाम लिखाया है। मुझे यहांकी कुछ नही पडी है, मै तो अब दूसरोकी पंक्तिमे हो गया हू। जैसे कोई किसी पार्टीका मनुष्य है तो उस पार्टीका उत्तरदायित्व तब तक निभाता है जब तक उसमे नाम लिखाये है। जब उससे अलग हुआ तो फिर उसका

क्या लिहाज ? जब उसने प्रभुकी लिस्टमे अपना नाम लिखाया है तो फिर उसे दुनियाकी बातोसे क्या मतलब ? मेरेमे कष्टसहिष्णुता बने और धर्मके लिए अपना तन, मन, धन वचन सब कुछ न्योछावर कर देनेकी उमग बने ।

(२२९) **धर्मनिधिकी परमनिधिरूपता**—भैया, धर्मकी बात समझें कि धर्म किसका नाम है ? ये ऊपरी बातें, ऊपरी जलसे ये धर्म नही कहलाते । धर्म कहलाता है रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । अपने आत्माका सहज स्वरूपमे विश्वास । मैं तो यह ज्ञानानन्दस्वरूप हू, और कुछ नही हू । कोई कितना ही हिलाये, कोई कितना ही बहकाये कितना ही कहे, मगर श्रद्धासे चलित न हो । मैं अमुक चन्द नही, अमुक लाल नही, परिवार वाला नही, गृहस्थ नही, मुनि नही । मैं तो एक ज्ञानानन्दस्वरूप स्वतत्र वस्तु हू, जिसका किसी परसे कोई सम्बन्ध नही । समस्त परसे निराला यह मैं एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मवस्तु हू । उसे श्रद्धामे लीजिए । मेरा ज्ञान बने, बस इसी उपयोगमे बना रहे । यही है रत्नत्रय, यही है सुख शान्तिका, मुक्तिका मार्ग । यही है सकटोसे छूट जानेका मार्ग । यह बात कर लीजिये गुप्त ही गुप्त । यह प्रकट करके नही हो सकता । कुछ लोग कहते है ना कि अपने गुण अपने मुखसे बखानोगे तो हल्के हो जावोगे, फिर वे गुण न रह पायेंगे । उसका रहस्य क्या है ? यही है कि जो मैंने साधना की, जो मेरेमे गुण बने, जो मेरेमे अपने आप चरित्र बनाया, उत्तम चीज प्राप्त की, उसीका अपने मुखसे प्रशसा करने लगे तो देखो हम बाहरमे अधर्म करने लगे तो यह धर्म कहाँ रह गया ? इसलिए कहते हैं कि गुण अपनेमे गुप्त रखो और उन्हे देख देखकर खुश रहो । देखो जैसे किसी गरीबको कोई निधि मिल जाय तो वह उसे एकान्तमे बैठकर उसे खोलकर देखता है, खुश रहता है, इसी प्रकार किसीको यदि धर्मकी निधि मिल जाय, ज्ञानकी निधि मिल जाय, अपने आपको अकेला तकनेकी कुञ्जी मिल जाय तो एकान्तमे समस्त परपदार्थोसे उपयोग हटाकर, अपने आत्मामे अपने उपयोगको रमाकर अपने इस वैभवको देखते रहे, और खुश होते रहे, यह आत्मसाधनाकी बात है ।

(२३०) **धर्मके लिये जीवनकी समझ**—धर्मके लिए अपना जीवन समझिये— बाकी अन्य-अन्य काम तो जैसे होने होगे पुण्य प्रतापसे । जैसे कि पूर्व जन्मकी जो साधना है उसके अनुसार जो कुछ होना होगा सो वह होता रहेगा, उनमे चित्त मत लगावो । वहाँ तो यह निर्णय बनाओ कि जो व्यवस्था जो भी सम्पदा, जो भी पद्धति बननी पड़ेगी-बने, उसमे हम अपनी व्यवस्था बना लेंगे । देखो काम तो इतना ही करना है गृहस्थीमे ऊपरी । थोडा भूख मिटाना है और कुछ कपडे पहिनना है, इसके अतिरिक्त जरूरत क्या होती है ? मगर अन्याय करके, लूट कर या अनेक विकल्प बनाकर किसी तरहसे अपना धन वैभव भरना, यह सब

किस लिए किया जा रहा है ? देखो चक्रवर्ती क्या मेहनत करता है मगर छह खण्डका वैभव उसके पास आ जाता है, तो वह वैभव उसके मेहनत करने से नही आता है, वह तो पूर्वकृत पुण्यकर्मके उदयसे आता है। अपने धर्मकी ओर दृष्टि दें तो सब अच्छा ही अच्छा होगा। और ऐसा करनेके लिए ज्ञानार्जन ही एक मात्र उपाय है, लेकिन अज्ञानमे खाली बैठते हुए अनेक कल्पनायें करते हैं, विकल्प करते हैं। अरे भाई गृहस्थ हो तो धन कमा लो जितना आपका मन करता हो, परन्तु कोई चौबीसो घंटे कमाईका काम थोड़े ही करता है, अरे काम करनेके तो कोई ८–१० घंटे हैं, अब बाकी समय जो गप्प सप्पमे व्यतीत हो जाता है। दूसरोकी निन्दा करने वगैरहके खोटे कार्योंमे व्यतीत हो जाता है तो वह फाल्तू समय बिताने मे इस जीवकी कोई भलाई है क्या ? अरे वह तो पाप बंध किया जा रहा है, मोक्षमार्गके विपरीत चला जा रहा है। वह तो एक कुगतिका रास्ता बन रहा है। तो भाई ये व्यर्थकी बातें मत करो। दो काम हैं मुख्य करनेके एक तो आजीविका का काम करो और दूसरे आत्मकल्याणकी साधना बने। घंटा डेढ़ घंटा प्रतिदिन नियमित रूपसे स्वाध्याय हुए बिना जीवनका जाना यह बिल्कुल बेकार जीवन समझ लीजिये। तो स्वाध्यायमे चिन्तन करें अपने आत्माका और आत्माको एक इस दृष्टिसे देखिये कि सारी दुनियामे जहाँ अनन्तानन्त द्रव्य भरे पडे हैं। अनन्तानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु हैं—एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और एक असंख्यात काल द्रव्य है, इतने अनन्तानन्त पदार्थोंके बीचमे पडा हुआ यह मैं एक आत्मा अकेला ही हूं। इसका दूसरा कोई कुछ भी नही लगता। मैं अपराध करता हूं, भ्रम करता हूं, अज्ञानमे रहता हूं, गलत रास्तेपर चलता हूं और अपने आप दुःखी होता चला जाता हूं। अपने आपके अकेलेपनका भाव करो और निकट भविष्यमे और कुछ विपत्ति हो नही है। मिनट दो मिनटका भी ऐसे भविष्यका चित्रण करो कि शरीर छोड़कर जब मैं चला जाऊँगा, शरीर छोड़कर तो जाना ही पड़ेगा, आंखो देखते ही हैं प्रतिदिन। अनेको लोग प्रतिदिन मरणको प्राप्त होते रहते हैं, अनेको लोगोंको आप लोगोंने जलाया भी होगा। अनेकोकोको राख उठाई होगी, अनेकोकी हड्डी चुनी होगी तिसपर भी यह विश्वास नही है कि हमारी भी एक दिन यही स्थिति होगी। इस शरीरको छोड़कर एक दिन जाना होगा। यहां परपदार्थोंके संचय करनेके लिए जो रातदिन विकल्प बनाये जा रहे हैं वे सब चीजें अन्त मे कुछ मदद न कर सकेंगी। कुछ साथ दे देंगी क्या वे चीजें ? अरे उस मुर्देकी अंगुलीमे अगर अंगूठी बची रह गई होगी तो वह भी उतार ली जायगी, एक सूत भी साथमे न जायगा जरा उस स्थितिका विचार तो करलो। और ऐसा भी विचार लो कि ऐसी स्थिति मान लो कुछ वर्षोंमे आयगी लेकिन यह स्थिति अगर कुछ वर्ष पहिले आ चुकी होती तो क्या आज

हम आप इस शरीरमे इस ढंगसे कहो बैठे हुए नजर आते ? अरे मानलो कुछ दिन पहिले ही मरणको प्राप्त हो गए होते तो फिर यहांका कुछ भी मेरे लिए क्या था ? यहांसे मरकर न जाने कहांसे कहां पैदा हो गए होते । न जाने किस योनिमे होते, न जाने कैसे कैसे कीडा, मकोड़ा आदिकके देहोमे फसे होते, फिर यहांका कुछ भी था क्या हमारे लिए ? अब आज भी हम आपका जो शेष जीवन है वह केवल धर्मकार्योके लिए है ।

(२३१) व्यामोहवश सुखमें धर्मके प्रति उपेक्षा—किसी विपत्तिके आनेपर तो लोग सोचते है कि यदि मैं इस बार इस विपत्तिसे बच गया तो बस धर्म ही धर्म करूँगा, मगर होता क्या है कि ज्यो ही वह विपत्ति (बाधा) टली कि फिर वे धर्मकर्मकी बातको भूल जाते है । एक कथानक है कि कोई आदमी किसी नारियलके पेड़पर चढ़ गया । चढ़नेको तो वह चढ़ गया मगर उतर नही पा रहा था । वह बहुत घबड़ा रहा था । उसे बचनेका कोई आ-सार न दीख रहा था । सो वह सोचने लगा कि यदि मैं इस बार उतर गया तो १०० ब्रा-ह्मण अथवा अनाथोको भोजन कराऊँगा ? समयकी बात कि वह नीचे को खिसकने लगा, आधी दूर तक उतर आया । अब सोचा कि अगर १०० न खिला सका तो ५० को जरूर खिला दूँगा, कुछ और भी नीचे खिसक आया तो सोचा कि ५० को नही तो २५ को जरूर खिला दूँगा, यो हो कुछ और नीचे उतर आने पर सोचा कि १० को जरूर खिला दूँगा । जब वह बिल्कुल ही नीचे उतर आया तो सोचा कि वाह उतरा तो स्वयं अपने आप ही मैं किसीको खिलानेकी क्या बात ? तो ऐसे ही यहां हम आप भी जब कभी बचनेकी उम्मीद नही रहती तो सोचते है कि इस बार यदि बच गया तो फिर खूब मन माना धर्म करूँगा, पर बच जानेपर वह समय निकल जाने पर फिर धर्म धर्मकर्मकी बातको भूल जाते है । तो भाई धर्मके सिवाय किसीका कुछ शरण नही है और अपने आपको अकेला निहार, क्योकि अकेले हो हो, अकेला निहारो और यह जानकर कि धर्मसे ही मेरेको सुख शान्ति हो सकती अन्यसे नही, उस धर्मके लिए, उस ज्ञानार्जनके लिए अपना उत्साह बढावें तो इसमे जीवनकी सफलता है ।

(२३२) निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातन्त्र्यके अपरिचयमे कषायवश कष्टोका भार—दो बातोका समझ लेना आवश्यक है, वे कौन सी बाते है ? एक तो निमित्तनैमित्तिक भाव, दूसरा वस्तुस्वातन्त्र्य अर्थात् जगतमे जो कुछ भी बात उल्टी चल रही है, विभाव, विकार कषाय इच्छा विषय आदिक परिणाम चल रहे है, इनके चलनेमे कर्मोदय निमित्त है और ये नैमित्तिक है अर्थात् कर्मोदयके बिना विकार नही बनते । इसलिए इनमे निमित्तनैमित्तिक भाव है । इनका जो गूढ रहस्य है वह समझ लेना चाहिए और दूसरा है वस्तुस्वातन्त्र्य याने

प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, वह अपनी परिणतिसे ही परिणमता है, कोई दूसरा पदार्थ उसे द्रव्य गुण पर्याय दे नही देता है, इसे कहते हैं वस्तुस्वातन्त्र्य ! इन दोनो बातोको सही समझ लेनेपर शान्तिका मार्ग स्पष्ट हो जाता है । इन्ही दो बातोपर आज कुछ विवेचन करेंगे । बात कुछ कठिन सी भी लगे तो भी उपयोगको केन्द्रित करके बडे ध्यानसे सुनो— यदि कठिन बातको सुननेसे इन्कार ही रहे तो जीवनमे फिर कब सही बातकी समझ आ सकेगी ? ध्यानसे सुनो, सब समझमे आ जायगा । इन दो बातोसे मुख मोडकर अज्ञानी जीवोने अब तक निमित्त कर्ता की बात कही है । जैसे मैं मकान बनाता हू, मैं पालन पोषण करता हू, लोग मुझे सुखी करते हैं, अमुक लोग मुझे दु:खी करते है आदिक कर्तापनकी बात ला दे अथवा सिद्धान्तके सम्बधमे यह सोच लीजिए कि कर्तापनकी बात यो ला दी कि लोग कहते हैं कि कर्म ही सुखी दु:खी करता है, कर्म ही जीवको नचाता है यो कह डालते हैं । जैसे कि मानो कर्म इसपर जबरदस्ती करते हो और यह कुछ न कर पाता हो, इस तरह लोग कर्तृत्वकी बुद्धि लादे है, उससे हटने के लिए उक्त दो बातोको समझ लीजिए । सबसे पहिले आप किस बातको समझना चाहते हैं ।

(२३३) **वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयका लाभ**—हम कभी इसका निर्णय नही कर पाये कि आपको कौनसी बात सुनायें जो आसान पडे और बादमे कौनसी बात सुनायें जो कि कठिन होकर भी आसान पडे और बादमे कौनसी बात सुनायें जो कि कठिन होकर भी आसान लगे । खैर वस्तुस्वातन्त्र्यसे शुरू करें । देखिये जगतमे जितने भी पदार्थ हैं वे स्वयं सत् हैं या किसीने स्वय सत्ता बनाया ? स्वय सत् जो जगतमे है उसको कोई बना नही सकता । तो सभी पदार्थ स्वय सत् है, और जब सत् है तो उनमे यह कला अपने आप पडी हुई है कि यह उत्पाद व्यय निरन्तर करता रहता है, नवीन पर्यायका उत्पाद करे और पुरानी पर्यायको विलीन करे, बस ये सत्के अभिन्न धर्म है । ऐसा करते हुए ही ये सत् रह सकते है कि अपनी नवीन पर्याय बने और पुरानी पर्याय विलीन करे, प्रत्येक सत्मे यह कला पायी जाती है । तो अब देखिये मैं भी सत् हू ना ? हू । तो मेरेमे भी यह कला है कि मैं प्रतिसमय नवीन पर्यायको बनाऊँ और पुरानी पर्यायको विलीन करूँ । पर्यायके मायने दशा । जो स्थिति बनी है उसे कहते हैं पर्याय । तो इस प्रकारकी वस्तुकी स्वतन्त्रता स्वय सिद्ध है ।

(२३४) **निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका लाभ**—वस्तुस्वातन्त्र्य होनेपर यह बात भी समझमे आयगी कि कोई पदार्थ अपनी ओरसे अपने आप अपना ही निमित्त करके बिगडता नही है, यह वस्तुमे समताकी बात, शान्तिकी बात, क्षोभरहितकी बात, स्वभावरूप रहनेकी बात सबमे प्रकृत्या पायी जाती है जैसे कोई स्फटिक मणि है अथवा कांच है तो वह तो सफेद है, अत्यन्त स्वच्छ है । वह कांच अपने आपकी ओरसे अपना ही निमित्त करके रग ॰

बिगड़ा हो रहा है क्या ? वह तो स्फटिक पाषाण अथवा मणि अपने आपकी ओरसे तो अत्यन्त स्वच्छ ही रहती है और निरन्तर जगमगाती हुई केवल अपने आपमें स्वच्छतारूप ही परिणमती रहेगी, लेकिन कोई उपाधि सामने आ जाय तो जिस रंगकी वह उपाधि हो वैसे ही रग रूप उस स्फटिकमे भी छाया, आभा आ जाती है। तो कोई भी पदार्थ अपने आपकी ओरसे मलिन नही होता। तो मैं भी एक उपयोगस्वरूप आत्मा हूं ज्ञानरूप। जिसका जानन निरन्तर काम है। ऐसा जाननस्वभावरूप मैं आत्मा अपने आपकी ओरसे क्रोधी, मानी, कामी आदिक नही बनता, किन्तु जिस-जिस जातिके कर्म उदयमे आते है उस उस प्रकारसे आत्मामे वह छाया पडती रहती है और यह जीव उसे अपना लेता है। देखिये—इस ज्ञानमे दो तरह की बातें आती है—एक तो आश्रयभूत और एक निमित्तभूत। आश्रयभूत तो यो है कि हम यदि बाह्य पदार्थोंको अपने ज्ञानमे लें तो वह आश्रयभूत कहलाता है, मगर कर्मका हम ज्ञान कहाँ करते ? कर्म यहाँ एक क्षेत्रावगाहमे है, उनका हम बोध नही बनाते, किन्तु जब उदय आता है तो वह प्रतिभास तो होता है, किन्तु वह प्रतिभास आश्रयके ढगसे नही होता। निमित्तके ढंगसे होता, एक जडताके रूपसे होता है। तो कर्मका उदय आया उसका आवरण मुझपर पडा, मै उससे आक्रान्त हो गया। तो नाना प्रकारके ये विकार उत्पन्न होते रहते है, तो इन विकारोंका करने वाला मै स्वयं हूँ।

**(२३५) वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भावके एकत्र परिचयमें तथ्यका दर्शन व प्रयोग**—वस्तुस्वातन्त्र्यकी ओरसे देखिये कि निमित्तके सन्निधानमे यह जीव अपनी परिणति से रागी द्वेषी बनता और निमित्तनैमित्तिक भावसे बंधे कर्म अपनेमे रहे, किन्तु उसका निमित्त पाकर जीवमे कषायभाव जग गया। तो इस रहस्यको न समझनेके कारण ऐसा अज्ञान जीवो के बनता रहता है जिसके कारण इसे दुःखी रहना पडता है। कितने ही विकल्प करता है। जैसे ये विकल्प करता है कि अमुक मुझे दुःखी करता है ऐसा सोचनेमे जैसे कष्ट रहता है वैसे ही ऐसा सोचनेमे बडा कष्ट है कि इसने मुझे सुखी किया। भीतरमे आकुलता रहती है चिन्ता रहती है। कितने ही विकल्प उत्पन्न होते है। जब कोई यह मान ले कि मुझे तो लडके ने सुखी किया, पिता ने सुखी किया स्त्री ने सुखी किया, इस प्रकारका मिथ्याभाव जब रहता है तो उस श्रद्धामे भी इस जीवको निरन्तर क्षोभ रहता है और जितने वियोग आदिक के कष्ट उठाने पडते है उनका कारण है यह ही अश्रद्धान। तो जैसे कोई दूसरा मुझे दुःखी करता है ऐसा सोचनेमे कष्ट है इसी प्रकार कोई मुझे सुखी करता है ऐसा सोचनेमे भी कष्ट है। जब यह निर्णय बने कि मैं एक ज्ञानस्वरूप स्वच्छ आत्मा हू, मै अपने आत्माके सही स्वरूपको जानता रहूगा तो मैं आनन्दमे रहूगा और जब मैं अपने स्वरूपकी जानकारीसे चिग

कर कल्पनायें बनाऊँगा तो नियमसे दुःखी होऊँगा।

(२३६) कल्पनावोका फल क्लेश—कल्पनाओंका फल दुःख है। चाहे परसे सुख मानने की कल्पना हो, उसका फल दुःख ही है। जैसे किसी सर्पका नाम साँपनाथ रख लो चाहे नागनाथ रख लो। कही ऐसा नही है कि साँपनाथ कहनेसे तो जिसे काट लेगा वह मर जायगा और नागनाथ कहनेसे न मरेगा, ऐसी बात नही है। नाम चाहे जो धर लो, पर काट लेगा तो मरण हो जायगा, ठीक ऐसे ही चाहे सुख नाम रख लो तो, दुःख नाम रख लो तो, दुःख दोनो ही स्थितियोमे मिलेगा जैसे दुःखमे यह जीव आकुलित रहता है अशान्त रहता है इसी प्रकार सुखमे भी यह जीव आकुलित रहता है, अशान्त रहता है। ये सुख दुःखकी कल्पनायें अज्ञान है। इनसे कोई जीव शान्त नहीं रह सकता। एक शब्द है 'सुन्दर' तो जरा देखो तो सही कि इस सुन्दरका शब्दका क्या अर्थ है? लोग तो कहेगे कि सुन्दरका अर्थ है जो मनको सुहावना लगे पर सुन्दर शब्दका असली अर्थ यह नही है। देखिये सुन्दर शब्दका अर्थ है—जो तडफा तडफा कर मारे। कैसे? देखिये इस सुन्दर शब्दमे ३ शब्द है सु, उन्द और अर। सु उपसर्ग है, उन्द धातु है और अर प्रत्यय लगा हुआ है। उन्द क्लेदने धातु है जिसका अर्थ है क्लेदन करना। क्लेदन करना वह कहलाता है जैसे कि किसीकी खाल छीलकर उसमे नमक छिडक दिया जाय तो जो कष्ट उसमे होता है उस कष्टको क्लेदन कष्ट कहते है। उसमे जीव को बडी पीडा होती है। अब उस उन्द शब्दमे सु शब्द पडा हुआ है जिसका अर्थ है खूब अच्छी तरहसे पूरी तादातसे जो तडफाये, उसे कहते है सुन्दर। यह सुन्दर शब्दका अर्थ है। इसी तरह सुखको भी देख लीजिए। सु का अर्थ है सुहावना और ख मायने इन्द्रिय। जो इन्द्रियको सुहावना लगे सो सुख मगर ये इन्द्रियाँ हमारी बैरी हैं। हम तो सर्वज्ञ स्वभाव वाले हैं, ऐसा ज्ञानप्रताप है कि हम सारे लोकको जान जायें और ऐसा ज्ञान है कि रचमात्र भी दुःख नही हो, लेकिन साथमे ये जो हत्यारी इन्द्रियां लगी हुई है, जिन इन्द्रियोंके वश होकर मुझको नाना कष्ट भोगने पडते है। ये इन्द्रियां विषयोको चाहती हैं, कान राग रागिनी के शब्द सुनना चाहते हैं, आँखें अच्छा रूप देखना चाहती हैं। यो अलंकारमे कह लो कि हैं तो जड मगर इनकी करतूत विचित्र है। तो ये इन्द्रियां अपने इन विषयोमे सुख माना करती है और उनमे ही यह त्रिलोकीनाथ, यह अधिपति, यह सर्वज्ञ स्वभाव वाला, यह परमात्मस्वरूप दुःखी होता रहता है। यह कहानी अपनी खुदकी है। तो जगतके इन पदार्थोंका मोह रच भी न रहे, इन पदार्थोंमे जरा भी लगाव न करे।

(२३७) काल्पनिक कीर्तिके बलनकी कल्पनाका विकट कष्ट—सबसे बडा लगाव इस जीवको होता है तो इज्जत कीर्तिका। मेरी इज्जत रहे, सम्मान रहे, कीर्ति रहे, और लोग

हमसे खुश रहे, मगर यह है महाविष। जिसे कहते है संसारमे रुलना, कष्ट पाना। अहो सम्यग्दर्शनका अभ्युदय हुए बिना इस कीर्तिसे लगाव नही हट सकता। यहाँसे कहाँ पैदा हो गए। हमारी इज्जत कहाँ काम देगी ? जैसे धन काम न देगा मरनेके बाद ऐसे ही यह कीर्ति भी काम न देगी। काम देगा अपने आपका सदाचार अपने आपका श्रद्धान, अपने आपकी सरलता, यह काम देगा। ऐसा श्रद्धान रखते हुए यदि कोई काम होता हो तो उसमे इज्जतका लगाव न रहेगा। मगर जिस इज्जतसे इस जीवको लगाव है उससे तो इस जीवकी बरबादी है।

(२३८) **सहजज्ञानानन्दमय सहजात्मस्वरूपके अतिरिक्त सबकी मेरे लिये असारता**—संसारमे कौन सा ऐसा पदार्थ है जो मेरेको सुखी कर दे, शान्त कर दे ? तब क्या करना ? सब ओरसे आँखे मीचकर अपने आपको निरखना। मैं इतना ही हू, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञान ही मेरा सर्व निधान है। इसके अतिरिक्त मेरा कुछ नही है। अगर परिजनोका, धन वैभव आदिकका लगाव है तो उसमे तो अपनी बरबादी है। मामला तो स्पष्ट है कि इस ज्ञान कलाके द्वारा हम दुखी भी हो सकते है और इस ही ज्ञान कलाके द्वारा हम सुखी भी हो सकते है। अब अपनी अपनी छाँट है कि हम शान्त रहना चाहते है या ससारमे सदाके लिए दुखी रहना चाहते है। अगर दुखी रहना ही पसंद है, यह छाँट आपने किया है तब तो मोह राग-द्वेष सस्ते लग रहे है सो उपाय है ही और यदि अपनेको शान्ति चाहिये है, सदाके लिए जन्म मरणके संकटोसे छुटकारा चाहिए है तो उसका उपाय है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अन्य सब बातें बेकार समझ लीजिए। अरे भाई बेकार कैसे है कोई सोचता होगा ? कुछ धन रहेगा तो हम समाजमें इज्जत पायेंगे, कुछ सातासे बैठ तो सकेंगे। अरे किसे दिखाना चाहते ? स्वयको कितनी आवश्यकता है ? वह तो बहुत अल्प है, लेकिन जितनी आवश्यकतायें बढा दी, जितनी चिन्तायें बढा दी, वह सब दूसरोका लगाव लेकर कर रहे है।

(२३९) **आत्मस्वरूपकी सम्हालमे ही अपनी सम्हाल**—भैया ! किसे दिखाना चाहते कि मैं इज्जतदार रहू ? अरे वे स्वय कर्मके प्रेरे, जगतके ऐसे ही पापी, खोटे विचार वाले, मोही, जन्म मरणका कष्ट सहने वाले, इन कर्मसहित जीवोकी दृष्टिमे आप अपनी इज्जत चाहते है तो यह क्या कोई हितकी बात है ? अरे उसकी अपेक्षा तो यह चाहे कि अनन्त भगवानोके ज्ञानमे मेरी इज्जत रहे। अरे इन इने-गिने कुछ लोगोमे क्यो इज्जतकी बात सोच रहे हो ? ये सब तो व्यर्थकी बाते है, अरे इन मोही मलिन जीवोके बीचमे चाहे कितना ही अपमान हो तो उस अपमानसे इस आत्माका बिगाड़ क्या होता है ? केवल एक अपने आत्माको सम्हाल लिया समझो सब कुछ सम्हल गया। हाँ गृहस्थधर्ममे इतना कर्तव्य तो होता ही है कि भाई ढगसे रहे, कुछ कीर्ति सम्पादन करे, वह भी एक रक्षाकी चीज है लेकिन जो ऊँचे विचार

रखे कि हमे तो कीर्ति मिले तो भले ही कीर्ति मिल जाय, पर उसका आत्मकल्याण नही हो सकता। तो हमे सबसे पहिले दो बातोपर विचार करना चाहिए—वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्त नैमित्तिक भाव। कर्म निमित्त हैं और उस निमित्त सन्निधानमे इस जीवमे काला प्रतिभास आ जाता है। देखो किसी दर्पणपर बहुत तेज काले, पीले अथवा नीले कपडे या कागजकी छाया पढ जाय तो उस दर्पणमे कुछ लगता है ऐसा कि इसमे स्वच्छता ही नही है, अधेरासा लगता है। तो ऐसा ही अधेरा कालापन इस जीवमे आया है तो यह उपयोग जडवत हो गया है। मैं ज्ञानमात्र हू, और यह सब कर्मकी लीला है। कर्मकी लीला सदा न रहेगी मेरा ज्ञानस्वरूप सदा रहेगा। कर्मकी लीला मेरे सुखके लिए नही हुआ करती, किन्तु मेरा ज्ञानस्वरूप मेरी सुख शान्तिके लिए है ऐसा जानकर, कर्मकी लीलाको पर जानकर इससे हटें और अपने ज्ञानस्वरूप इस अन्तस्तत्त्वको अपनायें तो यह सम्यग्ज्ञान अपने आपको एक कल्याणपथमे ले जायगा। यह बात जरा समझनी है कि कर्मका उदय आनेपर आत्मा अपने आपकी परिणतिसे कालिमारूप होकर चिदाभास होकर अपनेको दु.खी किया करता है।

(२४०) **एकमे दूसरेसे बाधाकी अशक्यता**—प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र सत्ता रखती है। किसीका किसीपर अधिकार नही। आप तो जैसी कल्पना बनायेंगे वैसा कष्ट पायेंगे। हम इन कष्टोसे बचें यह हमारा अधिकार है। हम ही अपने कष्टको निवृत्त कर सकते, दूसरा नही। देखो जब सीता जी अर्जिका हो गयी, फिर उनका स्वर्गवास भी हो गया और वह मरकर १६वें स्वर्गमे प्रतीन्द्र बनी। तो अवधिज्ञानसे उस प्रतीन्द्रने सोचा कि श्रीराम मुनि हो गए हैं और वह ज्ञानध्यानमे रत हैं तो ऐसा उपाय करें कि जिससे श्रीराम जल्दी मोक्ष न जावें, अगर हम दोनों एक साथ मोक्ष जावें तो अच्छा है। (देखिये ऐसी दोस्ती लगती तो सरल है, मगर निभ सकती है क्या ? नही निभ सकती।) तो उस प्रतीन्द्रके मनमे आया कि श्रीरामको ध्यानसे डिगा दें, यह अपने ध्यानसे चिग जावें तो इनका मोक्ष अभी रुक जायगा, बादमे हम दोनो एक साथ मोक्ष जायेंगे। तो उस प्रतीन्द्रने श्रीरामको डिगानेका बडा प्रयत्न अनेक प्रकारके हाव-भाव नृत्य आदि दिखाये, सब प्रकारसे रिझानेका प्रयत्न किया, यहां तक कि ऐसा भी दृश्य दिखाया कि रावण सीताके केश पकडकर घसीट रहा है और सीता विलाप करती है—हा राम, हा राम, बचाओ, बचाओ, परन्तु इतनेपर भी श्रीराम रंच भी न डिगे। तो देखिये—न तो कोई किसीको मुक्त कर सकता है और न कोई किसीको संसारी बना सकता है। सब जीव अपने आपकी परिणतिसे सुख दु ख पाते है, कल्याण अकल्याण पाते है। तो बात अन्तमे एक यह समझना होगा कि अपने स्वरूपको देखो। मैं एक हू, अकेला हू। मेरा कोई शरण नही, मेरा कोई साथी नही जो कुछ करना होगा सो मुझे अपने आप

अकेलेको ही करना होगा। ऐसा अपने एकत्वस्वरूपका विचार करें और अपनेको अकेला निरखकर अपने आपको सतुष्ट बनाये। सच बात तो यह है कि एक यह निर्णय बना ले, सच्चा ज्ञानप्रकाश बना लें कि यह धन वैभव, यह इज्जत प्रतिष्ठा, ये परिजन मित्रजन आदि मुझे सुखी नही करते, मैं तो एक अकेला कर्मोसे लदा हुआ एक अपने आपमे कर्मोंको भोग रहा हू, और अपनी कल्पनासे सुख दु'ख पाता रहता हू।

(२७१) **सम्यक् ज्ञानके बलसे कषायोंका परिहार करनेमे ही आत्महितका लाभ**—हित शान्तिमे है और अहित अशान्तिमे है। अशान्त होता है तो यह क्षुब्ध बेचैन रहता है और जब शान्त होता है तो यह प्रसन्न आनन्दमय रहता है। तो यहां यह बात बिचारे कि शान्ति कैसे मिलती है और अशान्ति कैसे होती है? शान्ति होती है कषायके अभावसे क्रोध मान, माया, लोभ ये चारो कषायें न रहे तो इस जीवको शान्ति है। अनुभव भी बताता होगा कि जब किसी पुरुष पर क्रोध किया जा रहा है तो उस समय कितनी अशान्ति रहती है। मान किया जा रहा हो, मायाचार किया जा रहा हो, अथवा लोभ किया जा रहा हो तो उस समय जीवको अशान्ति रहती है। जब कषाय मंद हो तब शान्ति मिलती है, तो ये कषायें कैसे मिटें इसका उपाय जानना चाहिए। कषाय मेटनेका उपाय कोई बाहरी जबरदस्ती नही है। तन, मन, वचनको रोकना यद्यपि एक साधन बताया गया है मगर तन, मन, वचन को रोकने से भी अशान्ति मिटती नही है, उसका मूल उपाय है सम्यग्ज्ञान। अगर वस्तुका सही सही बोध हो जाय तो अशान्ति दूर हो सकती है। बोधमे कैसे अशान्ति दूर होती है। बात यह है कि जब यह जीव किसी पर पदार्थमे लगाव रखता है तब ही कषाय होती है और अशान्ति रहती है। किसीको इष्ट मानना, किसीको अनिष्ट बस सब अशान्तिकी जड यही है कि कोई पदार्थ इष्ट लग रहा है कोई अनिष्ट। किसीको मान लिया कि यह मेरा है, किसी को मान लिया कि यह मेरा विरोधी है, बस परपदार्थोंमे जो यह राग विरोधकी छटनी है, इष्ट अनिष्टकी छटनी है यह ही कहलाता है मिथ्याज्ञान और इस छटनीके आधार पर कषाय और अशान्ति चलती है। ये सब बातें दूर हो सकती है तो सम्यग्ज्ञानसे। जब वस्तुके स्वरूप का ज्ञान किया जायगा तो पता होगा कि ओह मुझ ज्ञानस्वरूप आत्माका तो दुनियामे परमाणुमात्र भी कुछ नही है।

(२४२) **पदार्थोंके साधारणस्वरूपके परिचयमें ही विरक्ति संपादक ज्ञानका प्रकाश**—देखो प्रत्येक पदार्थमे ६ बातें साधारणरूपसे होती है? अस्तित्व जिसके प्रतापसे पदार्थकी सत्ता है। है ना पदार्थ बस इसीको ही हम अस्तित्व शक्तिसे ज्ञान कराते है। तो प्रत्येक पदार्थ चूंकि है तो है। है, इसलिए सिद्ध है कि आत्माका अस्तित्व है, लेकिन है है इतनेमे

पदार्थका परिचय नही होता। पदार्थ है कब रह सकता है कि जब पदार्थ अपनी ही सत्तासे हो और परकी सत्तामे न हो। अगर कोई पदार्थ ऐसा स्वीकार करले कि हमने तो कह दिया कि यह है रहेगा तो हम भी है रहेगे और यह भी है हो जायगा। कुछ कुत्ता बिल्ली अथवा पेड़-पौधे या भीत निवाड सब कुछ हो जायगा तो पदार्थ तो न रहेगा। पदार्थ तब ही है रहता है कि वह वह ही हो, दूसरा कुछ न हो। एक पदार्थकी सत्ता तब है जब कि वह उस ही रूपसे तो है और अन्य पदार्थके रूपसे नही है। अगर यह सबके रूपसे हो जाय तो यह है न रहेगा, इसलिए पदार्थ है और अपने रूपसे है, पररूपसे नही है, इसे कहते हैं वस्तुत्व। वस्तुत्व हो गया, मगर इतनेसे पदार्थकी यात्रा नही चल सकती, वह त्रिकाल नहीं रह सकता। उसका अस्तित्व नही बन सकता। तो वह है, अपने रूपसे है, पररूपसे नही है, ऐसा होनेके बावजूद भी उसमे प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। अगर परिणमन न हो तो कोई पदार्थ है नही हो सकता। जो है वह नियमसे प्रतिसमय परिणमन होता है, मगर उसे हम जानते नही हैं। चूकि है इसलिए परिणमन जरूर है। तो मैं हू, अपने रूपसे हू, पररूपसे नहीं हू, इसलिए निरन्तर परिणमता रहता हू। मैं निरन्तर परिणमता रहता हू। मैं निरन्तर परि-णमता तो रहता हू, लेकिन मैं अपने रूप परिणमू। दूसरे रूप परिणमू, तो क्या काम बन जायगा ? नही। अब मैं न रहा, मेरा अस्तित्व खतम हो जायगा, इसलिए मैं अपने रूपसे ही परिणमता हू, पररूपसे नही, यह व्यवस्था बनती है अगुरुलघुत्व गुणके कारण। इतना होनेके बाद भी अगर इसका कोई ढाचा न होता, उसका कोई आकार न होता, उसका कोई प्रदेश न होता, विस्तार न होता। तो फिर मेरी सत्ता क्या ? तो मैं हू और मेरा कोई विस्तार है। जैसे ऐसा लगता कि मैं सारे देहमे व्याप्त हू, तो इसे कहते हैं प्रदेशवत्व गुण। इतना होने पर भी अगर यह ज्ञानमे नही आया कि अस्तित्व क्या है ? यह ज्ञानमे आता है यह है प्रमेय-त्व गुणका प्रताप। ये छहो बातें प्रत्येक पदार्थमे मिलती है।

**(२४३) असाधारण गुणके परिचयसे परविविक्तताका परिचय**——असाधारण गुणके परिचयने आत्माकी परविविक्तता स्पष्ट होती है। आत्माका असाधारण गुण है चैतन्य। प्रत्येक पदार्थसे निराला हू, ज्ञानस्वरूप हू इसलिए अपनेको ज्ञानस्वरूप परखना है। ऐसा जब जान लिया कि मैं हू, ज्ञानस्वरूप हू, परपदार्थोंसे निराला हू, अकेला हू, अकेला ही यात्रा करता हू, अकेला ही अपना अनुभव करता हू, अकेला ही सुख दुःख भोगता हू। सब कुछ बात तो अकेले अकेलेमे होती है, जहाँ यह बोध हुआ वहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि परपदार्थमे न रहेगी। अब तो घर, स्त्री, पुत्र, भाई, बधु, परिवार, पार्टीके लोग, इनको अपना इष्ट मानते हैं, मगर जहाँ इष्टकी कल्पना उठी तो अज्ञानका ढाँचा बना। जहाँ अज्ञानका ढाँचा बना वहाँ

क्षोभके निरन्तर कारण बनते है। वह जीव शान्त नही रह सकता। तो सम्यग्ज्ञान करना है। सम्यग्ज्ञान कैसे होगा ? सम्यग्ज्ञानका अभ्यास बने, तत्त्वज्ञानका अभ्यास बने यह सब असाधारण गुणके परिचयके आधारपर होगा।

(२४४) निजके स्वभाव व परिणमनविधानका परिचय—इस प्रकरणमें दो बातें समझें। देखो पदार्थको जाननेकी दो किस्में है—एक तो इस तरह जानना कि कोई पदार्थ अपने आप अपनी सत्तासे अपनेमे स्वयं कैसा है, एक तो इस ढंगसे जानना और एक इस ढंगसे कि वे पदार्थ परिणमते हैं तो किस-किस तरह परिणमते है अथवा परके प्रसंगमें निमित्त सन्निधानमें किस किस तरह परिणमते है, वह परिणमन स्वभावके अनुरूप है या स्वभावके विपरीत है, इस तरहकी भी जानकारी की जाती है। तो एक सहजस्वरूपकी जो जानकारी है उसे तो कहते है शुद्धनय और जो सहजस्वरूपके अतिरिक्त अन्य जितनी भी जानकारियाँ हैं उसे कहते हैं अशुद्धनय। शुद्ध नयमे क्या जाना जायगा ? अपने आपके बारेमें कि मैं हूं, इन दो बातोंकी परख कीजिये—शुद्धनय और अशुद्धनय। शुद्धनयसे क्या जाना जायगा ? यह मैं टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकभाव हूं, और अशुद्धनयमे क्या जाना जायगा कि अरहंत परमेष्ठीको दशा, सिद्ध परमेष्ठीकी परिणति, संसारियोंकी परिणति, अज्ञानियोंकी परिणति। परिणतियां सब अशुद्धनयकी आयी। यह बात हम कह रहे है मूलको उठाकर। अशुद्धनयमें भी फर्क है। अशुद्धनय कोई तो स्वभाव वाला है, कोई विभाव वाला, लेकिन एक अपने आत्माके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके मामलेमें सब अशुद्धनय कहलाते हैं। अब इसी बातको···यहाँ शुद्धसे मतलव है अखण्ड और सहजभावसे। और अशुद्धनयसे मतलब है खण्ड एवं असहज भावसे। तो अखण्ड भाव केवल एक मौलिक दृष्टि स्वभाव है, वह तो शुद्धनयका विषय है और एक स्वभावके अतिरिक्त परिणमन कहो, गुण कहो, और और भी भेद बनायें, चाहे स्वभावपर्याय हो, चाहे विभावपर्याय हो, जहां विकल्प उठा, जहां खण्ड हुआ, जहां अंश जाना गया वह सब अशुद्धनय है। इस प्रकरणमे एक बात और समझें कि जहां यह भेद किया जाता है कि तत्त्व ७ हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वोका जानना शुद्धनयसे नही होता है, अशुद्धनयसे होता है। मोक्ष भी अशुद्धनयका विषय है बंध भी अशुद्धनयका विषय है। यहां पर्यायविषयक शुद्ध अशुद्धकी बात नहीं कह रहे कि यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, लेकिन यह बात कह रहे कि जहां भेद किया वह अशुद्ध है, जहां अखण्ड देखा वह शुद्ध है। मोक्ष, इसमें यह बात आयी कि यह जीव पहिले बध दशामें था, उसने कोई सम्वर निर्जराका उपाय बनाया, उससे मोक्षदशा हुई। वह मोक्ष दशा तो कभीसे उत्पन्न हुई, अनादिसे नही है। जो अनादि अनन्त हो, त्रैकालिक हो, सहज हो, निरपेक्ष हो

वह है शुद्धनयका विषय ।

(२४५) **शुद्धनयके आश्रयसे सम्यक्त्वसंभूति**—अब आगे और बढें, जहां यह लिखा है कि जो शुद्धनयका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है । जो भूतार्थका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है, तो इससे बात यह लेना कि अशुद्धनयमे अरहंत और सिद्धपर्याय भी जानी गई । है वह शुद्ध पर्याय । पवित्र है, परमात्माकी पर्याय है, लेकिन उस पर्यायका आश्रय करनेसे आत्मामे अखण्डका परिचय नही होता । उस पर्यायको निरख करके पर्यायके श्रोत अखण्ड स्वभावपर दृष्टि पहुचती है, इतना तो लाभ है, मगर साक्षात् उस अनन्त ज्ञान-पर्यायको ही ज्ञानमे लें तो अखण्ड दशाका परिचय नही बनता । अखण्ड स्थितिका परिचय बनता है ज्ञानस्वभावको ज्ञानमें लेनेसे । यह तो एक बहुत गम्भीर अन्तस्तत्त्वकी बात कही है ।

(२४६) **निश्चय व व्यवहार विधिका वर्णन**—अब जरा और निर्णय करनेके लिए दूसरी पद्धति लीजिए । वर्णन होता है दो ढगोंसे एक तो एक द्रव्यका एक द्रव्यमे एक द्रव्य को ही चीजको निरखनेका । दूसरे दूसरे द्रव्यके सम्बन्धसे होने वाली बातको या सम्पर्कको निरखनेका । एक द्रव्यको एक द्रव्यमें ही देखनेकी पद्धतिको कहते हैं निश्चयनय और सम्पर्क को या एक द्रव्यके सम्बन्धसे दूसरे द्रव्यमे होने वाली बातको कहते हैं व्यवहारनय । अब यह दूसरी पद्धतिसे बात कह रहे हैं, निश्चयनय होता है तीन प्रकारका परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय । परमशुद्धनिश्चयनय तो वह है जो अभी शुद्धनय बताया था । अखण्ड एक अभिन्न, निर्विकल्प स्वभावको ज्ञानमें लेना परमशुद्ध निश्चयनयका विषय है शुद्ध निश्चयनयका विषय है अरहत सिद्ध परमात्माकी पर्यायको जानना । प्रभु अनन्त ज्ञानी हैं, प्रभु अनन्त द्रष्टा है, प्रभु अनन्तवीर्यवान हैं, वीतराग हैं, परमपवित्र हैं, उनकी भक्ति होना, उनके स्वरूपका बोध होना यह कहलाता है शुद्धनिश्चयनयका विषय और ससारी जीवोंकी पर्यायको देखना- यह रागी है, यह द्वेषी है यह कहलाता है अशुद्ध-निश्चयनयका विषय और किसी परद्रव्यका कोई सम्बन्ध लेकर किसी बातको समझना यह कहलाता है व्यवहारनय । यहां तक कि कोई अभी यह कहे कि कर्मका क्षय होनेसे परमात्मा बना है तो यह व्यवहारनयका विषय हो गया । किसी दूसरे द्रव्यका सम्पर्क लगा लेना—जैसे यह जीव रागी है तो यह अशुद्ध निश्चयनयका विषय हो गया । एक ही पदार्थमे देखा, एक मे देखा, चाहे अशुद्ध देखा मगर एकका सम्बन्ध रहे वह है निश्चयनयकी सीमा । जहाँ दो का सम्पर्क बनाया तो वह हो जाता है व्यवहारनयका विषय । तो जीव केवलज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट होता है यह व्यवहारनयका विषय हो गया । क्योंकि उसमे कर्मका नाम ले लिया । लिया है क्षय कह कर मगर एक सम्बन्ध बनाया जब दूसरे पदार्थका प्रभावरूपसे या

सद्भावरूपसे तो वह व्यवहारनय होता है। यह सद्भाव है व्यवहारनय। जीव ओशी होता है कर्मके उदयसे, यह कहना भी व्यवहार है। तो अब निश्चय और व्यवहार इन दो पद्धतियोमें असत्य किसीको न कहा जायगा। सत्य तो सारी बात है, मगर व्यवहारनय कहता है क्या समझानेके लिए, उसका प्रयोजन जानना चाहिए। व्यवहारनय विधि विधान बताता है और निश्चय सीधी एक बातको बताता है। तो विधि विधान क्या गलत है ? कर्मके क्षयसे मुक्ति होती है, कर्मक्षयसे परमात्मा होता है,…यह विधि विधान है। इस विधि विधानको बतलाता है व्यवहारनय और एक वस्तुको दिखाता है निश्चयनय। विधान भी असत्य नही और एक वस्तुके दर्शन होना वह भी असत्य नही।

(२४७) **व्यवहार और निश्चयकी प्रयोजकता**—समय समयपर व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है और निश्चयनय भी प्रयोजनवान है। व्यवहारनय न हो तो समझाना नही हो सकता, अज्ञानियोको कैसे समझाया जाय, ग्रन्थनिर्माण नही हो सकता। न समझने वालोको किस तरह समझायें वहां तो व्यवहारनय ही काम देगा। जैसे कोई संस्कृत भाषाका जानकार पुरुष किसी अंग्रेजी जानने वालेको आशीर्वाद देता है तो कहता है कि स्वस्ति भव। याने तुम्हारा कल्याण हो। पर वह बेचारा समझ न सका, उसने तो कोई गाली जैसा समझा तो झट नाराज हो गया और भला बुरा बकने लगा। अब बताओ उस अंग्रेजको कैसे समझाया जाय ? तो उसका उपाय यही है कि जो पुरुष संस्कृत और अंग्रेजी दोनो भाषायें जानता हो वह पुरुष उसे समझा दे कि देखो इन्होने तुमको ऐसा आशीर्वाद दिया है कि तुम्हारा कल्याण हो। तो उस पुरुषकी बात समझकर वह प्रसन्न हो जायगा। तो यह है व्यवहारनय। इसे व्यवहारनय ही समझायगा निश्चयनय नही। निश्चयनय तो व्यवहारनयसे समझनेके बाद असली बात यह समझाता है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत् है। वह अपने आपमें परिणमता रहता है, उसका किसी अन्य पदार्थसे कोई सम्बंध नहीं। जैसे कुम्हारके हस्तादिकके व्यापारके निमित्तसे घड़ा तो बन गया मगर कुम्हारका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी उस मिट्टीमे तो नही पहुंचा। मिट्टीमे मिट्टीकी परिणतिमे मिट्टीका काम हुआ, कुम्हारमे कुम्हारकी परिणतिसे कुम्हारका काम हुआ, मगर एक ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि वहां घड़ा बन गया। देखिये प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें पूर्ण स्वतत्र है। कोई पदार्थ किसीकी परिणतिसे नही परिणमता। जगतमें जितने भी क्लेश है वे सब मोहसे है। मोह मिटेगा वस्तुकी स्वतंत्रताका परिचय होनेसे। मैं एक आत्मा टकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायक स्वभावमय आत्मा हूं। यह मैं शरीर नही हूं। जब शरीर ही मैं नही हूं तो दुनिया भरके नाते रिस्ते शरीरके आधारसे होते है। दुनिया भरके ये सब झंझट इस शरीरके आधारसे होते है। तो जब यह शरीर मैं हूं ही नही तो फिर ये नाते रिस्ते सम्बध

मेरे कैसे हो सकते है ? ऐसे अखंड एक निर्मल स्वभावको परखनेसे मोह दूर होता है। मोह दूर होगा तो कषाय दूर होगी। कषाय दूर होगी तो अशान्ति दूर होगी। अशान्ति दूर होने का दूसरा उपाय नही।

(२४८) **अन्तःप्रकाशमानकी बहिर्व्यक्तिमें परमरूपताका एक दृष्टान्त**—अब इसीसे सम्बधित तीसरी बात सुनो—यह आत्मा स्वयं शान्तस्वभावी है, स्वयं आनन्दमय है जैसे कि सिद्ध भगवानका स्वभाव है वैसा ही हम आपका है, लेकिन यह स्वभाव आज आवृत है, ढका है, दबा है, विकृत हो रहा है। तब ऐसा उपाय बनाना चाहिए कि हमारा स्वभाव सही प्रकट हो जाय और हम सदाके लिए संकटोसे छूट जायें। ऐसे उपायपर जरा आज विचार करना है कि वह कौनसा उपाय है कि जिससे मैं परमात्मा हो जाऊँ ? उपाय देखिये—अच्छा पहिले यह बतलाओ कि परमात्माकी (अरहत तीर्थंकरकी) जो मूर्ति बनाते हैं पत्थरकी तो वह कैसे बनाई जाती है ? आपने देखा होगा कि एक पाषाण खण्ड कारीगरके सामने रख दिया जाता है और कारीगरसे कह दिया जाता है कि देखो इसमे बाहुबलि स्वामीकी अथवा अन्य कोई मूर्ति बनानी है, तो वह कारीगर उस पाषाणको भली प्रकार देखकर कह देता है—अच्छा बन जायगी। देखो कारीगरको वह मूर्ति उस पाषाणमे ज्ञानद्वारा पहले ही दिख गई तभी तो कह दिया कि अच्छा बन जायगी। नही तो यह बात वह न कह सकता था। अब देखिये उस मूर्तिको प्रकट करनेके लिए वह कारीगर क्या करता है ? क्या उसमे कोई पदार्थ ला लाकर जोडता है ? अरे वह तो छेनी हथौडेसे उस मूर्तिको ढकने वाले बडे-बड़े पाषाण खण्डो को हटाता है। वह तो वहाँ हटाने हटानेका ही काम करता है। लगानेका काम कुछ नही करता। पहिले तो वह बड़े छेनी हथौडेसे बडे आवरणोको हटाता है, उसके बाद दूसरे नम्बर के छेनी हथौडेसे याने कुछ हल्के छेनी हथौडेसे हल्के आवरणोको हटानेका काम करता है। सबसे बादमे अत्यत हल्के छेनी हथौडेसे अत्यन्त हल्के सूक्ष्म आवरणोको हटानेका काम कारीगर करता है। वहाँ वह इतनी सावधानी रखता है कि देखने वाले लोग जानते हैं कि वह तो कुछ काम ही नही करता है। लो हटाने हटानेका ही काम कारीगरने किया, अब वह मूर्ति प्रकट हो गई। सो देखिये कारीगरने उस मूर्तिको प्रकट करनेके लिए कोई दूसरी चीज ला लाकर तो नही जोडा, मूर्ति तो ज्योकी त्यो उस पाषाणखण्डके अन्दर विद्यमान थी। सिर्फ उसको ढकने वाले आवरणोको हटानेका काम किया, वह मूर्ति ज्योकी त्यो प्रकट हो गई।

(२४९) **आत्मामे नित्य अन्तःप्रकाशमान सत्त्वकी बहिर्व्यक्तिमें परमात्मरूपता**—जब भगवानको मूर्ति बननेकी यह पद्धति है तो फिर जो कारीगर याने जो ज्ञानी भव्य पुरुष अपने आपके अन्त. विराजमान परमात्मस्वरूपको प्रकट करना चाहता है उसको भी यही पद्धति

अपनानी होगी। उसने अपने आत्माके स्वरूपकी बात समझा, चेतन पदार्थके सत्त्वकी बात समझा, परमात्माके स्वरूपकी बात समझा तो उसे अपने अन्तः विराजमानका भान हो गया कि हाँ यह मैं परमात्मा हो सकता हूं, बस यही है जीवका सम्यग्दर्शन। सम्यक् मायने भली प्रकारसे दिख जाना, जो सहज चीज है, जो स्वतःसिद्ध है ऐसी वस्तुके दिख जानेका नाम याने ज्ञानद्वारा अनुभव होनेका नाम, समझमें आनेका नाम सम्यग्दर्शन है। यह तो उसका पहिला कदम था। अब इसके आगे क्या कदम बढ़ाता है ? बस वह हटाने हटानेका काम करेगा, लगानेका नही। इस आत्मामें हमें लगाना है सो बात नही, किन्तु हटाना है। तो हटानेका काम क्या छेनी हथौडा करेंगे ? कहांसे लायें ? अरे वह भिन्न छेनी हथौडेसे काम न करेगा, जिसे कहते हैं प्रज्ञा (ज्ञान) की ही छेनी और प्रज्ञाके ही हथौडेसे यह हटायगा परपदार्थोंको। जैसे कारीगरने बड़े-बड़े पत्थर हटाये थे वैसे ही यह विवेकी कारीगर बाहर पडी हुई भिन्न चीजें धन वैभव, मकान, महल, स्त्री पुत्रादिक परिजन, मित्रजन इन सबको वह अपने चित्त से हटायगा। इसके बाद दूसरे कदममें वह राग द्वेषादिक भीतरी कलुषित भावोंके अपनी प्रज्ञा छेनी एवं हथौडेसे हटायगा, इसके बाद तीसरी बार प्रज्ञाकी छेनी हथौड़े द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म विचार विकल्प तरंग, कल्पना आदिकके आवरणोंको बडी सावधानीसे हटायगा। देखिये ज्ञानकी जो छुटपुट जानकारियाँ होती है उनको भी वह अपनी प्रज्ञा छेनी द्वारा हटाता है। ये मैं नही हूं। देखो ज्ञानकी परिणतियों द्वारा ही जान रहा है कि मैं अखण्ड हूँ, शुद्धनयका विषय-भूत हूं, और जिनके द्वारा यह जान रहा है उनसे ही अपनेको अलग कर रहा है, कितना उस का एक भीतरी पुरुषार्थ है कि जिस ज्ञान बलके द्वारा, जिस ज्ञानवृत्तिके द्वारा निर्णय कर रहा है, कि मैं अखण्ड ज्ञायकस्वरूप हूं, उसही साधनको अपने ज्ञानसे अलग कर रहा है कि यह मैं इससे निराला हूं। तो यों ज्ञाह्य पदार्थोंको हटा-हटा करके जो एक अखण्ड शुद्धनयके विषय भूत भूतार्थस्वरूप सहजज्ञानभावका आश्रय लिया और वह आश्रय जरा चिरकाल तक बन जाय तो यह कैसे मालूम होता है वह बात अपने आप होगी। पर पदार्थमे जो होता हो हो, कर्म झड़ेगे, निर्जरा होगी। देह छूटेगा, सदाके लिए वियोग हो जायगा, वे बातें सब अपने आप हो जायेंगी। आप यदि कर्मोंपर दृष्टि देंगे तो बताओ अष्ट कर्मोंको आप किस तरहसे ध्वस्त करोगे ? यदि आप बाहरमे दृष्टि डालेंगे कि मैं ऐसा विचारूँ ऐसा करूँ, तो इससे अष्टकर्मों को ध्वस्त करनेकी बात न बनेगी। तुम तो स्वभावदृष्टिमे निश्चल हो जावो फिर जो होना होगा वह होता रहेगा।

(२५०) निर्ग्रन्थ अवस्थामें ही आत्मपरमसाधनाकी उपपन्नता—एक बात अवश्य है कि स्वभावदृष्टिमें निश्चल होनेके लिए हमे बाहरी साधन इतने बना लेना चाहिए कि बीचमे हमे

विकल्प न सता सकें। तो ऐसा साधन है निर्ग्रन्थ अवस्था। आप लोगोंको तो कही दूकान जाना है, कही और कुछ करना है, यो अनेक विकल्प चलेंगे पर निर्ग्रन्थ अवस्थामे किस बातका विकल्प हो ? यह निर्ग्रन्थ दशा एक साधन है निर्विकल्प होनेका। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष है, जिसने अपना ऐसा लक्ष्य बनाया है कि हमे तो अपना कल्याण करना है वह इस निर्ग्रन्थ दशाका सदुपयोग कर लेगा और जिसने अपना कोई कल्याणका लक्ष्य नही बनाया वह इस निर्ग्रन्थ दशा का सदुपयोग नही कर सकता। इसलिए मूल बात यह है कि जो शुद्धनयका विषयभूत है, अभेदनयका विषयभूत है ऐसा जो एक शुद्ध सहज ज्ञानस्वभाव है उसको दृष्टिमें लें तो अपने आप अपना कल्याण है।

**(२५१) सहजपरमात्मतत्त्वके उपयोगकी महिमा**—हम जो कुछ करते हैं इस उपयोग द्वारा ही करते हैं। तो करना क्या है ? कभी हम इस उपयोगको परपदार्थोंमे महत्त्व देते हैं तो कोई ज्ञानी पुरुष इस उपयोगमे अपने आपके स्वरूपको महत्त्व देते हैं। संक्षेपमे देखें तो सर्वत्र दो बातें मिलेंगी। पहिली है स्वको महत्त्व देनेकी बात और दूसरी है परको महत्त्व देनेकी बात अरे जो जीव परपदार्थोंको महत्त्व देते हैं वे कष्ट पाते है—धन वैभव, सम्पदा, देह, यशप्रतिष्ठा, विचार तरग विकल्प इनको जो महत्त्व देते हैं वे कष्टमे रहते हैं और जो अपने आपके सहजस्वरूप परमात्मतत्त्वको मानते है, उसका आदर करते है, उसकी शरण गहते हैं वे आनन्द तृप्त होते हैं, बस इतनी ही है हम आपके इतिहासकी कहानी। अब जरा विचार करो कि परको महत्त्व देकर, धन सम्पदा, इज्जत प्रतिष्ठा, कुटुम्ब आदिकको बडा मानकर, इनमे लगाव रखकर, इनको शरण समझकर हम कौनसा लाभ पा लेंगे ? बडी गम्भीर दृष्टिसे विचार करनेकी बात है, हम सदा रहने वाले पदार्थ हैं। यह नही है कि जिस मानव पर्यायमे आये हैं उसके बाद हम न रहते हो। अरे जो पदार्थ है वह सदा रहता है, केवल परिणतियाँ बदलती रहती हैं। हम सदा रहने वाले पदार्थ है। अगर इस थोड़ेसे जीवनको व्यर्थकी कल्पनाओमे मौजोमे व्यर्थ ही गवा दिया। तो भला बतलाओ उससे कौनसा लाभ लूट लिया गया ? अरे यहांके ये सुख दु:ख दोनो ही क्षोभसे भरे हुए हैं। प्रत्येक स्थितिमे रागका क्षोभ है या द्वेषका, कोई कल्पनाजाल साथमे लगा हुआ है तो उससे इस आत्माको कोई आनन्द नही है। आत्माका सहज ज्ञाता दृष्टापन है, वही वास्तवमे आनन्दको वस्तु है। तो हमे अपने आपके बारेमें यह विचार करना है, किसीको दिखानेके लिए नही, किसीमे अपना कुछ बनानेके लिए नही, किन्तु अपनेको जगतमे अशरण जानकर, अपने आपके गुप्तस्वरूपको शरण जानकर गुप्त ही गुप्त अपने अन्तस्तत्त्वकी शरण पा लेना यह अपनी दयाके लिए बात है। कोई धर्म करके दूसरेपर एहसान नही डालता। जो दूसरेपर एहसान समझता है, हम मन्दिर आते है, हम

व्यवस्था बनाते हैं, हम समाजमें कुछ धार्मिक विचार करते है तो देखो हमने समाजका कितना उपकार किया है, ऐसी अगर समाजमे ऐहसानकी बुद्धि होती है तो वह धर्मके अनुकूल बात नही है। धर्म करनेमे, अपने स्वभावकी दृष्टि करनेमें, अपने आत्मस्वभावमे मग्न होनेका प्रयत्न करने मे इसमे किसी दूसरेके ऐहसानकी बात ही क्या है ? यह तो खुदकी दयाकी बात है।

(२५२) **बाह्य पदार्थोंके लगावमें आत्माकी बरबादी**—यह जीव अनादिकालसे अब तक बाह्य पदार्थोंको शरण मानता आया, अतः अशरण बनता चला आया। कभी कुछ विवेक किया तो भले ही कुछ भावना बनाया कि इस जीवको कोई शरण नही, कोई शरण नही। बाहर बाहर तो तकता रहा कि मेरेको कुछ भी शरण नही, पर यह न लख पाया कि मेरे को तो यह आत्मा ही शरण है। बाहर कितना ही भटकलें, वे सब पर घर है, पर घरमे, परपदार्थमे अपना कोई कदम स्थापित करे, रहना चाहे तो वह रह नही सकता, भगा दिया जाता है, पर इस जीवकी ऐसी कुटेव है कि प्रत्येक घरसे यह भगाया जाता है फिर भी उन्ही घरोमे यह जाना चाहता है। परपदार्थोंसे हटता रहता है फिर भी पर पदार्थोंमे ही लगना चाहता है। यह इसकी एक कुटेव है। मामला सत्य है। मै केवल उपयोगमात्र हू, केवल ज्ञानस्वरूप हूं, जानना मेरा काम है। पर उपाधि साथमे लगी है इससे मैं कुछका कुछ जान बैठता हूं। वह ठीक नही है। मैं सही जानू, दूसरी बात लगना मेरा काम है चारित्र गुणका यह एक काम है कि यह लगे। अब कहाँ लगे ? परमे लगे, मिथ्या चारित्र, स्वमे लगे यह सम्यक् चारित्र। लगनेकी हममे आदत पडी है। किसी न किसीका विश्वास करे, कुछ जानें और कही न कही रम जायें, यह जीवमे आदत है। तो विवेक यह करना है कि कौन वस्तु हितकारी है उसकी सही आस्था बनाये। कौन सी वस्तुका परिज्ञान मेरेको क्षोभ न कर सकेगा, उसका परिचय बनायें! किस जगह हम रम जायें तो उससे मेरेको शान्ति प्राप्त हो ? उस पदकी सुध ले। यह तो एक विवेकका कार्य है। बाकी जगतमे किसीसे कुछ बडा कहलवा लिया, कुछ यश लूट लियों तो उसमें कोई बल नही, कोई हित नही।

(२५३) **आत्मरमणकी परमधर्मरूपता**—हित चाहते हैं तो आत्माका ज्ञान करें, आत्मा की आस्था बनाये, जो आत्म स्वरूप है उसमें लीन होनेका पौरुष बनाये, यह ही बात सीखने के लिए हमारा जो आवश्यक कार्य है देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। ये केवल यो ही करते रहनेके लिए नही हैं देखो— पूजामे कहा है—तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पदद्वयेलीन। तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः। हे भगवन्! तुम्हारे चरण मेरे हृदयमे रहे, मेरा हृदय तुम्हारे चरणोमें रहे, कब तक ? जब तक कि निर्वाणकी प्राप्ति न

न हो। मोक्ष प्राप्त हो गया, फिर जरूरत क्या है ? तो देखो यह भक्त अभीसे जल रहा है और उससे भगवान बुरा भी नही मानते। जो सच बात है, जो भगवानका उपदेश है उसीकी बात भक्त बोले तो इसमे भक्तका कोई अपराध नही है। हे प्रभो तुम्हारे चरणोंमे हमारा हृदय कब तक रहे, जब तक कि मुझे मुक्तिकी प्राप्ति न हो जाय। देखिये यहाँ कोई किसीको कह तो दे कि हम तो तुमसे तब तक मित्रता करते हैं जब तक कि मेरा यह काम न बने, तो इसका क्या प्रभाव होगा ? अरे वह तो खुदगर्जी कहलायगी। मित्र परेशान हो जायगा। वह खुद समझ जायगा कि यह क्या दोस्ती है ? कोई किसीको ऐसा कहता है क्या कि मैं तुम्हारी तब तक आदर भक्ति करूँगा जब तक कि मेरेको इतने धनकी प्राप्ति न हो जाय ? उसकी यह बात क्या कुछ मतलब रखती है ? लेकिन वस्तुस्वरूपके प्रसंगमे यह बात बिल्कुल सही है और धर्मके अनुकूल है—तुम्हारे चरणोमे मेरी भक्ति तब तक रहे जब तक कि मुक्ति प्राप्त न हो अथवा यह कहो कि जब तक मेरेको निर्विकल्प समाधि न हो निर्विकल्प समाधि हो गई फिर भक्ति रागका काम बन ही कैसे सकेगा ? तो सच बात कही जा रही है। तो व्यवहारमे हमारा कोई शरण है तो पचपरमेष्ठी शरण हैं।

(२५४) **ज्ञानी द्वारा सर्व जीवोंमें सहजात्मस्वरूपका दर्शन**—ये परिजन शरण नही। मोही जन अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ कुर्बान करते हैं अपने परिजनोपर, उनके अतिरिक्त दुनियाके अन्य लोग जैसे मानो उनमे कुछ जान ही न हो, ऐसी घृणा और उपेक्षा की दृष्टिसे देखते हैं, किन्तु ज्ञानी जीव जगतके सब जीवोंमें भगवत्स्वरूपका दर्शन करता है, किसीका बुरा नही मानता। किसीने निन्दा की, किसीने गाली दी तो यह जानता है कि यह तो भगवत्स्वरूप है, इसमे तो कोई अपराध हुआ ही नही करते। यह अपराध तो कर्मकी लीला है। यह बेचारा, यह स्वयं यह अंतस्तत्त्व भगवत्स्वरूप है, इसमे तो अपराधका नाम ही नही, इसमे कोई सतानेकी बात ही नही। यह तो एक ज्ञानस्वरूप आत्मपदार्थ है। लो स्वभावदृष्टि करके, द्रव्यदृष्टि करके ज्ञानी पुरुष वहाँ उस भगवत्स्वरूपके दर्शन करता है, वह दूसरेका बुरा क्या मानेगा ? बुरा मानने वाला अथवा दूसरोको इष्ट समझने वाला पुरुष किसी न किसी राग विकल्पमे अटका रहता है और वह इष्ट अनिष्ट समझता रहता है व्यवहारतः मेरेको शरण है पचपरमेष्ठी और निश्चयत. मेरेको शरण है तो मेरा अपने आपका सहजस्वरूप। मैं हू ना, तो कुछ तो हूं, परकी दया बिना, परके सहारे बिना, परकी अपेक्षा बिना, परके सम्बंध बिना मेरी सत्ता तो है ना खुदमे। यद्यपि मैं अनादिसे अब तक कर्मके साथ चला आ रहा हू, कोई समय ऐसा नही मिला जिसमे कर्मरहित हो गया था, कर्मरहित होकर फिर कर्मसहित नही होता। तो मैं एक समय भी अब तक कर्मरहित न हो पाया। सदा

अनादिसे ये कर्म साथ चले आये, इसपर भी मैं अपने आप अपनेमें सहज स्वरूप अपना स्वतंत्र ही सत्त्व रखता हूं। कर्मकी दयासे मेरी सत्ता नहीं है। भले ही कर्म उपाधिसे इस समय विकारभाव चलते है वैसा जीवन चल रहा है, लेकिन मेरा अस्तित्व कर्मने नही किया। किसीका अस्नित्व कोई दूसरा पदार्थ नही करता। मैं अपने आप जैसा सहज हूं वैसा निरखू तो इसमें सब आनन्द ही आनन्द है। जैसा मैं सहज नही हूं, पर उपाधिमें बात बनती है, और तब हम उस रूप अपना अनुभव करने लगते है, ऐसा ही परभावमें लगता है कि मैं यह हूं तब इसको बड़ी प्रवृत्तियां करनी पड़ती है। और उन प्रवृत्तियोंसे इसे कष्ट सहना पड़ता है। तो वाहरो पदार्थोसे दृष्टि हटे और मैं अपने निजस्वरूपमें आऊँ, बस यही काम पड़ा है करनेको।

(२५५) आत्मतथ्यका निपटारा—देखो तथ्यका निपटारा स्याद्वाद विधिसे हो पायगा। किसी भी विधिका ज्ञान किसी भी दिशामें खड़े होकर किया जा सकता है। जो जिस पदार्थको जिस दिशासे देख रहा है तो जो शक्ल उसकी दृष्टिमें उस दिशामे आयी वह उसे जान रहा है, पर वह पदार्थ उतना मात्र नही है। दूसरी दिशासे देखनेपर दूसरे ढंगका विदित होता है, अन्य दिशाओसे खडा होकर देखनेपर और और ढंगका विदित होता है, सर्व दिशाओंसे देखने पर जो स्वरूप समझमें आया है, पदार्थका सम्पूर्ण स्वरूप वह है। सर्व दिशाओंमे देखकर कहनेकी आदन न होनेके कारण एकान्त पड़ जाता है। जैसे इस ही आत्मतत्त्वके बारेमें विचार करो—यह मैं आत्मा हूं, प्रति समय परिणमता रहता हूं, परिणमता रहूंगा। तो वे सब मेरे परिणमन मेरे ही द्रव्यके हो रहे हैं, दूसरेके परिणमन नही हैं, ये परिणमन अनन्त काल तक होते चले जायेंगे इनको जाना माना अवधिज्ञानीने, सर्वज्ञदेवने, तो जो जाना सो होगा। तो जिस समय जो जाना गया उस समय वह होगा। यह एक किनारे खडे होकर देखनेकी बात है, पर दूसरी बात भी तो देखिये—भगवानने जो जाना है, ठीक है, मगर जो हुआ था, हो रहा है, होगा पदार्थमे वह होनेकी बात है, जो हुआ उसे जाना या जो जाना सो होगा, इसमे अन्तर पडता है। भगवानके ज्ञानका विषय है तीन लोक तीन कालका पदार्थ। तो जैसा वह है, वैसा प्रभुने जाना। अब यह था, होता है, कैसे होगा, उसका विधान है विभाव निमित्त सन्निधानमे, इस आत्माके अशुद्ध परिणमनोसे बनते चले जाते है। निमित्तके अभावमें कोई विकार हो भी सकता क्या? वह उसकी जो विधि है उस ओरसे देखें तो यह विदित होता कि निमित्तके सन्निधानमें ही यह आत्मा अपनी स्वतंत्र परिणतियोसे परिणमता है। स्वतंत्र परिणतिका अर्थ यहां लगावो—किसी दूसरे पदार्थकी परिणतिको ग्रहण न करके स्वयं अपने आपकी परिणतिसे रागद्वेषरूप होता है, मगर रागद्वेष कोई निमित्तके अभावमे बन

सकेंगे क्या ? अगर बन जायें तो वे स्वभाव बन जायेंगे, कभी मिट न सकेंगे । तो देखिये— एक दिशासे देखते है तो क्या दीखा ? दोनोको मान लो—विरोध मत करो। समन्वय समझ लो, यह तो स्याद्वादकी एक बडी देन है ।

**(२५६) वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भावकी व्यवस्था**—उदाहरण लीजिए। लगता है और भी है ऐसा कि विकारभाव होना और कर्मका उदय होना एक ही समयमे होता रहता है । जिस समय कर्मका उदय है उस ही समयमे रागादिक विकार है । एक समयमे दोनो बातें हो रही है तिसपर भी निमित्त किसे कहा गया है ? कर्मोदयको । नैमित्तिक किसे कहा गया है ? रागादिक विकारोको । अब एक साथ होनेपर भी कोई यह बात कहे कि जिस समय रागादिक विकार होते है उस समय कर्मोदय हाजिर होता है । क्या ऐसा नही कह सकते कि जिस समय कर्मोदय होता है उस समय रागादिक विकार होते है ? जब एक ही साथ दोनो चीजें होती हैं तो उनमेसे एकका तो हठ कर लेना कि जिस समय विकार होता है उस समय कर्म हाजिर होते है, ऐसा कहनेमे एक उल्टीसी बात सिद्ध होती है कि राग विकार होना निमित्त है और कर्मोदय होना नैमित्तिक है । यह सिद्धान्तके एकदम विपरीत है । दूसरी बात देखिये—जिस समय कर्मोदय होता है उस समय राग विकार होता है, ऐसा कहनेमे स्पष्ट यह जाहिर होता है कि कर्मोदय निमित्त है, रागादिक विकार नैमित्तिक हैं, जो सिद्धान्तके अनुकूल बात है, जो कर्मोदयका सन्निधान होनेपर राग विकार होनेका भी निमित्तनैमित्तिक भाव है, इतना होनेपर भी इसका परस्परमे कर्तृकर्मभाव नही है अर्थात् कर्मने जीवको रागी बनाया हो ऐसा नही है, बस यह ही तो एक सावधानीकी बात समझनी है कि निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी कर्तृकर्मभाव नही है । कर्तृकर्मभाव एक पदार्थका दूसरेमे न होनेके कारण वस्तुस्वातंत्र्य कहा जाता है, बात सब स्पष्ट है । जो लोग, वस्तुस्वातन्त्र्य मिट जायगा, इस भयसे निमित्तनैमित्तिक भावका खडन करते हूँ उनका ज्ञान अधूरा है, यह तो एक जगतकी व्यवस्था है । सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक भावसे सारे काम हो रहे हैं इतने पर भी प्रत्येक अणु-अणु प्रत्येक जीव अपनी ही परिणतिसे परिणमते चले जाते हैं । कोई पदार्थ दूसरेमे अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नही डालता, कोई पदार्थ किसी दूसरेकी परिणति नही बनाता इसलिए वस्तु स्वतन्त्र ही है ।

**(२५७) परिणमनके आविर्भावकी विधिमे निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर भी परिणमनेमे निरपेक्षता**—एक दृष्टान्त आया है रत्नकरण्डश्रावकाचारमे कि भगवान बिना इच्छा के कैसे दिव्यध्वनि करते है, उपदेश करते हैं ? तो बताया है कि "अनात्मार्थं बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हित । ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरज किमपेक्षते ।" देखिये—दृष्टान्तपर

दृष्टि दीजिये—मृदंग बजाने वाला पुरुष उसके हाथका हुआ स्पर्श मृदंगपर, उस बजाने वाले का हाथ उसके हाथमें ही है, अब वह मृदंग उस हाथका संयोग पाकर अपनी ध्वनि करने लगा। याने जो भाषा वर्गणाके शब्द हैं उन शब्दोरूप परिणमने लगा। तो इस स्थितिमें वे भाषा वर्गणाके शब्द शब्दरूप परिणमनेमे किसकी अपेक्षा करेंगे ? वे शब्द वर्गणायें तो शब्द रूप स्वयं परिणमेगी। यह एक दृष्टान्त दिया है। प्रत्येक जगह यही बात घटा लो। जैसा निमित्तसन्निधान मिला वैसा ही परिणमन उपादानमें अपनी योग्यतासे हुआ। वह किसीकी अपेक्षा नही करता। तो निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्य है। शिक्षा इसमें दोनो विधियोने मिल जाती है। देखिये—मैं वस्तु स्वतंत्र हूं, मै अपनी परिणतिसे परिणमता हू, मेरेको कोई दूसरा परिणमाता नही। मैं भी अपने परिणाम सुधारूँ तो मैं कल्याण पाऊँगा कोई भगवान या कोई मित्र मुझे कल्याण देगा, ऐसा नही है। मै ही अपने भावोका सुधार करूँ तो कल्याण पाऊँगा। वस्तुस्वातंत्र्यसे हमने यह शिक्षा ग्रहण की है। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि मैं अपने आपमे उत्पाद व्यय करता हुआ ही त्रिकाल सत् रह सकता हूं। इस तरह जब देखा कि बात सही है वस्तुस्वातंत्र्यके विज्ञानसे हमे अध्यात्मउन्नतिमें शिक्षा उत्पन्न हुई है। देखो मैं जब जो कुछ करता हू, परपदार्थोंसे हित माननेकी बात करता हूं तो मैं दु.खी हो जाता हूं। तब मैं अपने आपमे केवल ज्ञानका परिणमन कर सकनेमें समर्थ हूं, यह निरखते है बाह्य आश्रयभूत पदार्थका आश्रय करते है, उपयोगमे बाह्य पदार्थ न आने दें उस समय यह शान्तिका पात्र बन जाता है। देखो मैं जिस तरह चलू, जिस तरहका ज्ञान करूँ वैसा ही मै करता चला जाता हू। देखो वस्तुस्वातन्त्र्यसे हमे कितनी बडी प्रेरणा मिली। इस परिचयने मेरी अन्यसे दृष्टि हटा दी और मैं अपने आपके स्वरूपमे मग्न होनेका रास्ता पा गया।

(२५८) **निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे शिक्षा**—अब इसमे निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे क्या शिक्षा मिलती है ? जैसे क्रोध, मान, माया, लोभमे मै मस्त रहता हूं और जिसके प्रसगमे बाह्य पदार्थोंमे लगाव बनाया करता हूं वे सब बातें क्या है ? नैमित्तिक भाव हैं। मेरे स्वरूपकी चीज नही है। कर्मोदयका फल है कि यह आचार्य संतोने उन्हे पौद्‌लिक कहा है, पर परिणाम है, यह मेरा स्वरूप नहीं। यह मेरी चीज नही। मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप हूं। निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे इसने अपने आपको कैसा पृथक् बना लिया। यह क्या है ? इस व्यवहारनयके सदुपयोगका लाभ नही है क्या ? देखिये—कर्म भी अपनी स्थिति अनुभाग लिए हुए रहते है जिस समय कर्म उदयमे आते है उस समय कर्म अपने अनुभागकी लीला खेलते है। वे अचेतन है, वे मेरपर कोई प्रभाव नही डालते। जैसे;

हम राग विकार करके अनुभव किया करते हैं और अपनेको विकृत बना लेते हैं, कर्म भी विकृत बना लेते हैं। उसमे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिककी सब स्थितियां उन कर्मोंमें स्वय पडी हुई हैं, अन्यथा क्रोधप्रकृति नाम किसका पडता ? मिथ्यात्व नाम किसका पडता ? जिस प्रकृतिका नाम क्रोध है उसका क्या अर्थ है कि इस प्रकृतिका क्रोध करनेका अनुभाग पडा है तो वह प्रकृति क्रोध करती रहती है, पर वह चेतन नही है इसलिए अनुभाग नही है। पर अनुभाग नही चल रहा है, इसलिए उस ही एक क्षेत्रावगाहमे, उस ही स्वभावमे पड़े हुएमे उसे चेता, उसे अपनाया, एक यह चेतन है और अनुभव करता है तो अनुभव करनेके कारण इसकी विकट होड हो जाया करती है, तो किस तरह हुए ये नैमित्तिक भाव ? किस तरह यह विडम्बना हुई ? ये निमित्त पाकर हुए, इसलिए ये नैमित्तिक हैं, ये मेरी चीज नही हैं, ये पौद्गलिक हैं। मैं तो एक सहज ज्ञानमात्र हूं।

(२५९) आत्मकल्याणाभिलाषीको सर्वत्र आत्मकल्याणके उपायके दर्शन—देखो जिसे कल्याणकी धुन हुई है उसे सब जगहसे लाभ मिल जाता है, और जिसे कल्याण करने की धुन नही है वह प्रत्येक बातमे विवाद करेगा, अपना पक्ष रखेगा। कल्याण चाहिये, विवाद और पक्ष न चाहिये। कल्याणकी भावना है तो सबका सदुपयोग बना सकते हैं और कोई भी विरोधी नही जच सकता है। सबकी बात हमारे यहाँ सम्भव हो सकती है। देख लिया, जान लिया, सबकी बात छोडनेका उपदेश है। व्यवहार भी छोड़ें, निश्चय भी छोड़ें। कल्पना मात्रको छोडें, आखिर है तो उपयोग यह ही। तो जाननेके प्रसगमे सब दृष्टियोसे जान लें, कल्याणके प्रसगमे सब दृष्टियोको छोड़ दें। अपने आपमें सहज जो परिणति होती है होने दें। वह ही मोक्षमार्गकी बात है। तो एक मोटे रूपमे ऐसा अनुभव करें कि जगतमे मेरेको कोई शरण नही है। बाहरमे किसकी शरण गहू, किसका मुख देखकर ऐसी आशा बनाऊँ कि ये मेरेको सुख देंगे, ये ही मेरे हैं सब कुछ। घरमे जितने जीव है वे उतने ही निराले है जितने निराले ये कीडा मकोडा, पेड पौधे आदिक अन्य जीव हैं। रंच भी तो इनसे सम्बन्ध नही है। बात यह हुई कि आप गृहस्थधर्ममे आये है। गृहस्थोंमे रहकर मिलकर काम करना है जीवनमें। ये भी अच्छी तरहसे जिन्दा रहे हम भी अच्छी तरह जिन्दा रहें। घरके ये ४-६ प्राणी जिन्दा रहे तो वहाँ भी प्रयोजन रहे एक धर्मसाधनाका। वास्तवमे जिन्दा रहनेकी आवश्यकता मगर्म धर्मके लिए। इसलिए राग करना होगा, खटपटें करनी होगी, प्रेमसे रहना होगा, सब बातें करनी होगी, तिसपर भी कोई भी जीव किसीका जरा भी कुछ नही लगता।

(२६०) ज्ञानीका सुसंगत गुजाराके लिये ही प्रेमव्यवहार—कोई एक संस्थाका काम कर रहा है, उस कमेटीमे १०-१२ आदमी हैं। सभी भिन्न-भिन्न जगहोंके लोग हैं। कोई

किसी जिलेका है कोई किसी जिलेका, कोई किसी जातिका है कोई किसी जातिका। वहाँ किसीसे कोई नाता तो नही है, लेकिन एक संस्थामें काम करनेके नाते से वे सब भाई भाई का जैसा व्यवहार करते है। तो उनका वह परस्परका प्रेमव्यवहार एक संस्था चलानेके लिए है, ठीक उसी तरहसे समझ लो— जिस गृहस्थीके बीच आप रह रहे है वह एक कमेटी है। उसके परिवारके अन्दर जितने भी लोग है वे सब उसके मेम्बर हैं। सबका उद्देश्य होना चाहिए एक धर्मसाधनाका। वहाँ कोई किसीका कुछ लगता नही है, वहाँ किसीका कुछ है नही। हाँ एक कमेटीमे रहनेके कारण सब कुछ कार्य वहाँ करने होते है। वहाँ एक यह स्पष्ट दृष्टि हो जाय कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं। इसके अतिरिक्त मेरा कही कुछ नही है। मेरा शरण तो यह ज्ञानस्वरूप स्वयं है। मेरे ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप बना हो, ज्ञानस्वरूप समाया हो तो बस समझ लीजिए कि हम मोक्षमार्गमें चल रहे हैं, हम सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं, हम सिद्ध हो सकते है; हम कर्म काट सकते हैं, हमारा सही कल्याण होता है और ऐसी निज धर्मकी बात, निजधर्मका पालन मोक्षके लिए तो महत्त्वपूर्ण ही है।

(२६१) **शुद्धभावके साथ कर्मविपाकवश रहे सहे शुभरागकी महिमाका लोककी उच्च पदवियोंमें दर्शन**—जब तक संसारमे रहना पडेगा, जब तक मोक्ष न जा सकेंगे तब तक भी जो बड़ी बड़ी पदवियां है—जैसे चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदिककी, वे प्राप्त होती हैं। और और भी जो बडी समृद्धियां होती है वे भी इस धर्मके प्रतापसे प्राप्त होती हैं। इस निज धर्मके पालनके साथ जो रागकी गल्ती रह जाती है उसका यह परिणाम है कि तीर्थंकर, चक्री आदिक होना, तो आखिर यह धर्मका ही तो प्रताप है। अब बतलावो जिस धर्ममहाराजके विधानके कारण रही सही रागकी गल्तीमें भी इतनी इतनी ऊँची पदवियां प्राप्त होती हैं, तब फिर जब कोई गल्ती न रहे तो उसमे एक शाश्वत आनन्दका लाभ होने मे क्या आश्चर्य ? ऐसा जानकर बाहरमे किसी पदार्थको शरण माननेकी बुद्धि न बने। कोई शरण नही है। बाहरमे किसीको सार माननेकी बुद्धि न बनाये, मेरे लिए कोई सार नही है। मेरा जो सहज स्वरूप है जिसके कारण यह मैं सहज प्रतिभासस्वरूप ज्ञानस्वरूप वही मेरा शरण है, वही मेरा सार है, उस परमसार निज अंतस्तत्त्वकी भावनाके लिए अपना तन, मन, धन वचन, प्राण सर्वस्व न्योछावर करके भी अपने आपके सहजज्ञानस्वरूपका प्रकाश पा ले तो समझो कि मैंने सब कुछ पा लिया, इसीसे मेरा कल्याण होगा। तो हम आपको ऐसे अपने अंतः विराजमान प्रभुकी ओर ही उन्मुख होनेका भाव रखना चाहिए।

(२६२) **पदार्थयथार्थविज्ञानका प्रभुत्व**—सभी जीवोकी यह भावना होती है कि दुःख

दूर हों और शान्ति प्राप्त हो। तो यहाँ यह विचार करना है कि सारे उद्यम इसीलिए करते चले आये फिर भी न दुःख दूर हुए, न शान्ति प्राप्त हुई। तो इसका कारण क्या है ? और कौनसा साधन है ऐसा कि जिससे नियमसे दुःख दूर हो और शान्तिकी प्राप्ति हो ? तो बात यह है कि दुःख होता है भ्रमसे। दुःखका कारण है केवल भ्रम, मोह, अज्ञान। जो बात जैसी नहीं है वह उस तरह समझना, यही मूलमें दुःखका कारण है। नियमसे दुःख होगा। यह एक अलग बात चल रही है। देखिये—मोटे रूपसे धन अलग चीज है, मैं आत्मा अलग चीज हूं, पर यह जब भावना हुई कि यह धन मेरा है तो बस इस भावनासे तुरन्त दुःख हुआ। धनकी रक्षा न कर सकनेका विकल्प, उसे छिपाना है, उसे सुरक्षित करना है। कुछ भी बात उसके सम्बन्धमे जीव सोचता हो तो वहाँ बात उसके अनुकूल हो भी, न भी हो, तो वह उसमे दुःख मानता है। तो एक उदाहरणके लिए एक मोटी बात कही। तात्पर्य यह लेना कि जितने भी क्लेश होते है वे सब भ्रमसे होते हैं। और भ्रमका क्लेश मिट सकता है तो भ्रमके नाशसे मिट सकता है। भ्रमका नाश होगा तो वस्तुके स्वरूपके ज्ञानसे होगा। इस कारण जैनसिद्धातमे आचरणकी तपश्चरणकी अन्य सब बातें भी करते है, मगर सबसे अधिक प्रधानता दी है स्वरूपके ज्ञानको। वस्तुका सही सही ज्ञान करे तो शान्ति मिलेगी अन्यथा नही। तो वस्तुस्वरूप क्या है ? छोटे-छोटे बच्चोको पढाया जाता है कि भाई द्रव्य ६ जातिके होते है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो बच्चे थोडा बहुत धर्मपाठशाला मे जाते है तो प्रारम्भमे यह ही पढाया जाता है और लगता है ऐसा कि वह कौनसी पढाई है ? इससे क्या लाभ है ? द्रव्य ६ जातिके हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। और उन बच्चोकी पढाई सुनने वाले लोग सोचते है कि धर्मकी पढाई तो बिलकुल बेकार है, तो उस समय तो लोग सोचते है, लेकिन उसका सही सही ज्ञान हो तो वे सारे दुःखोको दूर कर सके इतना इसके सम्यग्ज्ञानका प्रभाव है।

( २६३ ) सर्व पदार्थोका परिचय कर स्वके परिचयमे लक्ष्यदर्शनकी सुगमता—देखिये—जीव दुनियामे कितने है ? अनन्तानन्त याने जिनका अन्त नही आ सकता। अनेक जीव यहाँसे मोक्ष जाते हैं और वहाँसे वापिस नही आ सकते, तिसपर भी जीव अनन्तानन्त रहते है। यहाँ दिखते हैं पशु पक्षी, मनुष्य आदिक थोडेसे है, लेकिन जो निगोदिया जीव बताये गए है वे एक शरीरमे सिद्धोसे अनन्तगुणे प्रमाण है। अब तक जितने भी भगवान हैं, सिद्ध हुए है, एक शरीरमे रहने वाले अनन्तानन्त निगोदिया जीवके अनन्तवें भाग हैं तो जीव कितने हुए ? अनन्तानन्त। पुद्गल कितने हैं ? उससे अनन्तानन्त। कैसे जाना ? एक जीवके सहारे जैसे कि हम आप एक-एक जीव बैठे हैं। तो एक जीवके आधारमे कितने पुद्-

गल लगे हैं ? जीवको यह शरीर मिला है तो शरीरमें अनन्त परमाणु हैं और साथ ही साथ ये अनन्त विस्रसोपचय शरीरके परमाणु है याने जो शरीर बननेके उम्मीदवार है ऐसे विस्रसोपचय है। उससे भी अनन्तगुणे तैजस शरीरके अणु हैं। उनसे अनन्त गुणे अनन्तानन्त कार्माणवर्गणायें है और उससे अनन्तानंत गुणे ऐसे परमाणु लगे है कि जो कर्मत्वके उम्मीदवार है। फिर दोइन्द्रियादिके भाषावर्गणाके अनंत अणु संज्ञीके मनोवर्गणाके अनन्त अणु। यो जीवसे सम्बंधित एक जीवके सहारेपर ही कितने ही पुद्गल टिके हुए है, तो पुद्गल इससे भी अनन्तगुणे है फिर जीवद्वारा त्यक्त व अन्य पुद्गल भी अनत हैं। धर्मद्रव्य एक, अधर्मद्रव्य एक, आकाशद्रव्य एक और असंख्यात कालद्रव्य। तो इनमे हम जीव, पुद्गलकी आज चर्चा करेंगे। देखिये यह विज्ञानका नियम है कि जो पदार्थ है वह कभी मिटता नही। जो पदार्थ नही है उसका कभी सद्भाव होता नही। तो सब भाई ऐसा अनुभव करते है कि मैं हूं, हूं ना मैं। हू का सबको अनुभव होता। तो जब मैं हूं तो वह कभी मिट नही सकता। अब उसका विचार करें कि मैं क्या हूं ? तो इतनी बात सबके अनुभवमे आयगी कि मै कोई जाननहार पदार्थ हूं। जिसमे समझ बनती है, जानना बनता है—हूँ मैं पदार्थ, तो जो ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमात्र है, ज्ञानमय है वह मैं आत्मा हूं। अब जो केवल ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप लिए हुए हो उस पदार्थमे रूप, रस, गंध, स्पर्श वगैरह नही हुआ करते। रूपादिक पुद्गलमे होते है। जिसमे रूपादिक पाये जायें वह पदार्थ जड़ होता है, वह कभी जाननहार नही होता। तो मैं रूपादिकसे रहित हू, केवलज्ञानमय पदार्थ हूं। तो जो मैं ज्ञानमय पदार्थ हूं वह मैं शरीरसे न्यारा हूं। जैसे लोग कहते है कि जीव चला गया, शरीर रह गया। तो जीव शरीरमे न रुक सका। तो वह जीव मैं ज्ञानमात्र तत्त्व हूं।

(२६४) **प्रत्येक पदार्थकी सहज परिपूर्णता**—यह भी दूसरी बातमे निर्णय करे कि जो भी पदार्थ होता है वह अपने सत्त्वमें पूरा होता है। कोई पदार्थ ऐसा नही है जो अभी आधा ही बन पाया है आधा नही बना। नो यह तो लोग कल्पनासे सोच लेते हैं कि यह अभी आधा ही बना। जैसे किसीने मकान बनवाया तो उसमे कुछ किवाड वगैरह अभी नही लग पाये तो लोग सोचते है कि अभी यह काम अधूरा है। अभी मकान अधूरा है। मगर बात यह है कि अधूरी कोई चीज नही होती। आपने कल्पनामे मान लिया कि ऐसा फर्स्ट क्लास मकान बन जाय तब काम पूरा हो, तो आपके सोचनेके अनुसार काम हुआ नही, इस कारण आप उसे अधूरा कहते है, वस्तुतः तो कोई भी काम अधूरा नही होता। जब जो काम होता है वह पूरा ही होता है। उस मकानका एक एक अणु पूरा है। तो यह मैं हू और पूरा हू।

(२६५) **प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपता**—अब इसी सम्बंधमे तीसरी बात यह जानें कि जो भी पदार्थ होता है वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावस्वरूप होता है। जैसे दृष्टांतमें यह एक चौकी है तो यह चौकी द्रव्यसे कैसी है ? जैसी सामने दिख रही है। जिसे हम पकड़ सकते हैं, जो यह पिण्ड है सो यह चौकी है, तो यह कहलाता है द्रव्यदृष्टिसे चौकीका देखना। क्षेत्रसे चौकी कैसी है ? इसकी लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई या जितना इसका विस्तार है उतनी यह चौकी है, तो क्षेत्रसे कितनी है ? जितनी यह लम्बी चौडी है ? कालसे यह कैसी है कि जैसी यह चौकी है पुरानी नई मजबूत, कमजोर, जैसी यह है, यह है इसका काल। और भाव क्या है ? इस चौकीमे जो शक्ति है, इस चौकीमे जो गुण है यह है चौकीका भाव। आप परिचय जानना चाहेगे तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही परिचय जानेंगे। बात कठिन न बोलेंगे, थोड़ा ध्यान देनेकी बात है सब समझमे आ जायगा। व्यवहार है--जो भी चीज होती है वह पिण्ड रूप है। उसमे कोई लम्बाई चौडाई है, उसकी जो वर्तमान दशा है, अच्छी बुरी रद्दी भद्दी जीर्ण शीर्ण जो भी उसकी दशा है वह होती है और उसमे शक्ति गुण होती है। प्रत्येक पदार्थ मे द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव ये चार चीजें होती हैं। साथ ही यह भी जानना कि जो भी पदार्थ है उसकी जो दशा बनती है वह उसके क्षेत्रमे बनती है और उसके क्षेत्रसे बाहर नही बनती।

(२६६) **प्रत्येक पदार्थका अपने प्रदेशोमे ही परिणमन**—अभी आपके कामकी बात जो कही गई कि भ्रमके नाश होनेसे दुःख दूर होता है और वस्तुस्वरूपके सही परिचयसे दुःख दूर होता है, वही बात ला रहे हैं कि प्रत्येक पदार्थ जो भी अपनी दशा बनायगा, जो भी इसमें परिणति होगी, जो भी इसमे अवस्था बनेगी वह बनेगी उसके ही क्षेत्रमे, उसके ही प्रदेशमे, उससे बाहर न बनेगी। जैसे अंगुली जो कुछ भी करेगी वह अपने ही क्षेत्रमें करेगी, जो भी अगुलीकी बात बनेगी वह उस अंगुलीके प्रदेशमे ही बनेगी, उससे बाहर न बनेगी। तो इसी तरह सब पदार्थोंकी यही बात है कि उस पदार्थका जो भी काम बनेगा वह उस पदार्थके क्षेत्रमे ही बनेगा, उस पदार्थके प्रदेशमे ही बनेगा, उस पदार्थके प्रदेशसे बाहर नही बन सकता। यह वस्तु के स्वरूपका अकाट्य नियम है. हर जगह घटित कर लो। प्रत्येक जगह विचार करनेपर यही बात पायेंगे कि यह वस्तु जो भी बन सकी है वह अपने प्रदेशोमे बन सकी है, प्रदेशोसे बाहर नही। जैसे कारीगरने मकान बनाया, तो लोग कहते हैं कि इस मकानको कारीगरने बनाया, पर यह बात गलत है। कारीगर आप कितनेको मानते हैं ? मानो जितना वह शरीर है, जितना वह पुरुष है उतना कारीगर है तो कारीगरने जो किया होगा वह अपने ही प्रदेशोमे किया होगा याने अपनेमे हाथका चलना, हाथका उठाना आदि समस्त काम वह कारीगर अपने शरीरमें ही करता है, ईंट, मिट्टी आदिकमे वह कुछ नही करता। तब हो कैसे गया है ?

उसे कहते हैं निमित्तनैमित्तिक सम्बंध याने कारीगरने अपने हाथोंमें ही तो काम किया। जैसे
ईंटोंको भीतमे बैठाया तो वहाँ क्या काम किया, हाथको यो चलाया, फिर हाथको यो चलाया,
अब उन हाथोके बीचमें ईंट आ गई और वह पूरी तरहसे धरी गई। इस तरह एक निमित्त-
नैमित्तिक सम्बधसे सब काम हो गया, वह मकान बन गया, लेकिन कारीगरने वह मकान नही
बनाया, कारीगरने तो अपने हाथमें अपने हाथकी क्रिया की। अपने शरीरमे अपनी क्रिया की,
उन ईंट, मिट्टी आदिकमें अपनी कोई क्रिया नही की। उनकी सब कुछ क्रिया उनमें हुई।

**(२५७) जीवके परिणमनका जीवके प्रदेशोंसे बाहर अभाव**——अब यहाँ जीवकी
बात देखो—इस शरीरके अन्दर जो जीव है, जो ज्ञानस्वरूप है वह ज्ञानस्वरूप जीव क्रिया
करता है। पहिले यह जाने कि जो कुछ वह करेगा वह अपने ही क्षेत्रमे और अपने ही प्रदेश
में करेगा याने जीव अन्दरमें जितना फैला हुआ है, जितने प्रदेशोमें उसका विस्तार है, बस
वह अपने प्रदेशोमें ही वह काम करेगा, उससे बाहर काम न करेगा। जीव क्या क्या क्रिया
करता है? जानता है, कल्पनायें करता है, विचार करता है, राग करता, द्वेष करता, मोह
करता, जो कुछ भी करता है वह अपने ही प्रदेशोमे करता है, अपने प्रदेशोंसे बाहर कुछ
नही करता। यह वस्तुके स्वरूपका अकाट्य नियम है। हर जगह देखो——जैसे कोई महिला
खिचडी पका रही है तो वह क्या कर रही है? वह तो अपने हाथमे अपने हाथकी क्रिया
कर रही है, अपने हाथसे बाहर कुछ नही कर रही। अग्निकी क्रिया अग्निमे हो रही है,
चावल दालकी क्रिया चावल दालमे हो रही है, वहाँ सबका अपना अपना अलग अलग
काम अपने आपमे हो रहा है, पर वहाँ कुछ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि सब
काम ठीक चल रहा है। यह बात जब समझमे आयगी तब भ्रम दूर होगा। मैं जीव अपने
मे जो कुछ करता हूं वह अपने प्रदेशोंमे करता हूं, अन्यमे नही, लेकिन अज्ञानी जीवको ऐसा
अहंकार होता है कि मैंने किया। इस अहकारके कारण कोई बात होती है तो परस्परमे
व्यवहार होता है तो आपसमे विवाद होने लगता है, झगडे बन जाते हैं, क्योंकि अहंकार
आया ना चित्तमे कि मैं इस कामको करने वाला हूं। मैंने यह काम कर डाला, मैं न होता
तो यह काम न हो पाता? अरे भले ही निमित्त योगसे होता है
यात्रा, प्रत्येक पदार्थकी परिणति उस ही पदार्थमें होती है, उस पदे
अब आप और भी निर्णय बनायें कि क्या यह सोचना गलत है
हू? हाँ बिल्कुल गलत है। आप पुत्रसे मोह नही करते, वह
क्षेत्रमे है, उससे आपके आत्मामे कोई क्रिया न हो सकेगी। क
तब इस दवा दारूके झझटसे छुट्टी पाऊँ, चित्तमे तो उसके द

उस पुत्रके प्रति आपका राग है, पर मोह नही। इसी तरहसे आप समझिये कि आपके घर के अन्दर रहने वाले समस्त परिजनोंसे आपको राग है पर मोह नही, और यदि आप ऐसा सोचें कि इन स्त्री पुत्रादिक परिजनोसे ही मेरा जीवन है, उनके बिना मेरा क्या जीवन। वे ही मेरे लिए सब कुछ हैं। तो समझिये कि वहांपर मोह है। तो भाई यदि इस मोहको मेटना है, अपनेको संकटोंसे बचाना है तो इस वस्तुके स्वरूपका परिचय पावो और अपने इस दुर्लभ मानव जीवनको सार्थक बनाओ।

॥ सरल आध्यात्मिक प्रवचन समाप्त ॥

## आत्मभक्ति

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे।
तेरी भक्तीमें क्षण जांय सारे ॥टेक॥

ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका इकदम विलय हो।
भ्रांतिका नाश हो, शांतिका वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥१॥

सर्व गतियोंमे रह गतिसे न्यारे, सर्व भावोंमें रह उनसे न्यारे।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाही विरत, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥२॥

सिद्धि जिनने भि अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमे सहाई।
मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥३॥

देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्ययके भेदोंसे पारे।
नित्य अतः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥४॥

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयोमें नित श्रेय तू है।
सहजानन्दीप्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥५॥

# परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, ॐ जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥ टेक ॥ ॐ

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ २ ॥ ॐ

परसम्बंध बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्मका दर्शन, चहुं गति दुखहारी ॥ ३ ॥ ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ

नोट—यह आरती निम्नांकित अवसरोंपर पढ़ी जाती है—

१– मन्दिर आदिमें आरती करनेके समय ।
२– पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्योंमें ।
३– किसी भी समय भक्ति-उमगमें टेकका व किसी छदका पाठ ।
४– सभाओमे बोलकर या बुलवाकर मगलाचरण करना ।
५– यात्रा वंदनामें प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
श्रीमत्सहजानन्द महाराज द्वारा विरचितम्

# सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

॥ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पा, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरसमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात् प्रवहति प्रभुमोक्षमार्गं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दगुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥९॥